हिन्दुस्तानी

त्रैमासिक

[संयुक्ताङ्क]

भाग २७ — अङ्क १-२
जनवरी-जून — सन् १९६६ ई०

प्रधान सम्पादक
बालकृष्ण राव

सहायक सम्पादक
डॉ० सत्यव्रत सिन्हा

मूल्य संयुक्तांक : ५ रुपया — वार्षिक १० रुपये

प्रकाशन तिथि : २६ जुलाई १९६७

हिन्दुस्तानी एकेडेमी,

अनुक्रम

आज की हिन्दी कहानी की ऐतिहासिक वास्तविकता

• नरेश मेहता

द्वितीय विश्वयुद्ध न केवल राजनैतिक दृष्टि से ही महत्वपूर्ण था बल्कि उसका प्रभाव इतना व्यापक था कि उसके कारण हमारा प्राचीन सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं साहित्यिक ढाँचा ही बदली हुई परिस्थितियों में एकदम निरर्थक लगने लगा। जिस राष्ट्रीय अहम् एवं जातीय अहमन्यता की श्रेष्ठता के लिए यह युद्ध आरम्भ किया गया था वह तो विनष्ट हुआ ही, पर उसके साथ ही अनेक प्राचीन संस्कार, परम्पराएँ आदि भी व्यर्थ करार दे दी गयीं। उन दिनों इस युद्ध के तत्काल नतीजे यही स्वीकार किये गये कि संकुचित राष्ट्रीयता पर अन्तर्राष्ट्रीयता की यह विजय हुई है; फ़ासिस्टवाद पर लोकतन्त्रात्मकता एवं साम्यवाद की यह विजय है। उन दिनों के बजाय आज हम भली प्रकार कह सकते हैं कि इस युद्ध के सही निर्णय क्या निकले हैं, पर उसकी चर्चा यहाँ करना विषयान्तर होगा। वैसे तो यह युद्ध हमारी भूमि पर नहीं लड़ा गया था पर आज के युग में युद्धों के प्रभावों से कोई भी नहीं बच सकता। विशेषकर ऐसी स्थिति में तो और भी नहीं जबकि इस युद्ध में हमें अपने लोग सेना में भेजने पड़े। युद्धजनित मँहगाई, विषमताएँ, अफ़रातफ़री भी कमोबेश रूप में हमें वैसी ही भुगतनी पड़ी जैसा कि इंग्लैण्ड या अन्य किसी युद्धरत देश को भुगतनी पड़ी थी। फलतः इस युद्ध के बाद हम सब प्रकार से चौराहे पर दिग्भ्रमित खड़े हुए थे।

द्वितीय विश्वयुद्ध के पहले तक तो स्पष्ट ही साहित्य में एक ऐसी व्यवस्था बनी हुई थी जिसके कारण सामाजिक एवं सांस्कृतिक आदर्श तथा मूल्य उस काल तक के साहित्य में स्पष्टतः परिलक्षित होते हैं। लोकप्रियता के स्थान पर साहित्यकार से गम्भीरता की अपेक्षा की जाती थी। साहित्यिकता और लोकप्रियता के दो खाने घोषित रूप से पृथक् थे। यही हाल हिन्दी की तत्कालीन कहानी, कहानीकार एवं कहानी के पत्रों का भी था। वस्तुतः उस काल की साहित्यिक कहानी तथा लोकप्रिय कहानी में इतनी बड़ी खाई नहीं थी जितनी कि आज है। यह माना जाता था कि साहित्य से या कहानी से मनोरंजन हो सकता है लेकिन आज की तरह तब उसके लिए ऐसी कोई प्रतिबद्धता नहीं थी। कहना न होगा कि उस काल में लोकप्रियता के स्थान पर साहित्यिकता का स्वर ही प्रधान था। उस काल का पाठक वर्ग भी साहित्य से यह नहीं माँग करता था कि साहित्य को उसके लिए होना चाहिए, बल्कि युग की मान्यता थी कि पाठक को स्वयं साहित्य के स्तर के अनुकूल

[illegible]ना चाहिए क्योंकि उस युग में साहित्य मनोरंजन न [illegible]
रूप में लिया जाता था। फलतः लेखक का दर्जा एक [illegible] इसी प्रकार था
जिस प्रकार किसी अन्य सामाजिक या राजनैतिक व्यक्ति का हुआ करता है। लेखक भी
समाज के अन्य विशपुरुषों की भाँति सम्मानित था। लेकिन लेखक, पाठक तथा साहित्य का
यह वर्तमान वैषम्य इस दूसरे महायुद्ध [illegible] इन परिस्थितियों को हमें
ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखना होगा।

आज की हिन्दी कहानी, कहानीकार तथा पाठक वर्ग जिस ऐतिहासिक [illegible] की
उपज है उसे हम कितने ही संक्षेप में क्यों न देखें, तब भी [illegible] वाले
कहानीकारों तथा सामाजिक अकेलेपन में भटके पाठकवर्ग की स्थितिहीनता को समझना होगा।
साथ ही आधुनिकता के नाम पर वैज्ञानिक-प्रभुता समाप्त 'व्यक्ति-[illegible]' अर्थात् [illegible]
निजी वातावरण वाली कहानियों की महत्ता समझने के लिए उस परिपार्श्व को देखना
होगा जिसकी ये उपज हैं। तभी हम इन कहानियों एवं कहानीकारों तथा उनके [illegible]
पाठकों के नये भाव-बोध, सौन्दर्य-बोध को सही तरह से समझ सकेंगे। ये लोग [illegible]
कहें कि हम किसी परम्परा से संयुक्त नहीं हैं, हमारा कोई [illegible] नहीं है, हम ही अपने
जनक एवं सन्तति हैं, पर इसे मात्र [illegible] मानना होगा, क्योंकि बिना अतीत के वर्तमान न
कभी था और न सम्भव ही है।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

वे दिन आप को याद होंगे जब हाट-बाजार, मेले-ठेलों में रंगरूटों की भरती के लिए
सरकारी आदमी नाप-जोख वाला डण्डा लिये घूमा करते थे और देहातियों, [illegible] को
जबरन पकड़ कर उनके सीने, ऊँचाई आदि की जाँच किया करते थे। और हाट-बाजार गया
वह देहाती एक दिन सहसा वर्दी पहना कर लाम पर भेज दिया जाता था। लाम पर गये
इन अर्धशिक्षित सैनिकों के लिए रोमांचक एवं कामुक कहानियों की थोक आवश्यकता पहली
बार साहित्य के सामने आयी। इस थोक 'लोकप्रियता' की आवश्यकता की पूर्ति कोई भी
साहित्यकार नहीं कर सकता था, फलतः लेखकों का एक ऐसा नया सम्प्रदाय पैदा हुआ जो
किसी भी भाषा और साहित्य की परम्परा से सम्बद्ध नहीं था। शायद इन 'लोकप्रिय'
पत्रिकाओं के मालिकों को ऐसे ही व्यक्तियों की आवश्यकता भी थी, क्योंकि वे स्वयं भी किसी
भाषा या साहित्य की परम्परा के नहीं थे। उन्हें व्यापार करना था और शुद्ध साहित्यकार
उसमें बाधक ही हो सकता था। फलतः उसे भी अपने जैसे ही परम्पराहीन लेखकों की
आवश्यकता थी। हजारों की संख्या में छपने वाली इन व्यावसायिक एवं सस्ती पत्रिकाओं ने
न केवल मार्केट ही छा लिया बल्कि उनके रात-दिन के अपने प्रचार का नतीजा यह निकला
कि कालान्तर में ये पत्रिकाएँ ही तथा उनमें छपने वाले लेखक ही वास्तविक 'लोकप्रिय'
लेखक कहलाये जाने लगे। इनसे भिन्न कहानीकारों को 'साहित्यिक कहानीकार' कह कर
पंक्तिच्युत किया गया। कहानी के क्षेत्र में हम 'लोकप्रियता' संज्ञा से [illegible]।
अधिकाश पाठकों के लिए आज भी लोकप्रियता [illegible]

यह हुआ कि पाठकों का स्तर ऊँचा उठाने के बजाय लेखकों को द्राविड़-प्राणायाम करना पड़ा। उस लोकप्रियता के नाम पर वर्णसङ्कर, परम्पराहीन, मूल्यहीन, उच्च भावबोधहीन लेखकों एवं साहित्य की एक ऐसी जमात सामने आयी जिसने उस काल तक चले आते साहित्यिकता एवं लोकप्रियता के सन्तुलन को सदा के लिए नष्ट कर दिया। इस युद्ध ने जहाँ एक ओर ऐसी वर्णसङ्कर, मूल्यहीन, अनुत्तरदायी कहानी एवं कहानीकार उत्पन्न किये, वहाँ उसने सामाजिक अकेलेपनवाला ऐसा नया समाज भी पैदा किया जो निरा व्यक्ति था। कल तक के समाज एवं साहित्य के सारे आदर्श एवं मूल्य इन्हें अपनी शक्ति के स्रोत नहीं सा लगे हुए बल्कि इन्हें लगा कि उनके निरंकुश व्यक्तित्व के विकास में ये आधारभूत बाधक हैं। इसलिए उन मूल्यों और आदर्शों का खण्डन और विरोध करना इन लोगों के लिए एक आवश्यक शर्त हो गयी। यह निरा व्यक्ति, शताब्दियों से चली आती कौटुम्बिक प्रणाली पर युद्ध द्वारा किया गया प्रमुख एवं निर्णायक प्रहार था। आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं पारिवारिक धरातल पर इस निरे व्यक्ति का तथाकथित आधुनिक भाव-बोध अथवा क्रान्तिकारी दर्शन इस रूप में सामने आया कि उसके अपने निर्माण में परिवार, कुटुम्ब, राष्ट्र, इतिहास, और परम्परा किसी का भी कोई हाथ नहीं है; इसलिए उसके अर्जन में परिवार के किसी अन्य व्यक्ति की कोई साझेदारी नहीं हो सकती है। विवाह जैसी चीज भी अब उसके लिए संस्कार न होकर एक सुविधापूर्ण 'कांट्रैक्ट' ही बन गया। फलतः पति-पत्नी की एकता में भी दरार पड़ गयी। इस निरे व्यक्ति ने अपने समाज, कुटुम्ब एवं परिवार से छिटक कर आर्थिक व्यक्ति-सत्ता तो अवश्य प्राप्त करली लेकिन एक नये प्रकार का भय, समाज के सन्दर्भ मे आत्मरक्षा की भावना तथा अपनी ही इच्छा एवं स्वार्थ को इतना सर्वोपरि एवं महत्वपूर्ण बना डाला कि किसी भी प्रकार का दर्शन, राजनैतिक व्यवस्था, आर्थिक ढाँचे, सांस्कृतिक परम्परा तथा नैतिक स्वरूप को उस निरे व्यक्ति ने अर्थ पर आधारित अपनी नवार्जित आधुनिक वैयक्तिकता पर सीधा-सीधा आक्रमण माना और जिसका विरोध उसने वैयक्तिक स्वतन्त्रता की रक्षा के नाम पर किया। हर दूसरा व्यक्ति समाज है, और समाज व्यक्ति की स्वतन्त्रता का विरोधी होता ही है, इस मान्यता ने उसे एक ऐसे द्वीप पर ले जाकर खड़ा कर दिया कि उसे निकट से निकट सम्बन्धी के प्रति अविश्वास, संशय होने लगा। ऐसी स्थिति में यही होना था कि मूल्य, दर्शन एवं नैतिकता में वह निराला व्यक्ति केवल निरंकुशता का हामी बनता। समाज उसके लिए आर्थिक शोषण का जरिया है, नारी उसके उद्दाम भोग की वस्तु है। ऐसी मनोरचना वाले निरे व्यक्ति की स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद के ऐतिहासिक घटनाक्रम में भी भली भाँति देखा जा सकता है।

बीसवीं शती के आरम्भिक पचास वर्ष भारतीय जीवन की सारी गतिविधि को स्वाधीनता पर केन्द्रित किये हुए थे। स्वाधीनता प्राप्ति ही वह बिन्दु था जिस पर हमारा मनस्, चेतना, जीवन, आशा, आकांक्षा एकजुट हो कर केन्द्रीभूत थीं, पर स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद क्रमशः हमारे तथाकथित जननायकों की जो कलई खुलती गयी उसने इस सामाजिक अकेलेपन वाले निरे व्यक्ति के निर्माण में महत्वपूर्ण योगदान दिया। आजादी के बाद इन नेताओं एवं ज[illegible] की स्वी कुण्ठा शोषण की मनोवृत्ति जिस रूप

में सामने आयी उसके कारण पूरा राष्ट्र एक बार फिर अपने को अन्धकार में पाने लगा। लगा कि स्वाधीनता संग्राम के दिनों के अमर शहीदों की आहुतियाँ कोटि कोटि साधारण जनों की यातनाएँ इन जननायकों ने शासन सम्हालते ही भुला दिया। साम्प्रदायिक दंगे, मुस्लिम हठवादिता, देश का विभाजन, गांधी जी की हत्या, विस्थापितों की समस्या, कांग्रेसी शासन का भाई-भतीजावाद, उत्तरोत्तर मँहगाई, योजनाओं की कागजी प्रगति, अन्तर्राष्ट्रीयता के नाम पर हर राष्ट्रीयता का गला घोंटा जाना आदि अनेकानेक वे कटु वास्तविकताएं सामने आईं जो हमारे राष्ट्रीय मनस्, आशा-आकांक्षाओं को कुचलती चली गयीं। पचास से अधिक वर्ष के संग्राम एवं प्रतीक्षा के बाद आजादी का जो यह रूप सामने आया और उसके कारण साधारण जीवन में जिस निरंकुशता का बोलबाला हुआ, उसने ही हमारे राष्ट्रीय जीवन को छिन्न-भिन्न कर दिया। देश की राष्ट्रीय सरकार ने कहने को तो प्रगतिशील कार्यक्रमों एवं क्रान्तिकारी समाजवादी उद्देश्यों को अपनाया, पर उन्हें पूरा करने की दिशा में जिस प्रशासनिक जागरूकता एवं संकल्प की आवश्यकता थी, वह किसी भी स्तर पर नहीं देखी गयी। फलतः नतीजा यह हुआ कि कल तक जो शासनवर्ग अंग्रेजों का भक्त था, वही आज कांग्रेसी प्रशासकवर्ग का सेवक बन गया। उस सरकारी कर्मचारी का न पहले ही जनता से कोई सम्बन्ध था और न उसे अब ही इसकी कोई आवश्यकता हुई। इसलिए देश की साधारण जनता की राजनैतिक चेतना को भारी धक्का पहुँचा। हमारे जननायकों की अनुत्तरदायी राजनैतिक नपुंसक उदारता का नतीजा यह हुआ कि समाज में एक ऐसी निर्जीव एवं निर्वीर्य पीढ़ी पैदा हुई जो न देश, न राष्ट्रीयता, न दीन, न ईमान, न स्वभाषा और न इतिहास, किसी के प्रति भी कोई नैतिक जिम्मेदारी अनुभव ही नहीं करती। उसे जैसे घुट्टी में ही इस देश की हर चीज से घृणा करना सिखाया गया हो। भला, ऐसी पीढ़ी से भारतीय आदर्शों के प्रति आस्था की आशा करना निरी मूर्खता होती है! इस दिशाहीन राष्ट्रीय संक्रान्ति में यदि यह नयी पीढ़ी कमर में जीन्स, ओठों पर "एल्वुलबदन" से युक्त हो तो आश्चर्य नहीं किया जाना चाहिए। हमारे राष्ट्रीय शहीदों के बलिदान की राख पर "हुल्लड़" करती हुई निरे व्यक्तियों की इस नयी पीढ़ी का निर्माण सस्ती कामुक पत्रिकाओं एवं बम्बइया हिन्दी फिल्मों ने किया है। ये लोग तब निश्चय ही फिल्म की पापुलर हीरोइन से लेकर पापुलर क्रिकेट खिलाड़ी, पापुलर जननायक तथा पापुलर लेखक ही चाहेंगे। जीवन में जिस प्रकार समाज उन्हें मूर्त विरोधी मालूम होता है, उसी तरह साहित्य में उन्हें 'क्लासिक' दिखलायी देते हैं। ब्लैक मार्केट तथा मँहगाई से कमाये हुए नाजायज पैसे का नतीजा आज यह है कि रात-दिन 'फुल-ओटेड' लाउड-स्पीकरों के शोरों तथा ट्रांजिस्टरों को लटकाये ये निरंकुश निरे व्यक्ति इस बात की चुनौती है कि देखें, आप उन्हें कैसे अपने इतिहास, सांस्कृतिक परम्परा तथा सामाजिक व्यवस्था से सम्बद्ध करते हैं। इनके पास न तो कोई अपना ही कार्यक्रम है और न ही शासन तथा समाज की ओर से इन्हें कोई रचनात्मक दृष्टि देने की चेष्टा की जा रही है। इसका नतीजा यह है कि सामाजिक, राजनैतिक एवं साहित्यिक स्तर पर आज जिस प्रकार का संक्रमण है, वैसा शायद ही कभी विगत में रहा हो। यह तो संस्कृतियों के संक्रमण का काल नहीं है बल्कि

हमारी शताब्दियों पूर्व से चली आती संस्कृति को इस युग में आकर पश्चिम ने पूरी तरह पराजित करने की अन्तिम योजना बनायी है। इस सङ्घर्ष के अन्य पक्षों जैसे धार्मिक, सामाजिक तथा राजनैतिक दबावों पर जाना विषयान्तर होगा, पर इस संक्रमण को अच्छी तरह जानने के लिए उनको जानना भी आवश्यक है। इस सन्दर्भ में मैं केवल यही सङ्केत कर सकता हूँ कि इस देश में मिशनरियों का रोल, अंग्रेजी को सदा के लिए स्थापित किये जाने का प्रयास आदि बातें समझनी होंगी। तभी आज के भारतीय जीवन के विघटन के व्यापक विस्तार तथा उसके भयानक नतीजे समझे जा सकते हैं। किस प्रकार हमारी कला, उद्योग-धन्धे, जीवन की पद्धति आदि को चुनौती दिया गया है, इसको बिना समझे कभी भी इस समस्या की गम्भीरता को नहीं समझा जा सकता है। यह केवल कहानी के नये शिल्प या नये विषय का ही प्रश्न नहीं है, वरन् दो जीवन-दृष्टियों के सङ्घर्ष का प्रश्न है जिसमें लेखक को भी पक्ष चुनना होता है। वह कौन सा चुनता है, इसी बात पर साहित्य का भविष्य निर्भर करता है।

प्रगतिवाद का सन्दर्भ

इस राजनैतिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक पृष्ठभूमि के समानान्तर साहित्य में प्रगतिवादी आन्दोलन का आना अत्यन्त ही महत्वपूर्ण था। इस साहित्यिक वाद की भी मोटी रूपरेखा ही प्रस्तुत कर सकना इस लेख में सम्भव होगा। भारतीय स्वाधीनता संग्राम केवल राजनैतिक आन्दोलन मात्र नहीं था। जैसा कि हम जानते है, इसकी एक शाखा धर्म और दर्शन के क्षेत्र में भी कार्य कर रही थी। स्वामी दयानन्द सरस्वती, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, रामतीर्थ आदि महापुरुष १९वीं शती में भारत में तथा भारत के बाहर भी यह प्रस्थापित करना चाहते थे कि भारतवर्ष चाहे अंग्रेजों की राजनैतिक दासता में हो, पर वस्तुतः भारत आज भी सारे विश्व को धर्म और दर्शन के मामले में सिखा सकता है। वास्तव में राष्ट्रीय पुनर्जागरण की जो वैतालिक-वाणी इन सन्तों ने उच्चरित की थी, उसी को राजनीति में तिलक महाराज एवं गाँधीजी ने एक आन्दोलन के रूप में प्रस्फुटित किया। रवीन्द्र, वल्लातोल, भारती, शरत्, प्रसाद, प्रेमचन्द तथा निराला जैसे साहित्यिक दिग्गजों ने इस भूमि के जनमानस को केन्द्र बनाकर इसी वैतालिकता को वही गरिमा दी जो किसी भी स्वतन्त्र राष्ट्र के इतिहास, दर्शन तथा जनमानस को वहाँ के लेखक दिया करते हैं। फलतः हमें अपने इतिहास में यह काल पुनर्जागरण का लगता है। हमने पश्चिम के प्रत्येक दबाव का जवाब हर क्षेत्र में दिया। हमें इस काल में यह नहीं बोध हुआ कि हम एक राष्ट्र के रूप में किसी भी विदेशी या पश्चिमी राष्ट्र से किसी भी मामले में हेय हैं। विज्ञान के क्षेत्र में भी आचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय, जगदीशचन्द्र बसु जैसे व्यक्ति उत्पन्न हुए। उन दिनों को देखने पर लगता है कि भारत पराधीन नहीं था। एक साथ ही सभी क्षेत्रों में पश्चिम से टक्कर लेने वाले विद्वान् मौजूद थे। इन विद्वानों एवं मनीषियों के उद्योगों एवं राष्ट्रीय चेतना को उद्बुद्ध करने वाले प्रयत्नों का ही परिणाम है कि आज हम स्वतन्त्र है। किन्तु आज की हमारी राष्ट्रीय मनःस्थिति ठीक इसके विपरीत है। साहित्य में इस विघटनकारी मनोवृत्ति का आंशिक श्रेय प्रगतिवाद [illegible] का है प्रगतिशील [illegible] तत्वत साहित्यिक आन्दोलन न

को धूम-धूमरित करने वाले इस नये गजनवी के सामने साहित्यिक एवं राजनैतिक क्षेत्र के पण्डे-पुजारी लाख चिरौरियाँ करते रहे कि इसका प्रभाव लोगों पर बुरा पड़ेगा, पर कुछ नहीं हुआ। लोगों से पण्डों ने कहा कि देखना एक दिन यही मूर्ति फिर शङ्ख-चक्र-गदा-पद्म धारण करेगी, अवतार होकर रहेगा, अतएव तब तक के लिए हे भक्त जनो! धैर्य धारण करो। मगर तमाशा तो आखिरकार तमाशा ही था, दुबारा नहीं जमा तो नहीं ही जमा। यदि यह रूपक अतिरिक्त कड़वा हो गया हो तो मैं उन सब महानुभावों से क्षमा याचना करता हूँ जिन्हें अभी भी उस अवतार के अवतरित होने में धार्मिकों का सा ही विश्वास है। जो हो, मेरा विश्वास यह है कि प्रगतिवादी आन्दोलन के समय इसके आधारभूत मानवीय सिद्धान्तों का उतना व्यापक प्रचार नहीं हुआ जितना कि उसकी साहित्यिक समाप्ति पर हुआ। इसका कारण यह था कि उस समय इस आन्दोलन के अपने तथा इसके विरोधियों के अपने आग्रह एवं दुराग्रह आदि थे। साथ ही इसके सिद्धान्तों को उन दिनों जिन ऐतिहासिक विषमताओं का सामना करना पड़ा, वह सब बाद की बदली हुई परिस्थितियों में नहीं हुआ। आज की व्यवधानहीन स्थिति में न केवल व्यक्तियों का आदान-प्रदान बल्कि विचारों का आदान-प्रदान भी अधिक क्षिप्रता से हुआ करता है। ऐतिहासिक सन्दर्भ बदल जाने पर बहुत-सी बातें अपने आप बदल जाया करती हैं। जब अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में उस सीमा का विरोध नहीं रहा, तब भला साहित्य में उसी पुराणपंथिता का निबाह कैसे सम्भव हो सकता था? मानव प्रायः घूम-फिर कर इसी निष्कर्ष पर आज तक पहुँचता रहा है कि सब कुछ नया ही श्रेष्ठ नहीं होता और न ही सब प्राचीन त्यागने योग्य।

यहाँ यह नहीं भूलना चाहिए कि प्रगतिवादी आन्दोलन के सामाजिक दृष्टिकोण एवं यथार्थवादी सिद्धान्तों में एक ऐसी विराट् मानवीय भावना निहित थी जो प्रत्येक भावुक मन को, उसकी रागात्मिका को, मर्म को छू जाती थी। जिस मानवीय सत्य एवं जीवन की मूलभूत समस्या की ओर इस आन्दोलन ने लोगों का ध्यान आकृष्ट किया, वह अत्यन्त महत्वपूर्ण था, अतएव वह आन्दोलन की समाप्ति के बाद भी अपने चेतन रूप में साहित्य में रह गया। चूंकि यह मानवीय भावना पहले अपने अमूर्त रूप में ही सामने आयी, इसलिए कहानीकारों की अपेक्षा कवियों का ध्यान इस ओर सबसे पहले जाना बिलकुल स्वाभाविक था। लेकिन यह भी उतना ही सत्य है कि कविता कभी उस रूप में साधारण जन के नजदीक नहीं हुआ करती जिस रूप में कहानी होती है। इसलिए कविता एक सीमा तक ही इस भावना के साथ चल सकी, उसके बाद कविता को अपनी ही सत्ता को बनाये रखने के लिए प्रयोगों की ओर जाना पड़ा। इसी काल में कहानी पूरे जोर-शोर के साथ प्रगतिवादी आन्दोलन के साथ संयुक्त हुई। सबसे पहले हम यह देखना चाहेंगे कि यह प्रगतिवादी दृष्टिकोण साहित्य में कुल मिलाकर क्यों नारा या प्रचार या एक अकलात्मक दृष्टि मात्र बन कर रह गया? यहाँ समाज और राजनीति के क्षेत्र में की गयी इन लोगों की भूलों की चर्चा करना अनावश्यक ही नहीं बल्कि अप्रासङ्गिक भी होगा, पर इस प्रगतिवादी आन्दोलन को पूरी तरह समझने के लिए अन्य क्षेत्रों की इनकी गतिविधियों को जानना भी अत्यन्त ही जरूरी है। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है कि यह आन्दोलन मूल रूप से राजनैतिक था तथा इन लोगों ने इस

ग्रेम की परम्परा को मध्ययुगीन कह कर   कर दिया था लेकिन वे यह भूल गये कि क्या कोई भी साहित्य अपने विगत के दाय को अस्वीकार कर सकता है ? साहित्य में विगत का यह दाय साहित्य के विचार, भाव, भाषा, शिल्प आदि सभी में इतना स्वाभाविक होता है कि उससे हटना असम्भव होता है। विगत, भूमि की भांति होता है और कैसा ही क्रांतिकारी बीज क्यों न हो, वह धरती के बिना पनप नहीं सकता। इस आधारभूत गलती के अलावा दूसरी भूल इन लोगों से यह हुई कि वे यह भूल गये कि किसी भी सामाजिक एवं राजनैतिक आन्दोलन को साहित्य अपनी भावना या अभिव्यक्ति वाणी तो दे सकता है पर वह उसे मूर्त्त नहीं कर सकता। तात्पर्य यह कि अधिक से अधिक साहित्य किसी उद्देश्य विशेष की मनोभूमि तो तैयार कर सकता है, पर अपेक्षित परिवर्तन या क्रान्ति करवाने वाला नहीं हुआ करता। सामाजिक क्रान्ति एक राजनैतिक परिस्थिति है। तभी तो रूसी क्रान्ति का नेता लेनिन था न कि मैक्सिम गोर्की। कहना न होगा कि साहित्य का कैसा भी जीवन्त यथार्थ जीवन के यथार्थ को संतुष्ट नहीं कर सकता। जीवन के यथार्थ का अङ्गीकार करने पर भी साहित्य का यथार्थ प्रकृत्या भिन्न होगा। साहित्य का यथार्थ यद्यपि जीवन के यथार्थ की ही प्रतिकृति देने की चेष्टा करता है पर कला और साहित्य के नियमों एवं रूपों से वह इतना नियमित होता है कि अनेक बार देखने पर विरोधी न सही, तो विपरीत तो लगता ही है। जिस प्रकार जीवन के अपने नियम हैं, उसी प्रकार साहित्य के भी अपने नियम हैं और किसी भी कृति को उनका पालन करना अनिवार्य होता है, यदि उसे साहित्य में रहना है तो। इसलिए एक सीमा पर जाकर निश्चय ही इन दो यथार्थों में सीधा-सीधा विरोध न भी सही तो भी विरोधात्मक विपरीतता होगी। साहित्य भी जीवन की भांति ही एक सृष्टि माना जाता है। इसी कारण लेखक की भी वैसी ही स्वतंत्र सत्ता हुआ करती है जैसी कि किसी क्रान्तिकारी सर्जक की होती है। प्रगतिशील आन्दोलन जैसे आन्दोलनों की समझ में साहित्य की एवं साहित्यकारों की यह स्वतंत्र सत्ता नहीं आया करती है। ऐसे आन्दोलन लेखक के साथ भी वही व्यवहार करते हैं जैसे कि वे अन्य लोगों से करते हैं। इसके अलावा, तीसरी भूल यह न जानना है कि साहित्य का धर्म ही समाज एवं राजनीति के द्वारा खींची गयी निषेध रेखाओं को मानवीय आधारों पर लांघना है। साहित्य का यह परम कर्तव्य है कि मानव मात्र के साथ खड़ा हो, न कि किसी भी प्रकार के वर्ग विशेष के साथ। हां, यह हो सकता है कि परिस्थिति विशेष में वह मानवीय अधिकारों के लिए किसी के साथ हो जाय। पर इतिहास साक्षी है कि समय-समय पर सब ने मानव का शोषण करना शुरू किया, इसलिए लेखक को अपनी यह स्वतंत्रता या अपना यह विवेक कभी नहीं छोड़ना चाहिए। यह ठीक है कि लेखकीय संवेदना दूसरों से इस अर्थ में टकराएगी, क्योंकि समाज और राजनीति जिन्हें वर्जित प्रदेश घोषित कर देते हैं, लेखक वहीं से अनमोल रत्न लाता रहा है। जब तक साहित्य एवं लेखक या कलाकार की इस वास्तविक स्थिति को नहीं समझा जाता, तब तक साहित्य और अन्य क्षेत्रों के सम्बन्धों को कभी सही रूप में नहीं जाना जा सकता   प्रगतिशील आन्दोलन ने इस बारे में कभ चेष्टा ही नहीं की अतएव अनेक मन्त्रास्त्रों के होते हुए भी वह कुछ महत्वपूर्ण कृतित्व नहीं दे सका

जब काव्य के क्षेत्र में इस का विशेष सफलता नहीं मिली तब इसका ध्यान कथा-साहित्य की ओर गया। काव्य की अमूर्तता के स्थान पर गद्य के मूर्त या ठोस रूप में अपने राजनैतिक उद्देश्यों की पूर्ति की सम्भावना उसे अधिक दिखलायी दी। पर लगता है कि इस आन्दोलन के प्रवक्ताओं का भाग्य ही कुछ विषम था। इसलिए उसने जिस व्यक्ति को अपनी प्रगतिशील परम्परा के लिए निमित्त बनाया, वह इस आन्दोलन की उपज न होकर घोषित रूप से गाँधीवाद की उपज था; मेरा तात्पर्य प्रेमचन्द से है। प्रेमचन्द की जिस यथार्थता का इन लोगों ने इतना शोर मचाया, जरा उसके बारे में भी हमें विचार करना होगा। क्या प्रेमचन्द का यथार्थ वैसा ही है जैसा कि इन प्रगतिशीलों की दृष्टि में हुआ करता था या वह भारतीय आदर्श के अधिक निकट था? क्या इसीलिए प्रेमचन्द को तब आदर्शोन्मुख यथार्थवाद का नारा देना पड़ा? प्रेमचन्द ने किसान वर्ग के शोषण, मध्यमवर्गीय रूढ़िवादिता, गाँधीवादी आदर्शों तथा भारतीय परम्परा का जो एक सरलीकृत स्वरूप पकड़ रखा था, उसे भी इन आन्दोलनकारियों ने एक न एक कुतर्क के द्वारा नजरअन्दाज किया। प्रेमचन्द और उनकी जिस मानवीय यथार्थ की दुहाई दी जाती रही, निश्चय ही गाँधीवाद एवं भारतीय राष्ट्रवाद का प्रतिफल थी। कहानी की ओर अपना ध्यान आकर्षित करने के पीछे इनके दो मन्तव्य थे। एक तो यह कि कविता के क्षेत्र में छायावादी धारा के रूप से एक जीवन्त परम्परा थी जो कि अपने विद्रोही स्वरूप के बाद भी अपने शील एवं दर्शन में आद्यन्त भारतीय थी; भारतीय दर्शन, वेदान्त, उपनिषद् आदि की उस पर छाप थी। इसलिए छायावादी कवियों पर इस आन्दोलन का कुछ भी प्रभाव पड़ सकेगा इस बारे में ये लोग बहुत आश्वस्त न थे, जबकि कथा-कहानी का क्षेत्र अपेक्षाकृत नया था। साथ ही सब जगह इस तरह के कामों के लिए कविता हमेशा से 'रिस्की' मानी गयी है। इसके अतिरिक्त दूसरा कारण यह था कि प्रगतिवाद का प्रमुख उद्देश्य साहित्यिक न होकर राजनैतिक था और इसके लिए कथा-कहानी से अच्छा माध्यम और क्या हो सकता था? ऊपर कहा ही जा चुका है कि कविता की अपेक्षा कहानी अधिक लोकप्रिय माध्यम है। इस बीच हम देख ही चुके हैं कि कहानी के पत्रों की स्थिति अपेक्षाकृत व्यावसायिक हो गयी थी, इसलिए व्यापक प्रचार की दृष्टि से भी कहानी ही अच्छा माध्यम हो सकती थी। कहा जा सकता है कि इन लोगों ने एक प्रकार से इन व्यावसायिक पत्रों को हथियाया, बिना इस बात का ध्यान रखे कि कहानी की ये पापुलर पत्रिकाएँ किनकी हैं, साहित्यिक है या नहीं तथा इनका अपना कोई राजनैतिक दृष्टिकोण है या नहीं? इस तथ्य से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इन लोगों में मात्र अवसरवादिता के अतिरिक्त और कुछ नहीं था। गाँधी के बारे में इन लोगों ने जिस प्रकार व्यक्तिगत गन्दी बातों से लेकर सैद्धान्तिक स्तर पर गाली-गलौज की, वह स्पष्ट ही है। एक और हास्यास्पद उदाहरण कि जब अपने निजी ऐतिहासिक कारणों से रूस में अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद ने रूसी राष्ट्रीयता का जामा पहना तो उसने उन सारे ज़ारों, सामन्तों तक को ऐतिहासिक गौरव दे डाला जिनके विरुद्ध रूस की महान् क्रान्ति हुई थी। इसका प्रभाव अन्य कम्यूनिस्ट पार्टियों पर यह हुआ कि वे कर राष्ट्रवाद के द्राविड के लिए बाध्य हुई समकालीन

लेखकों पर इसका अत्यधिक प्रभाव पड़ा। सब मिलाकर दूसरा अर्थ यही निकलता है कि राजनीति के प्रति मूलरूप से दायित्व अनुभव करने के कारण इस आन्दोलन की प्रवृत्ति साहित्य में अवसरवादिता की ही थी।

इस सन्दर्भ में एक और बात बता देना जरूरी है कि इन लोगों को कुल मिलाकर हिन्दी का वातावरण प्रगतिवादी दृष्टिकोण के लिये कभी मुफ़ीद नहीं लगा। इनकी दृष्टि में इसका कारण था हिन्दी की रूढ़िवादिता, जातीयता की भावना तथा मृतप्राय भारतीय परम्परा के प्रति अनावश्यक आस्था। इसलिए इन लोगों को उर्दू की भूमि, मिजाज, तल्ख़ी आवारापन, कट्टरता आदि बातों में अपने से अनुकूलता दिखलायी दी। फलतः हिन्दी कवियों तथा कहानीकारों को समय-समय पर गरियाने के लिए उर्दू भाषा, साहित्य तथा उसके लेखकों का गुणगान किया जाता रहा। हिन्दी के विरुद्ध उर्दू को राजकीय एवं प्रशासकीय महत्त्व मिले, इसके पीछे भी इनका वही भारतीयता विरोधी संकुचित एवं दूषित मनोभाव काम करता था। उर्दू साहित्य के कलात्मक, सामाजिक एवं ऐतिहासिक पिछड़ेपन के कारणों पर न जाकर उर्दू साहित्य या कविता की एक विशेषता की ओर ध्यान दिला दूँ कि वहाँ एक ही उपमान के द्वारा रूहानी एवं जिस्मानी इश्क की अभिव्यक्ति बड़े मजे से हो जाती है। ठीक उसी तरह उसी उपमा-नियोजना के द्वारा इन्क़लाब को भी याद कर लिया जाता है। उदाहरण के लिए यहाँ एक एशिया-फेम शायर जनाब सरदार जाफरी साहब की एक मशहूर नज़्म की कुछ पंक्तियाँ देना चाहूँगा—

अजब घड़ी है कि इस वक़्त आ नहीं सकता
कि तेरे साजे-मोहब्बत पे गा नहीं सकता
न कर खुदा के लिए मेरा इन्तज़ार न कर।

यह कविता सन् १९४२ के आसपास बड़ी प्रसिद्ध हुई थी। इसमें एक क्रान्तिकारी अपनी प्रेयसी से एक अदब से अपनी इन्क़लाबी मजबूरी बयान करता है। और यह अदा "अजब घड़ी" वाले टुकड़े में शायर ने पिन्हा दी है। क्रान्ति के बारे में यह रूमानी दृष्टिकोण उर्दू कहानी में भी स्पष्ट है। इसके ज्वलन्त उदाहरण उर्दू के मशहूर फ़नकार अफ़साना निगार सिरी कृशनचन्दर साहब हैं जिनकी हर कहानी जरा से बाँकपन के साथ प्रगतिवादी ज्ञान के साथ ही जिस्मानी लुत्फ़ अलग से देती चलती है। ये दोनों नाम किसी ऐरे-गैरे नत्थू-खैरे के नहीं हैं, बल्कि ये प्रगतिशील आन्दोलन के कर्णधारों में से रहे हैं। इस पर किसी को स्वतन्त्र रूप से विचार करना चाहिए कि इस आन्दोलन का सम्बन्ध सेक्स की कहानियों से किस प्रकार रहा; क्योंकि तत्कालीन अनेक प्रसिद्ध प्रगतिशील कहानीकारों की सेक्सी कहानियाँ उस काल में भी दबे-छुपे निकलती रही हैं तथा आज अब उन्हें छपवाया जा रहा है। अतएव हिन्दी की गम्भीरता, दकियानूसपन, परम्परावादिता के कारण प्रगतिवाद को कहानी, कहानी के पत्रों एवं उर्दू की ओर ही झुकना पड़ा। अतः इस विश्लेषण से समझा जा सकता है कि प्रगतिशील आन्दोलन के इस प्रकार के व्यवहार के कारण हिन्दी कहानी यथार्थवादी दृष्टिकोण एवं मानवीय संवेदनशीलता के होते हुए भी पापुलर पत्रों की व्यावसायिकता के साथ करने के लिए बाध्य हुई। यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि कहानी

के ह्रास या पतन में प्रगतिशील आंदोलन का प्रमुख हाथ रहा है। कुछ और कहने के पूर्व हमें यहाँ एक और विश्लेषण करना आवश्यक लगता है कि हिन्दी आलोचना प्राय: सात्विक रूप से कविता और कवियों को लेकर ही होती रही है। इस कारण हिन्दी का कहानीकार अपने को उपेक्षित अनुभव करता था। उन दिनों कहानी को कोई विशेष साहित्यिक मान्यता नहीं प्राप्त थी। इसलिए जब कहानी एवं कहानीकारों ने व्यावसायिकता से गठबन्धन किया तब किसी ने इसकी कोई खास चिन्ता नहीं की कि इसका आगे चल कर क्या प्रभाव पड़ेगा। कालान्तर में इस व्यावसायिक गठबन्धन का लाभ कहानी को यह मिला कि साहित्यिक उपेक्षा के कारण उसकी जो हीन भावना थी उसे वह पापुलरिटी के द्वारा दूर कर सकी। व्यावसायिक पत्रों ने कहानी एवं कहानीकारों की इस हीन भावना का अपने व्यवसाय के लिए खूब प्रयोग किया। नतीजा यह हुआ कि एक ऐसा समय आ गया जब कहानी अपने को हर तरह से साहित्य की अन्य विधाओं से सर्वतन्त्र स्वतन्त्र अनुभव करने लगी। साहित्य की समस्याओं पर जब बातचीत की जाती तो प्राय: ये कहानीकार उससे अपने को यह कह कर अलग रखते कि इन गम्भीर साहित्यिक समस्याओं से कहानी का कोई सम्बन्ध नहीं है। किन्तु हम देखते हैं कि कहानी आज पृथकत्व की माँग करती है, जो न केवल हास्यास्पद ही है बल्कि निरङ्कुशता के स्तर पर हानिकर है। इस व्यावसायिक गठबन्धन का स्वयं कहानी के स्वरूप एवं उसकी साहित्यिक स्थिति पर कितना घातक प्रभाव पड़ा, यह आगे बताया जायगा। अच्छाई यही रही कि इन तथाकथित प्रगतिवादी-पापुलर व्यावसायिक वर्ग के कहानीकारों के अतिरिक्त ऐसे कहानीकार भी बराबर होते रहे जो साहित्य की परम्परा के साथ अनवरत संयुक्त रहे। इस साहित्यिक कहानीकारों को प्रगतिशीलों ने दिन-रात व्यक्तिवादी, कुण्ठाग्रस्त, पूँजीपतियों के दलाल आदि विशेषणों से कोसा। वैसे यह सही है कि इस तरह के कहानीकारों के पतन या ह्रास का कारण उनके अपने जीवन-दर्शन का स्वविरोध ही रहा है। लेकिन मजे की बात यह है कि प्रगतिशीलों ने कभी भी अपने किसी बड़े विरोधी लेखक के बारे में तात्विक रूप से विचार कर उस के प्रति अपने अन्तर्विरोध को सामने रखने में सफलता नहीं प्राप्त की। अपने बनाये हुए या पूर्व निर्धारित आक्षेपों को हर तरह के विरोधी लेखक पर चस्पा कर देने के कारण ही प्रगतिवादी अपना सही स्वरूप लोगों के सामने नहीं रख सके। फलत: प्रगतिशीलों की बातों को कभी भी गम्भीरता से नहीं लिया गया। साथ ही यह भी सत्य है कि प्रगतिशीलों को ये साहित्यिक कहानीकार हिन्दी की गुरु गम्भीरता, निष्ठा आदि के प्रतीक लगते थे और जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि इन बातों से प्रगतिशीलों का विरोध था। यह संयोग की ही बात मानी जानी चाहिए कि इन साहित्यिक कहानीकारों में अधिकांश कवि भी थे, जिनसे बचने के लिए प्रगतिशील कहे जाने वाले लोग कहानी की ओर गये थे। तथाकथित पापुलरिटी के ढोल की पोल में यही हीन भावना थी कि कहीं उन्हें पलट कर असाहित्यिक, अवसरवादी, राजनीति के पिछलगुए, कलाहीन, नारेबाज आदि न कह दिया जाय।

प्रगतिवाद आज विपन्न हो चुका है, पर अपने यौवनकाल में वह एक निश्चय ही ऊर्मी बाढ़ के समान था कि एक बार तो लगता था कि जैसे समूचा साहित्य उसकी गिरफ्त

में समा जायगा । किसी भी बढ़ते आन्दोलन में हम जानते हैं कि अनेक स्वार्थी एवं अवसरवादी तत्व शामिल हो ही जाते हैं जो कैसे भी अच्छे आन्दोलन को भ्रष्ट कर सकते हैं। यदि प्रगतिशील आन्दोलन में भी ऐसे स्वार्थियों की घुसपैठ हो गयी थी तो आश्चर्य नहीं किया जाना चाहिए। उन दिनों चोरी चोरी सेक्स की जो कहानियाँ इन स्वार्थियों ने लिखी थीं, उन्हें तब छपवाने का किसी कारण से साहस नहीं हुआ तो आज इस दुहाई में आकर छपवायी जा रही हैं। और मजा यह कि इसके लिए आधुनिकता की तथा आधुनिक जटिल रचना-प्रक्रिया की दुहाई दी जाती है। दरअसल ये लोग शिल्प और प्रतिमान से लेशमात्र तक नहीं है। तब भला जटिल-रचना-प्रक्रिया का प्रश्न ही कहाँ उठता है? स्पष्ट है कि इस प्रकार के लेखकों की कोई रचना प्रक्रिया होती ही नहीं। वे लेखक उस प्रगतिशील आन्दोलन के उच्छिष्ट मात्र हैं जो अब कहानी के क्षेत्र में सेक्स की गन्दगी पर आमादा हैं। प्रगतिवादी आन्दोलन के स्वरूप में जिस प्रकार अनेक बाहरी लेखक असम्पृक्त थे, वैसे ही अनेक लेखक उस आन्दोलन में तब भी मौजूद थे जो चाहते थे कि इस आन्दोलन के सही मानवीय एवं साहित्यिक मूल्य सामने आएं। प्रगतिशील आन्दोलन का भी पतन इसके अपने अन्तर्विरोध से ही हुआ। जब हमारे देश में तथा और देश की राजनीति में कम्युनिस्ट राजनीति की पराजय हुई, तभी यह आन्दोलन साहित्य में ताश के महल की भाँति ढह गया। फिर भी प्रगतिशील आन्दोलन जिन मूल्यों आदि की बात करता था, उनमें कुछ सचाई थी या कि आज उन बातों का थोड़े परिवर्तन के साथ साहित्य में प्रभाव देखा जा सकता है।

नयेपन का दावा

क्या नया, आधुनिकता का पर्याय है? या इसे हम अगर यों देखें कि क्या नया, आधुनिकता का पर्याय हो भी सकता है? क्या आधुनिकता की कोई सीमारेखा खींची जा सकती है? साथ ही एक यह भी सहज जिज्ञासा होगी कि इस नये या आधुनिकता की आवश्यकता क्यों? या यह कि नये और प्राचीन में कोई ऐसी शृंखला शेष नहीं है जिसके कारण समरसता बनी रह सके? नये और पुराने के ये झगड़े दर्शन, विज्ञान तथा राजनीति के क्षेत्र में बहुत पहले उठाये जा चुके हैं और ये सारे प्रश्न बहुत गम्भीर हैं। साथ ही जिन राजनैतिक, वैज्ञानिक एवं सामाजिक क्रान्तियों के कारण यह समस्या पश्चिम में उठी, उनमें से प्रायः सभी बातें कल तक हमारे समाज में नहीं थीं। वैसे आज भी उनमें से कितनी-कुछ है और कितनी-कुछ काल्पनिक है, इसका निर्णय एक लेखक नहीं कर सकता है, क्योंकि यह लेखकीय क्षेत्र नहीं है। लेखन में इसे जिस प्रकार उठाया गया है, वह बौद्धिक अधिक है। फलतः लेखक और पाठक के बीच एक खाई उत्पन्न हो गयी है। यह कहना गलत होगा कि पिछले खेवे के लेखकों की अपेक्षा आज के कहानीकार जीवन या उसकी समस्याओं के अधिक निकट हैं, अतएव पाठकों के ज्यादा निकट हैं। इस बीच हमारे देश की भी साक्षरता बढ़ी है, फलतः पत्र-पत्रिकाएँ अधिक बिकने लगी हैं। इसका कारण यदि आज का कहानीकार स्वयं को मान लेता है तो मुझे जातक में आयी श्वान-गाथा का स्मरण हो आता है जो कि गाड़ी के नीचे चलते हुए समझने लगता है कि वही गाड़ी को ढो रहा ।

हम इस बात के विराट् सन्दर्भ में न भी जाएं तो भी इतना तो मान ही सकते हैं कि गत कुछ वर्षों में ऐसा घटित हुआ है जो कि पहले नहीं हुआ था। फलतः हम ऐसी स्थिति में अपने को पाते हैं कि सारे मानवीय सम्बन्धों के बारे में तथा व्यक्ति के सामाजिक सम्बन्धों के बारे में हम नये सिरे से विचार करें। इसे यों कहा जा सकता है कि आधुनिकता उस जीवन-दृष्टि को कहते है जो हमारे भावपक्ष तथा व्यवहारपक्ष के जीवन्त एवं विकासशील स्नायुओं को ग्रहण करे और पोषित करे। इसका यह अर्थ हुआ कि हमारे दैनन्दिन जीवन, व्यवहार एवं आचार में तथा बड़े रूप में कहें तो कहा जाएगा कि हमारे इतिहास, परम्परा, धर्म एवं संस्कृति में ऐसी बातें मौजूद रहती हैं जो जीवन्त नही होते हुए भी वैसी लगती है और हमारा उनके प्रति एक ऐसा राग, लगाव या प्रीति होती है जिसके कारण हम स्वयं तो उनकी वास्तविकता को नहीं देख पाते, पर यदि कोई दूसरा हमें दिखाता है तो हम उस पर न केवल अविश्वास करते है बल्कि इस सीमा तक अपने को आहत अनुभव करते हैं कि वह हमारी समूची संस्कृति का ही विरोधी मालूम होता है। पर सचाई यह है कि अनेक बातें न केवल जीवन्त-हीन होती हैं बल्कि उनमें आगे किसी भी प्रकार के विकास की कोई सम्भावना ही नहीं होती। साथ ही हम नही जानते कि इतिहास, जीवन आदि अपने को जीवन्त बनाये रखने के लिए इतने सूक्ष्म तरीके पर परिवर्तनशील होते है कि हमें प्रायः पता भी नही चलता। पर कभी-कभी ऐसा भी इतिहास-क्रम आता है जब हमें लगता है कि जैसे सहसा परिवर्तन की आंधी हमें तथा हमारे इतिहास को ध्वस्त करने के लिए हमारे द्वार पर आवाजें दे रही है। चूंकि हम इस प्रकार के परिवर्तन के आदी नही हैं, इसलिए अपने स्नायुओं पर तनाव अनुभव करते हैं। ऐसा तनाव वैयक्तिक से अधिक सामाजिक हुआ करता है और इसे ही संक्रमण का काल कहा जाता है। आज वैसा ही सामाजिक तनाव का काल हमारे इतिहास में है। इसी को बड़े मोटे रूप से साहित्य में 'नये' के विशेषण के साथ व्यंजित किया जाता है।

आरम्भ से ही धर्म, दर्शन, साहित्य, राजनीति तथा विज्ञान के माध्यम से जीवन तथा जीवन में होने वाले परिवर्तनों के कारणों को समझने की चेष्टा बराबर ही की जाती रही है। कभी किसी युग में धर्म, युग का प्रवक्ता था तो आज विज्ञान प्रवक्ता है। हर ज्ञान के माध्यम की सीमा अवश्य होगी, चाहे वह धर्म हो या विज्ञान। हम भूल करेंगे, यदि धर्म की सीमा को मानने के साथ विज्ञान की सीमा मान कर नही चलते। इसका क्या प्रमाण है कि विज्ञान का माध्यम ही अन्तिम होगा? इसलिये हमें लेखन के क्षेत्र की आधुनिकता को किसी भी ज्ञान के माध्यम की अनुचरी नहीं बनने देना होगा, क्योंकि साहित्य अगत्या मानवीय भावनाओं का ही प्रवक्ता रहा है, न कि ज्ञान-विज्ञान का। आज का लेखक जिस प्रकार किसी भी धर्म या दर्शन विशेष का बन्धन स्वीकार नही करना चाहता है, उसी प्रकार उसे विज्ञान को भी अन्तिम शास्ता नहीं मानना चाहिये। क्योंकि इन सब का प्रयोजन आदि काल से यही रहा है कि मानव के लिए उस सत्य को उपलब्ध किया जा सके जो परात्पर है, जो कार्य और कारण दोनों को जन्म देता है; फिर भी, दर्शन की भाषा में स्वयं अजन्मा है यह कहा जा सकता है कि हम उस ऋत को प्राप्त कर पाते हैं कि नही यह प्रश्न

उतना महत्त्वपूर्ण कभी भी किसी के लिए नहीं रहा है। जोर इसी बात पर दिया जाता रहा है कि हमारी जिज्ञासा इस सम्बन्ध में किस कोटि की है तथा हमें हमारा माध्यम उसके लिए कितना पुष्ट अनुभव होता है। विज्ञान भी कभी अन्तिम रूप में नहीं कह पाया है कि धर्म और दर्शन की इस सम्बन्ध की खोजें या उपलब्धियाँ व्यर्थ हैं और ज्ञान के ये माध्यम अन्तिम रूप से निरर्थक हो चुके हैं। यह अलग बात है कि आज विज्ञान का प्राधान्य है, लेकिन यह वैज्ञानिकों की नहीं बल्कि हमारी भूल होगी, यदि हम ज्ञान के माध्यम को ही 'ऋत' मान बैठें। ऐसी भूल धर्म के क्षेत्र में हुई है कि धर्म ही ईश्वर मान लिया गया और उसका नतीजा भी हम सब जानते हैं। जब कभी मानवीय प्रज्ञा ने अपनी प्राप्ति में माध्यम की सीमा अनुभव की और उसे अनुपयुक्त पाया तभी उसने उसे त्याग दिया, चाहे वह कल का ऋषि रहा हो अथवा आज का वैज्ञानिक।

वैसे आधुनिकता को लेकर एक भ्रम, वातावरण की नवीनता के साथ प्रायः जुड़ा मिलता है; इसलिये यह कहना आवश्यक है कि परिवेश की नवीनता का नाम आधुनिकता नहीं है। आधुनिकता वह युगदृष्टि है जो शाश्वत होते हुए भी विकासशील होती है। शाश्वत और विकासमानता, एक-दूसरे को काटनेवाली रेखाएँ न होकर प्रतिपूरक हैं, सत्य की समग्रता को सम्यक् रूप में व्यवस्थित करती हैं। उदाहरण के लिए हम देखते हैं कि कभी आग का आविष्कार हुआ था और कालक्रम में उसी आग ने बिजली का आविष्कार हुआ। यह ठीक है कि इस बिजली के आविष्कार के लिए और भी तत्वों को देखा-परखा गया तथा उसके लिए योग्य पाया गया; पर क्या आग और बिजली विरोधी हैं? साधारण दृष्टि से ये न केवल पृथक् ही दीखती हैं बल्कि कइयों को विरोधी भी लगती होंगी। हमें यह नहीं भूल जाना होगा कि साहित्य भी किसी सीमा तक एक माध्यम है। हमें अपने माध्यम को पुष्ट करने के लिए अपने स्रोतों, खनिजों की अनवरत खोज-बीन करते रहना चाहिए। धर्म और दर्शन जिस प्रकार अमूर्त के द्वारा अपनी खोज करते रहे या जिस प्रकार विज्ञान धातुओं और तत्वों के गुणात्मक एवं क्रियात्मक अणु-शक्ति की खोज में निरन्तर रत रहता है उसी प्रकार हमें मानव-मन पर होने वाले सभी घात-प्रतिघात एवं उनके सम्पूर्ण सन्दर्भों को देखना चाहिए। इसीलिए साहित्यकार किसी अन्य क्षेत्र की सीमा को नहीं स्वीकारता। वह तो उस मानवीय तत्त्व का सहारा लेता है जो कि समस्त कालों में व्याप्त है, जो कि उतना ही नवीन है जितना कि शाश्वत है। इसीलिए साहित्यकार ने जब भी किसी भी प्रकार की सीमारेखा स्वीकारी है, उसने अपने पैरों पर कुल्हाड़ी ही मारी है। साहित्यकार अन्य क्षेत्रों की उपलब्धियों का सहारा ले सकता है, उनसे लाभ भी उठा सकता है, लेकिन केवल उनका ही नहीं हो सकता है। इसी अर्थ में तथा इसी उच्च स्तर की लेखकीय संवेदना को परिभू स्वयंभू कहा गया है, न कि किसी और प्रकार की संवेदना को।

परिवर्तन का स्थूल स्वरूप सामाजिक, आर्थिक आदि योजनाओं के द्वारा देखा जा सकता है। आज का समाज तथा उसकी रचना कल के समाज से किस रूप में भिन्न है तथा यह भिन्नता कैसे हुई आदि प्रश्न युगबोध के अन्तर्गत आते हैं समाज की भाँति ही समाज के

व्यक्ति सदस्यों में भी टूटते-बनते का यह परिवर्तनकारी अनिवार्य क्रम अहोरात्र देखा जा सकता है। सामाजिक अर्थ में जो संघर्ष होता है, वह वैयक्तिक स्तर पर द्वन्द्व होता है। इन दोनों के सायुज्य भाव से ही वह सृष्टिक्रम घटित होता रहता है जो आत्मपरक तथा वस्तुपरक दोनों स्तरों पर अबाध रूप से अवश्यमेव होता है। इस अर्थ में देखने पर ही लेखकीय दाय की महत्ता एवं गुरु गम्भीरता समझ में आ सकती है। अन्तर्बाह्य अर्थात् सामाजिक-वैयक्तिक परिवर्तनों को उनके सारे सन्दर्भों, सम्भावनाओं एवं क्षमताओं के साथ जब तक लेखक अङ्गीकार नहीं करता या अपने बुद्धिसम्मत ज्ञान को स्वानुभूति के स्तर पर वहन नहीं करता तब तक युग, सत्य तथा यथार्थ में से किसी को भी अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। अपनी अमूर्त्तता की शक्ति के बाद भी कविता इस वास्तविकता को कितना कुछ अभिव्यक्त कर पायी है, वह हम सब जानते हैं। तब ऐसी स्थिति में हाड़-मांस के माध्यम से अपने को अभिव्यक्त करने वाली कहानी कितना कुछ कर सकती है अथवा कर पायी है, इसके बारे में जल्दबाजी में कोई दावा नहीं किया जाना चाहिए। सच तो यह है कि आधुनिकता को 'स्पेस' के सन्दर्भ में देखना भूल होगी। उसे काल या चेतना के सन्दर्भ में ही देखा जा सकता है।

ऊपर जिन बातों की चर्चा हम कर आये है उनके आधार पर आज के कहानीकारों को देखने पर कहा जा सकता है कि उनमें अभी अन्तर्बाह्य के परिवर्तन की पकड़ सम्यक् या सन्तुलित रूप में नहीं है। कहानी का पाठकवर्ग भी कहानीकारों की अकेली सामाजिकता की भाँति अपने सामाजिक अकेलेपन में टूटता हुआ वह निरा व्यक्ति है जो कि लेखकों की ही भाँति अपनी पौराणिक पृष्ठभूमि खो चुका है। नयी या पुरानी का झगड़ा कविता में जितना निरर्थक है उससे कहीं अधिक बकवास कहानी में है। वास्तविकता तो यह है कि यह झगड़ा मूल्यहीन शहरों तथा मुलम्मे उतरी पौराणिकता की रूढ़ियों को थामे आस्थावान् असंख्य देहातों के बीच है। यह ठीक है कि शहरों ने मूल्य खो कर ज्ञान-विज्ञान अर्जित कर लिया है, उसकी सुख-सुविधाएँ उसने अपने पास जमा कर ली हैं, रसना और वासना के अधुनातन माध्यम खोज लिये हैं, पर इन शहरों में भयावह रूप से भीड़ों का अकेलापन, सम्बन्धों का अजनबीपन, सज्ञाहीन सर्वसामता से ग्रस्त निरे व्यक्ति ही व्यक्ति हताश दिखलायी पड़ते हैं। इसके विपरीत पौराणिकता का मुलम्मा उतर जाने पर भी रूढ़ियों के शव को वानरी मोह की भाँति अपने से चिपकाये रहने के कारण देहात भले ही गरीबी एवं विपन्नता भुगत रहा हो, पर उसे अपने ही देश, समाज, इतिहास और परम्परा के साथ कोई अजनबीपन अनुभव नहीं होता। यह शहरों का मात्र मिथ्या दम्भ है कि वे ही इतिहास और संस्कृति के वास्तविक निर्माता रहे है तथा हैं भी। यदि देहात अपना स्वत्व शहरों पर नहीं लादता है तो इसका यह अर्थ नहीं है कि उसका कोई भी ऐतिहासिक व्यक्तित्व नहीं है। देहात ने भी सारे ऐतिहासिक उतार-चढ़ाव देखे है, पर वह शहरों की भाँति अपनापा नहीं छोड़ बैठा है। इतिहास के हर प्रभाव को उसने भी उसी रूप में झेला है जैसा कि शहरों ने झेला है। फिर भी वह अपने विगत, परम्परा तथा पौराणिकता को समय के अनुरूप ढालता चला आया है; वर्ना इतिहास की किसी भी प्रचण्ड आँधी में देहातों का अस्तित्व ही मिट गया होता। जिस चीज ने उसको अक्षुण्ण बनाये रखा वह थी उसकी अपनी आधार-भूमि की पकड़ शहरों के क्रीत

वैभव में उसकी रक्षा करनेवाला उसका जीवन-दर्शन था जिसके जीवन्त एवं शक्तिशाली तत्वों की उसके पास कोई समझ नहीं है। स्वाभाविक ही वह आज विवश है पर [illegible] है कि सारे देहातों की एक सार्वदेशिक पौराणिकता है जो उन्हें इतनी विषमताओं के बाद भी शहरों के अजनबी व्यक्ति बनने से रोके हुए है। आज के तेजी से पड़नेवाले प्रभावों के बीच ये देहात कब तक अपना पारम्परिक स्वरूप बनाये रख सकेंगे, यह कहना कठिन है, क्योंकि परिवर्तन आज उनके द्वार पर भी खड़ा दस्तक दे रहा है। जो हो, ऊपर जिस सार्वदेशिक पौराणिकता की हमने चर्चा की है उसे किसी समय धर्म और संस्कृति ने पूरे समाज को दी था। शहरों ने तो उसे कभी का छोड़ दिया, किन्तु अनेक ऐतिहासिक समस्याओं के लिए देहात आज भी किसी न किसी रूप में उसे बनाये हुए हैं। शायद इसी आधारभूत पकड़ का नतीजा यह हुआ कि विगत युगों की अनेक राजनैतिक आँधियाँ और ऐतिहासिक तूफानों को वह अत्यन्त सहज ढंग से सह ले गया। जब उसके सगुण विश्वास पर चोट की गयी तो उसने बिना किसी हीले-हवाले के निर्गुण विश्वास को स्वीकार लिया। पर बड़ा से बड़ा चंगेज और गजनवी भी उसके अन्तर में विराजे प्रभु रूप को नहीं तोड़ सका। उसकी आस्था का नाम, गुण तथा धर्म सब कुछ बदल गया पर विश्वास की अक्षुण्णता कभी भी [illegible] नहीं हो पायी। इसी पौराणिकता को हम चाहें तो 'ऋत' या लोक का 'शुचि-मनम्' कह सकते हैं। आज के आधुनिक युग में यदि यह धार्मिक पौराणिकता अनुपयुक्त हो गयी है तो इसे नया सार्वदेशिक पौराणिकता अथवा नूतन ऋतत्व-बोध नाम दिया जाना चाहिए, न कि अकेली सामाजिकताओं वाले लेखक का व्यक्ति-सत्य या व्यक्ति-पौराणिकता या व्यक्ति-निरंकुशता। यह मानना बड़ी भारी भूल होगी कि समाज, व्यक्ति विरोधी होता है। वास्तविकता तो यह है कि व्यक्तित्व की पूर्णता का प्रतीक ही समाज है। व्यक्ति और समाज के बीच जो लोग आधारभूत विवाद एवं विरोध की स्थिति मान कर चलते हैं, वे विशाल जल-प्रवाह में भँवर की तरह होते हैं। ऐसे भँवरों के निर्माण, आकार तथा परिणति या नियति से हम सब परिचित हैं। सच तो यह है कि बड़ा से बड़ा व्यक्ति भी आज तक समाज की विराट् स्थिति को नहीं प्राप्त कर सका। समाज से हट कर आज तक किसी भी व्यक्ति का महत्व क्या, अस्तित्व तक सम्भव नहीं हो सका, पर व्यक्ति के बिना समाज की स्थिति सदा सम्भव हुई है। नीत्शे जैसा महामानव, जिसमें कि पैगम्बरत्व के सारे गुण मौजूद थे, पर वह जिन अन्धी घाटियों में भटक गया वहाँ से उसका न तो जीवन-दर्शन ही और न उसकी प्रखर प्रज्ञा ही उसका उद्धार कर सकी। इसके विपरीत समरसतावादियों ने 'शुचि-मनम्' के निर्माण में जो कुछ आज तक योग दिया, वह किसी से छिपा नहीं है। इसी प्रकार जब तक साहित्य अपने युग तथा अपने समाज को नहीं अभिव्यक्ति देता या झकझोरता, तब तक वह केवल कौतूहल या मनोरञ्जन या वैचित्र्य के स्तर से ऊपर नहीं उठ सकता। श्रेष्ठ साहित्य इस अनिवार्य शर्त की पूर्ति हमेशा करता आया है। यह मानना भारी भूल होगी कि साहित्य, समाज की या मूल्यों की प्रतिष्ठा या प्रस्थापना किया करता है। साहित्य उसका केवल बोध करवाता है। इस अर्थ में साहित्यकार को यह स्वतन्त्रता प्राप्त है कि वह समाज या मूल्यों की आलोचना भी कर सकता है साहित्यकार को हम चाहे तो समाज और मूल्यों का नहीं बल्कि व्याख्याता

कह सकते हैं कि उन्हें युगानुकूल बनाये रखे। चूँकि कला या साहित्य अपने पाठक के सामने धर्म, दर्शन या राजनीति की भाँति ऐसी कोई नैतिक बाध्यता या राजनैतिक प्रतिश्रुति नहीं प्रस्तुत करता, इसलिए पाठक कला और साहित्य से वैयक्तिक रागात्मिका अनुभव करता है। धर्म और दर्शन की भाँति साहित्य उसे अप्राप्य नहीं लगता, वरन् उसमें वह अपने ही को प्रस्तुत पाता है। फलतः वह साहित्य का विश्वास अधिक करता है। चूँकि साहित्य, आदर्श नहीं होता, वरन् आदर्श की चेष्टा होता है, इसलिए भी पाठक साहित्य के साथ तादात्म्य अनुभव करता है। इसलिए लेखक, पाठक के इस सहज मानवीय विश्वास के साथ खिलवाड़ नहीं कर सकता है। धर्म, दर्शन तथा संस्कृति के आदर्श एवं समाज के नाना विधि यथार्थ के बीच साहित्य वह विश्वसनीय सेतु होता है जिस पर दोनों पक्षों को चलना होता है। साहित्य ने आदिकाल से इस महत् दाय को वहन किया है। साहित्य ने कभी भी जीवन की विसङ्गतियों या संशयों को स्वयं नष्ट नहीं किया है, भले ही नष्ट करने की प्रेरणा दी हो। तभी तो अवतार या युगपुरुष या पैगम्बर कोई साहित्यकार कभी नहीं हुआ और न ही ऐसा बनना साहित्य की प्रकृति में है। धर्म और दर्शन को लेकर लाखों लोगों मे युद्ध हुए, रक्तपात हुए, पर आज तक इतिहास में कैसी ही क्रान्तिकारी किताब क्यों न रही हो, उसे लेकर युद्ध की तो बात अलग, दो व्यक्तियों में कभी सङ्घर्ष तक नहीं हुआ। इस सन्दर्भ मे देखने पर ही समझ में आ सकता है कि साहित्य के प्रभाव का क्षेत्र एक अर्थ में धर्म, दर्शन, संस्कृति तथा राजनीति सबसे विशाल है। यही चीज है जो साहित्य को महत्त्वपूर्ण बनाती है। साहित्य के इस महत् स्वरूप के सामने प्रगतिशीलता का दुराग्रह या प्रयोगवाद का आग्रह कितनी छोटी बातें हैं। 'स्पेस' के सन्दर्भवाली आधुनिकता तो साहित्य के इस विशाल परिप्रेक्ष्य में नगण्य सी बात लगती है। हमें यह याद रखना होगा कि यदि किसी संज्ञा को रहना ही है तो वह विराट् की संज्ञा ही रहने को है, छोटी संज्ञा को न चाहने पर भी विलीन होना ही पड़ता है। आज की नयी कविता या नयी कहानी जिस छोटी संज्ञा की बात करती है, वह काल सापेक्ष्य आधुनिकता के सन्दर्भ में हास्यास्पद होने को है। भले ही तात्कालिक लाभ उससे कुछ हो जाए कि आप जान लिये जाँय, पर विशाल सन्दर्भ में आपकी तुच्छता स्पष्ट हो जाएगी, इतना निश्चित है।

अभी जिस व्यक्ति-सत्य की चर्चा की गयी, उस पर भी विचार कर लेना उचित होगा। इस चेतना का उत्स १९वीं शती के आरम्भ में हमें यूरोप मे मिलता है। ऐसा नहीं है कि यह भावना सहसा १९वीं शती में प्रस्फुटित हुई। इस शती में इस व्यक्ति-चेतना की निरंकुशता को एक दार्शनिकता तथा व्यवस्था दी गयी। हमें उस ऐतिहासिक परिवर्तन को भी ध्यान से देखना होगा जिसकी पृष्ठ-भूमि में यह चेतना उभरी। इसी काल में औद्योगिक क्रान्ति सम्पन्न होती है, पूँजीवाद का अभ्युदय, मानवीय शोषण के नये तथा सामूहिक माध्यम लेकर व्यावसायिक वर्ग अपनी व्यक्ति सत्ता की महत्ता को लेकर सामने आता है। इसी समय पूँजीवाद के इस राक्षसी स्वरूप को चुनौती देते हुए मार्क्स तथा एंगिल्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद सिद्धान्त सामने आता है। कुल मिलाकर इस शती में व्यक्ति तथा समाज के बारे में विविध चिन्तन इतने अन्तर्विरोधी स्तरो पर चलते हैं कि स्पष्ट नहीं हो पाता कि

वैयक्तिकता की दहाइ देने वाले चिन्तक आया पूंजीवाद का समर्थन कर रहे होते हैं या समाजवाद का। यदि मानव मात्र की आधारभूत स्वतंत्रता ही नहीं होगी तो व्यक्ति स्वातन्त्र्य की बात निश्चय ही पूंजीवाद के शोषण को बढ़ावा देगी। और यदि व्यक्ति की वैयक्तिक सुरक्षा की गारंटी समाजवाद नहीं करता है तो निश्चय ही समाजवाद की यांत्रिकता को बढ़ावा मिलेगा। यूरोप उस मध्यमार्गी चिन्तन की कल्पना ही नहीं कर सका, जो कि किसी भी समरस जीवन के लिए आवश्यक होता है। फलतः वहां सभी तरह की क्रान्तियां हुई तथा दो-दो भयानक युद्ध भी हुए। पर समरसता जिस जीवन-दृष्टि से उत्पन्न होती है, वह यूरोप की न तो संस्कृति में ही है और न वहां की चिन्तन प्रणाली में। अपार जिज्ञासा ने उन्हें निश्चय ही अनेक क्षेत्रों में आगे बढ़ाया, पर सामाजिक स्तर पर आज भी वहां समरसता स्थापित नहीं हो सकी। व्यक्ति एवं समाज को जिस समरस स्तर पर हमारे यहां कालक्रम से विकसित होते हुए हमारे दर्शन ने स्थापित किया उसकी ओर हम जब तक वैज्ञानिक दृष्टि से नहीं देखते हैं तब तक हम अपना निज का न तो स्वतंत्र चिन्तन ही बना सकते हैं और न कोई महत्वपूर्ण साहित्य ही दे सकते हैं। गेटे या टाल्सटॉय को महान् उनका जीवन-दर्शन बनाता है, न कि कहानी की बुनावट या कहानी की मनोरंजकता।

इसीलिए आज की तथाकथित आधुनिक या नयी कहानी अपने सारे नये शिल्प-कौशल और अतिरिक्त कामभूलकता के बाद भी व्यापक जन-मानस को नहीं छू पाती। जिस कुण्ठा, निराशता तथा वर्जना को शाश्वत मानवीय मूल्यों के स्थान पर प्रस्थापित करने की चेष्टा ये कहानियां करना चाहती हैं, उसका अन्तर्राष्ट्रीय महत्व जो भी हो, कम से कम इस देश के जन-मानस से उनका कोई भी रागात्मक सम्बन्ध नहीं है। जहां का जन-मानस आज भी अपनी सार्वदेशिक पौराणिकता बनाये हुए है, किसी भी लेखक के द्वारा उसकी उपेक्षा सम्भव नहीं। ये कहानीकार यह भूल गये हैं कि यह सार्वदेशिक पौराणिकता ही वह मेन-स्विच बोर्ड है जहां से सारे जन-मानस की बिजली नियंत्रित होती है। यदि मेन-स्विच ही 'ऑफ़' है तो कितने ही वैयक्तिक स्विच क्यों न दबाये जाएं, प्रकाश सम्भव नहीं होगा। प्रकाश न तो स्विचों में होता है और न जेनेरेटर ही में। प्रकाश उस मूलभूत दृष्टि के संयोग से जेनेरेटर में मूर्त होता है जो उसे नियंत्रित किये हुए है। तभी तो लेखक से भी ऊँची एक और श्रेणी होती है जिसे स्रष्टा कहा जाता है और जो एक और अनेक के बीच समरसता उत्पन्न करता है ताकि इन दो के बीच विरोध की कोई संशयात्मक स्थिति न रहे। क्या आज किसी भी कवि या कहानीकार में ऐसी समरसता है जो उसके कृतित्व के द्वारा जन-मानस तक अभिव्यक्त हो जैसी कि तुलसी या टाल्सटाय के द्वारा हुई ?

वैसे पूर्व और पश्चिम का भेद है भी और नहीं भी। जिस अर्थ में वह है, उसकी उपेक्षा भी नहीं की जा सकती। पूर्व ने समरसता को जीवन का अन्तिम लक्ष्य माना और उसकी ओर बढ़ने की चेष्टा की, जबकि पश्चिम, द्वन्द्व पर आकर ही इति-श्री समझता रहा है। फलतः वैसे देखने पर हमें पश्चिमी साहित्य में मानवीय चरित्र की विविधता, गत्यात्मकता तथा वैभविक शक्तिसम्पन्नता मिलती है, पर आधारभूत जीवनी-शक्ति के अभाव में चरित्रों की यह विद्युत्वेगशीलता उन्हें अपार	का पुच्छल तारा बना देती है हम वे मोहक लग

सकते हैं, पर उनमें से कुछ भी जन्म नहीं ले सकता है। उदाहरण के लिए 'हेमलेट' पश्चिम का एक शक्तिशाली प्रतिनिधि चरित्र है। हमें वह आसक्त कर लेता है पर हम में वह ऐसा कुछ जोड़ता नहीं है जिसके लिए हमारा स्वत्व लालायित हो। इसके विपरीत भारतीय साहित्य में बड़ा ही शान्त-सा निर्द्वन्द्वता का वातावरण मिलता है। यह विचित्र विविधात्मक समरसता ही भारतीय जीवन-दर्शन है जिसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न होते रहे हैं। इसके प्रतिनिधि रूप में हमारे सामने युधिष्ठिर आते हैं। जिस सामाजिक सत्य के लिए जीवन भर युधिष्ठिर युद्धरत रहे, उसी के प्राप्त हो जाने पर वे असङ्गभाव से सब कुछ त्याग कर महाप्रस्थान के पथ पर निकल पड़ते हैं। भारतीय जीवन-दृष्टि के इस मर्म को समझे बिना हम या हमारा कैसा ही आधुनिक साहित्य इस देश के जन-मानस को कभी नहीं पा सकता है। इस मर्म को अवश्य ही हमें आज के जीवन-सन्दर्भ में न केवल देखना ही होगा, बल्कि आवश्यकता होने पर उसे अपने युगानुकूल भी बनाना होगा। तभी वह जीवन्त दृष्टि हो सकेगा। इस सार्वदेशिक पौराणिकता को जब तक अङ्गीकार नहीं किया जाता, तब तक हमारा वास्तविक प्रणयन सम्भव नहीं। कितनी अजीब बात है कि आज आधुनिकों की रचनाएँ इस देश में प्रचारित होने के पूर्व सात समुन्दर पार पहुँच जाती है तथा उन्हें वहाँ यदा-कदा महत्व भी दे दिया जाता है। इसी का नतीजा यह है कि आज का लेखक अपने ही देश तथा अपने ही समाज में अजनबीपन अनुभव करता है। ऐसे लेखकों की दृष्टि में यहाँ का समाज रूढ़िवादी एवं अविकसित लगता है, क्योंकि वह अभी भी एक सार्वदेशिक पौराणिकता या 'सोशल-मिथ' से ग्रसित है। यह माना जा सकता है कि हमारा समाज भले ही सामाजिक पौराणिकता से ग्रसित हो, पर यह भी उतना ही सत्य है कि यह पौराणिकता अभी भी उसके लिए किसी गहरे अर्थ में जीवन्त है। इस सार्वदेशिक पौराणिकता ने उनके विभिन्न व्यक्तित्वों को छिन्न-भिन्न होने से रोक रखा है। इसे बाहरी दबाव नहीं कहा जा सकता, बल्कि आन्तरिक इच्छा कही जाएगी, जो कि उन्हें शताब्दियों के सामूहिक अनुभव से प्राप्त हुई है। राजनैतिक सामूहिकता से यह आधारभूत रूप में भिन्न है। राजनैतिक सामूहिकता की तरह यह उस तरह की भीड़ नहीं है जो नितान्त इकाईपन अनुभव करते हैं। राजनैतिक सामूहिकता, व्यक्ति-पौराणिकता या 'इंडिवीजुअल-मिथ' को जन्म देती है। इसीलिए आज के आधुनिकों की व्यक्ति-पौराणिकता, कुण्ठा और वर्जनाओं के अन्धेरे कोनों-कूचों से रुग्ण अनुभवों की जूठन बटोरने को यथार्थवादी दृष्टिकोण या आधुनिक भावबोध की संज्ञा देती है। टूटे हुए व्यक्ति, उदास शाम के कुछ पीले टुकड़े, बीयर की बोतलों की मादक सिम्फनी को लेकर जब हमारा आज का कहानीकार खुले आकाश, खुले जीवन तथा सहज समाज के सामने पहुँचता है तो वह उस निरपेक्ष सार्वदेशिक पौराणिकता की खिल्ली उड़ाना चाहता है, पर वास्तविकता तो यह है कि वह उस समय मात्र दया का पात्र एक बहुरुपिया ही होता है। इसीलिए वह सामाजिक सन्दर्भ में अपने को अकेला पाता है। उसके साहित्य के बारे में समाज की जो प्रतिक्रिया होती है, उसे वह सामाजिक मूढ़ता समझता है। वैसे मसीहा लोग अवश्य उपेक्षित होते आये हैं, पर हर मसखरा मसीहा नहीं होता। कहना न होगा कि यह लेखक की मात्र हीन भावना ही है जिसे वह आधुनिकता की आड़ में छिपाना चाहता है शायद इसलिए वह नयी

और पुरानी कहानी या नया साहित्य और पुराना साहित्य का झगड़ा खड़ा करना है। शहरी और ग्रामीण कथा की चर्चा भी इसी तरह निरर्थक है। जैसे लेखन शहरी होता है और भोंडा लेखन ग्रामीणता का परिचायक है, इस प्रकार की हास्यास्पद बातों पर चर्चा करना समय को नष्ट करना है। इस सम्बन्ध में विचारणीय बात यही है कि जब हम ग्रामीणता की बात करते हैं, तब हमें यह देखना होगा कि हमारे यहाँ का देहात वैसा ही नहीं है जैसा कि विदेशों का 'कन्ट्री साइड' होता है। वे वस्तुतः वहाँ के शहरों का प्रसारित भाग ही होते हैं, जबकि हमारे देहातों की स्वतन्त्र सत्ता, व्यक्तित्व तथा इतिहास उसी रूप में वर्तमान है जिस रूप में दिल्ली या बम्बई जैसे महानगरों का है। इस दृष्टि से देखने पर समझ में आ जायगा कि क्यों ये आधुनिक कहानियाँ हमारे समाज के अधिकांश जन-मानस में नहीं पैठ पाती हैं तथा क्यों इन्हें विदेशों में प्रोत्साहन दिया जाता है। यहाँ इस बात को भी स्वीकार करना आवश्यक है कि ये कहानियाँ इसलिए विदेशों में नहीं प्रोत्साहित की जातीं कि वे इस देश के जन-मानस का प्रतिनिधित्व करती हैं, वरन् इसलिए कि इन कहानियों का शिल्प, विषय तथा जीवन-दर्शन उन्हें अपने जैसा लगता है और कौन नहीं अपना ही चेहरा देखना चाहता? इस तरह की रचनाओं के प्रोत्साहन में उनके अहं की तुष्टि भी होती है। लेकिन हमें अवश्य याद रखना चाहिए कि यह केवल प्रोत्साहन भर होता है, सम्मान नहीं। सम्मान पाने के लिए उनके समानान्तर अपना जीवन्त दृष्टिकोण प्रस्तुत करना होता है और जैसे अपने-अपने समय में विवेकानन्द, रामतीर्थ, गान्धी तथा रवीन्द्र ने किया था। ऐसे जीवन्त दृष्टिकोण को प्राप्त करने के लिए युग संवेदना से पूर्ण लोक-चेतना वाली अपनी सामाजिक पौराणिकता को काल और विस्तार के सारे मानवीय सन्दर्भों के साथ अपने में अनुस्यूत करना होता है। जब तक अपनी ही भूमि तथा अपने ही समाज के प्रति यह आस्था या ऐसी अनन्य समर्पणवादी निष्ठा नहीं पैदा होती, तब तक लेखन को सार्थकता नहीं मिलती। [illegible] तुलसी ने इसी जीवनी-दृष्टि की कला-सम्भावना को देखा, इसलिए वे समाज की सार्वकालिक-पौराणिकता को सार्वदेशिक-पौराणिकता में बदल सके थे। यह बात भले ही आज के वैज्ञानिक आवरण से सम्पन्न तथाकथित आधुनिक लेखकों को कितनी ही धार्मिक या रूढ़िवादी या परम्परागत क्यों न लगे, पर उन्हें यह समझ रखना है कि कला और साहित्य में अपनी भूमि को छोड़ कर कभी भी काल और विस्तार को नहीं नापा गया है। हमारे आधुनिक यह भूल जाते हैं कि वैज्ञानिकता भी रूढ़िगत हो सकती है। आधुनिकता को कल न जाने कितने प्रतिमान बदलने पड़ें, यह कोई कह सकता है? [illegible] समाज की सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति का भी उतना नहीं है जितना कि व्यक्ति-मानस के तदाकार होने से उत्पन्न हुई सामाजिक चेतना का है। इसी सामाजिक चेतना को अभिव्यक्त करना होता है। इसी को 'ऋत' या सार्वदेशिक-पौराणिकता कहा जाता है। सन्दर्भ, परिपार्श्व या यथार्थ के बदल जाने से साहित्य के गुण-धर्म पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। कालिदास, तुलसी, गेटे, टाल्सटॉय या रवीन्द्र अथवा कोई भी त्रैकालिक-वाणी आज भी अपनी धार्मिक-पौराणिकता को या सार्वदेशिक-पौराणिकता को उसी सक्षम रूप से हम तक पहुँचा पा रहे हैं जिस सक्षम रूप से अपने युग के लिए या युग को सम्बोधित करते हुए उन्होंने

लिखा था वैसे आज का साहित्य न तो क्लासिकीय ही है और न आधुनिक ही लेकिन मेरे कहने का तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि आज नयी या आधुनिक पौराणिकता नहीं हो सकती, अवश्य हो सकती है, लेकिन वह होगी उसी सार्वदेशिक पौराणिकता की पुनर्व्याख्या। यह ठीक है कि बदले हुए लोक-मानस के लिए बदली हुई पौराणिकता होनी चाहिए, लेकिन यह भगीरथ प्रयत्न व्यक्ति-पौराणिकता से ग्रसित किसी लेखक द्वारा सम्पन्न नहीं हो सकता। इसके लिए स्रष्टा की आवश्यकता होगी। स्रष्टा ही एक साथ साहित्य, संस्कृति तथा समय में समरसता उत्पन्न कर सकता है। वही इसके लिए एक ऐसा प्रतीक निर्माण कर सकता है जिसमें पौराणिकता की गरिमा, शाश्वत होने का भाव तथा मानवीय मूल्यों का एक साथ समाहार हो सके। अन्यथा आज का कहानीकार और कवि जिस अस्वीकार भाव से बात कर रहा है वह कब्र खोदनेवाले की याद कराता है जो हर जीवित शरीर के लिए भी केवल कब्र की ही अनिवार्यता को मूल्य मानता है।

स्थिति की वास्तविकता

अन्त में मेरा ध्यान उस नारे की ओर जाता है जिसमें कहा जाता है कि नयी कहानी पुरानी से भिन्न है। प्रश्न यह है कि इस नारे की आवश्यकता क्यों हुई? नयी और पुरानी कहानी में भिन्नता क्यों? क्या हर व्यक्ति की कहानी दूसरे से भिन्न नहीं हुआ करती? तब पुरानी और नयी कहानी की भिन्नता पर ही आग्रह किस लिए? लेकिन जब पहली बात न कही जा कर दूसरी ही कही जाती है तो इसका मतलब यह हुआ कि नयी कहानी की एक ऐसी संज्ञा है जो अपनी इकाई का पृथक् बोध किसी कारणवश करवाना चाहती है। सचाई तो यह है कि वयस्क हो जाने पर जैसे व्यक्ति अपने लिए कोई ऐसी सीमाबन्दी नहीं चाहता जो कि उसे बचपन में मिली रहती है, वह यही चाहता है कि अब उसके साथ भी वैसा ही व्यवहार किया जाना चाहिए जो कि किसी वयस्क के साथ किया जाता है। यही बात साहित्य के बारे में भी सत्य है। जब साहित्य के किसी माध्यम के साथ नया विशेषण जोड़ने का आग्रह किया जाता है, तब तात्पर्य यही हुआ करता है कि अभी उसे गंभीरता से लेने की कोई आवश्यकता नहीं है। इस तरह की माँग का उद्देश्य ही यह होता है कि अभी उनके लेखन में वह परिपक्वता नहीं आयी है जो साहित्य कहलाने के लिए आवश्यक होता है। लोग भी तब ऐसे साहित्य को पढ़ते हुए या उसे आँकते हुए कुछ नरमी से काम लेते हैं। आरम्भ में भी ऐसी माँग करना किसी भी स्वत्वान् लेखक को स्वीकार नहीं होना चाहिए। पर आजकल नयी कविता की तरह हर चीज नयी हो गयी है। जहाँ तक मैं जानता हूँ, नये कहानीकारों में ऐसा कोई नहीं होगा जो साहित्य में अपने लिए इस प्रकार की रियायत चाहेगा कि उसकी कहानी को चेखव या ओ' हेनरी, मोपासाँ या हेमिंग्वे की कहानियों के साथ न परखा जाए। साहित्य का जब प्रणयन हो जाता है तब यह पाठक निर्णय करता है कि यह कहानी या यह कविता किस अर्थ में अपने पूर्ववर्ती साहित्य से विशिष्ट है। लेखक, पाठक से यह रियायत मात्र इसलिए नहीं माँग सकता है कि भाई और जैनेन्द्र तो मंजे हुए कहानीकार हैं उनकी बात छोड़ो तुम हमें इसलिए

पढ़ो कि हम नये हैं और हमारे नयेपन के साथ थोड़ी रियायत बरतो। इसके पूर्व कि हम कोई अन्तिम राय बनायें, सम्भव है कि नयी और पुरानी कहानी में जो अन्तर है वह उनके सामाजिक बोध में हो और इसे किसी अन्य तरह से नहीं बताया जा सकता था, इसलिए 'नये' का लेबिल आवश्यक हुआ। वैसे पुरानी कहानी में भी तो यह सामाजिक बोध था ही, और आज की कहानी में भी यह है। पुरानी कहानी का भी उद्देश्य लोक कल्याण था और उससे मिलता-जुलता उद्देश्य नयी कहानी का भी है। तब दोनों प्रकार की कहानियों में अन्तर क्या रह जाता है? सम्भव है इस सामाजिक बोध के निरूपण में ही नयी कहानी की विशिष्टता हो। लेकिन ऐसा निरूपण तो परिस्थितियों से शासित होगा। कल, आज जैसी परिस्थितियाँ नहीं थीं और न आज, कल जैसी परिस्थितियों का पिछड़ापन है। पहले का बच्चा हवाई जहाज को चीलगाड़ी कहता था जो कि कभी-कभार उनके कस्बे पर से बड़े ऊँचे आकाश में उड़ कर निकल जाया करता था, जबकि आज का बच्चा डेकोटा, हण्टर, जेट, मेंटेलाइट आदि सब जानता है। परिपार्श्व के बदल जाने से व्यक्ति की जानकारी का क्षेत्र अवश्य विस्तृत हो जाता है लेकिन आमूल व्यक्ति ही ऐसा बदल जाता हो कि मानवीय मूल्यों की उपयोगिता ही उसके लिए निरर्थक हो जाती हो, यह कोई समझदार तो नहीं कह सकता। कितनी ही वैज्ञानिक सम्पन्नता क्यों न बढ़ जाए, मन की रागात्मकता तो यही रहेगी। मानवीय सम्बन्धों के जिस नये हो जाने की चर्चा की जाती है, वे निःसन्देह महत्वपूर्ण है, लेकिन लेखक का दृष्टिकोण यदि मात्र मनोरंजन होगा, तब तो निश्चय ही वह उन नये मानवीय तनावों को कौशल के साथ प्रस्तुत कर अपना काम समाप्त समझेगा। यदि नयी कहानी की पुरानी कहानी से इसी अर्थ में भिन्नता है तब तो वह बदले हुए जीवन की भिन्नता है, न कि बदली हुई जीवन दृष्टि की। साहित्य में जीवन का नहीं, बल्कि जीवन-दृष्टि का महत्व हुआ करता है।

तब नयी और पुरानी कहानी में किस चीज का अन्तर है? क्या यह भिन्नता शिल्प की भिन्नता से मतलब नहीं रखती है? इसका यह तो तात्पर्य कहीं नहीं है कि आज कहानी का फार्म इतना उन्मुक्त, स्वच्छन्द या लचीला हो गया है कि साहित्य की अनेक विधाओं की विशेषताएँ इसमें समाहित हो गयी हैं। यदि यह बात है तो यह भी तो कहानी के विन्यास से ही मतलब रखती है; भला इसके लिए नयी-पुरानी का झगड़ा क्या उचित है? जब तक साहित्य के मूल आधार विषय में अन्तर नहीं आता, तब तक अपने को इस सीमा तक पृथक् घोषित करना कि वह किसी को भी आपत्तिजनक लगे, व्यर्थ है। पुरातनपंथी शिल्प अथवा नूतन शिल्प स्वयं में कोई साध्य नहीं होते। यशपाल की यथार्थबोध वाली कहानियों से अमरकान्त या राकेश की यथार्थबोध वाली कहानियाँ किस रूप में आगे या नयी हैं? अलग वे अवश्य हैं लेकिन ऐसा अलगाव तो दो समकालीन लेखकों में भी हो सकता है। यदि विशिष्ट मनोदशा या विशेष उदास परिस्थिति या एकान्त विषमता की बात नयी कहानी में प्रमुख हुई है तो अज्ञेय की कहानियों में भी इस प्रकार का वातावरण मिल जायेगा। तब कृष्णा सोबती या निर्मल वर्मा में इसके अलावा और कौन सी नवीनता है? ये कहानीकार यह क्या नहीं समझते कि किसी भी रचना की उसके निजी कौशल विशिष्ट

सन्दर्भ तथा प्रतिपादित रागात्मक ऐश्वर्यबोध हुआ करता है न कि उसका मात्र नया होना। यह हो सकता है कि यशपाल और अज्ञेय में कला की कसावट अधिक हो और इन नये कहानीकारों मे ढीले-ढाले बुनावट की सुषमा हो।

यह कहा जाता है कि पुरानी कहानी 'फार्मवादी' हुआ करती थी। उसका आरम्भ हुआ करता था, मध्य होता था, कहानी तब विकास करती दिखलायी जाती थी और फिर कहानी सुखान्त या दुखान्त में परिणत हो जाती थी। आज कहानी में यह सब नहीं होता। किसी भी विन्दु से वह शुरू हो कर कहीं पर भी समाप्त हो सकती है। मुझे इसमें भी कोई आपत्ति नहीं दिखलायी देती कि कहानी ऐसा क्यों नहीं करे? लेकिन इससे पहले यह प्रश्न होता है कि शिल्प कितना ही लचकीला क्यों न हो, उसका अपना तर्क तो है ही। बुनावट की इस प्रक्रिया को तो नहीं बदला जा सकता कि उसे शुरू होना ही होगा और कहीं पर उसे शेष भी होना ही होगा। इतनी बाध्यता के बाद आप उसमें कैसी बुनावट डालते है, इससे उसके 'फ्रेम-वर्क' पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि यदि फार्मूले वाली कहानी अपने सारे शिल्प का निर्वाह करते हुए भी मन पर वांछित प्रभाव नही डालती है, और इसके विपरीत आज की कहानी भले ही वह निबन्ध की शैली में ही क्यो न लिखी गयी हो, पाठक पर वांछित प्रभाव डालती है तो निश्चय ही उसके द्वारा लेखक ने पाठक तक माल ईमानदारी से पहुँचा दिया है, बिना कहानी के परंपरावादी शिल्प की चिन्ता किये हुए। लेकिन यदि इतनी स्वतंत्रता होने के बाद भी यदि बात नहीं बनती और इसके विपरीत किसी पुरानी कहानी का वांछित प्रभाव पाठक पर पड़ता है तो, वह उस समय उस कहानी को यह कह कर अलग नहीं रख देगा कि यह कहानी तो पुरानी है और वह आधुनिक पाठक है। इसका तात्पर्य यही निकला कि यदि लेखक के पास जीवन का कच्चा माल है तो उसे वह किसी भी शिल्प के द्वारा पहुँचाये, इससे कोई खास अन्तर नहीं पड़ता।

इसके अलावा यह भी तर्क दिया जाता है कि पुरानी कहानी ने चाहे व्यक्ति लिये हो अथवा सामाजिक स्थितियाँ, उन्हें एक 'टाइप' में प्रस्तुत किया जाता रहा है। इसके विपरीत नयी कहानी के लिए कहा जाता है कि उसने उन्हें अपनी कला-सम्पदा के कारण भाव-सत्ता प्रदान की है। वैसे इस प्रकार की बातें विवादास्पद हो सकती हैं और होती भी है। सिद्धान्त रूप में यह माना जाता है कि किसी भी चरित्र का सृजन किसी विशेष जीवन के सत्य या परिस्थिति को प्रस्तुत करने के लिए किया जाता है। जब तक ऐसा चरित्र उस उल्लिखित या सृजित वातावरण में अपनी सम्पूर्णता के साथ सामने नहीं आता है तब तक वह चरित्र प्रतीक न बन कर एक टाइप रूप में ही माना जाएगा। वैसे इस प्रकार के टाइप चरित्र भी महत्वपूर्ण हो सकते हैं, पर साहित्य के विशाल कैनवास में प्रतीक चरित्रों का ही महत्व होता है। इसका अर्थ हुआ कि प्रतीक चरित्र के निर्माण के लिए लेखक में वांछित तटस्थता की आवश्यकता होती है तथा जीवन एवं मानवीय व्यवहार के सारे पक्षों का गहन अध्ययन उसके लिए अनिवार्य है। इसे कुछ आधुनिक अपने ढङ्ग से या गोलमाल तरीके से कहते हैं कि आज का लेखक अपने चरित्रों को अपनी कला सम्पदा के द्वारा उन्हें भाव सत्ता प्रदान करता है

अच्छा तो यह होगा कि कुछ उदाहरणों के द्वारा यह बात सामने आ जाए कि [illegible] न आधुनिकों के द्वारा कौन-सा ऐसा प्रतीक चरित्र निर्मित हुआ जिसे उनके पहले लेखक नहीं निर्मित कर सके या कर सके तो वह टाइप के स्तर से ऊपर नहीं उठ पाया। यहाँ यह बात भी स्पष्ट कर दी जाए कि हम उदाहरण भी केवल हिन्दी-साहित्य से ही लेंगे। मुझे इस सम्बन्ध में प्रेमचंद की दो कहानियाँ स्मरण आती हैं, एक तो 'बड़े भाई साहब' तथा दूसरी कहानी 'शतरञ्ज के खिलाड़ी'। इन्हें कला के किसी स्तर पर देखा जाए तो भी ये कहानियाँ आज के एकदम बदले हुए वातावरण में भी नये-नये सन्दर्भों में घटित होती लगती हैं। बड़े भाई साहब कहानी का मुख्य पात्र अपनी व्यक्ति-वाचक संज्ञा को कभी का छोड़ चुका है। उस पात्र का देश-काल भी उससे अलग हट गया है और वह ऐसे प्रतीक रूप में आज भी मध्यमवर्गीय घरों में विशेष रूप से उसी मुद्रा में अपने बड़े होने के मिथ्या-बोध को अपने से छोटों पर लादने के लिए संलग्न है जैसा कि वह प्रेमचन्द युग में रहा होगा। टाइप वाला चरित्र इस प्रकार देश-काल का उल्लङ्घन नहीं किया करता, बल्कि वह या तो अपने युग के साथ ही समाप्त हो जाता है या फिर यदि जीवित भी रहता है तो उसी किताब के दायरे में बन्द रहता है। इसी तरह हम चाहें तो 'शतरञ्ज के खिलाड़ी' के नवाबी युग के दोनों शौकीन पात्रों को भी आज के सन्दर्भ में देख सकते हैं। सम्भव है कि उनके वक्त में इस दौर शतरञ्ज न होकर और ही कुछ हो तथा ये दोनों किसी टूटी मस्जिद की तलाश में न जाकर किसी एकान्त रेस्तराँ की फिराक में निकले हुए हों। साहित्य में परिपार्श्व की महत्ता केवल इतनी ही हुआ करती है कि वह पात्र या चरित्र को विश्वसनीयता प्रदान कर सके। प्रतीक चरित्र की विशेषता ही यह होती है कि वह कालान्तर से परिपार्श्व से ऊपर उठ कर सार्वदेशिकता प्राप्त कर सके। इसी सन्दर्भ में मुझे प्रेमचन्द का अमर पात्र 'होरी' याद आता है। आज भी वह भारतीय किसान का प्रतिनिधित्व उतने ही सबल रूप में करता है जितना कि सन् १९३० के आसपास करता रहा होगा जब कि उसके लेखक ने उसका प्रणयन किया था। मैं यहाँ जान बूझ कर रामायण या महाभारत के चरित्रों की चर्चा नहीं कर रहा हूँ क्योंकि ये चरित्र अब प्रतीक की भी स्थिति पार कर मूल्यों के स्तर पर प्रस्थापित हैं। अस्तु, अब हम देखें कि आधुनिकों के द्वारा वह कौन सा चरित्र निर्मित हुआ जो टाइप न हो कर प्रतीक है। यहाँ एक बात का स्पष्टीकरण और आवश्यक है कि कहानी के माध्यम से कैसा ही सक्षम कहानीकार कभी ऐसा कालजयी चरित्र पैदा नहीं कर सकता है जैसा कि महाकाव्य या उपन्यास के द्वारा सम्भव है। ऐसा इसलिए नहीं हो सकता है कि कहानी कितनी ही रूप की छूट क्यों न ले ले, फिर भी उसका सीमित दायरा इतना नहीं बड़ा किया जा सकता कि वह जीवन के विविध पक्ष को प्रत्यक्ष कर सके। तो, आज के किसी भी प्रमुख कहानीकार (मेरा तात्पर्य आधुनिक कहानीकार से है) जैसे निर्मल वर्मा, कृष्णा सोबती, कमलेश्वर, अमरकान्त, राकेश आदि की एक-एक दो-दो कहानियाँ जो प्रसिद्ध हुईं, उनको सामने रख कर क्या कोई ऐसी कहानी कही जा सकती है जिसके आधार पर इन लोगों का दावा सही माना जाए? निर्मल की 'परिन्दे' नामक कहानी आप पर वातावरण का प्रभाव छोड़ती है न कि उस मानवीय त्रासदी का आप पर गहरा प्रभाव होता है जिसके

लिए कि वह कहानी लिखी गयी है या लिखी जानी चाहिए थी। वैसे सोबती की कहानी 'बादलों के घेरे' अधिक सूक्ष्म कहानी है। अमरकान्त की अति प्रसिद्ध दो कहानियाँ—'डिप्टी कलक्टरी' और 'हत्यारे' में से पहली कहानी का मर्म अवश्य महत्त्वपूर्ण है पर उस कहानी को अच्छी कला-सम्पदा नहीं प्राप्त हो सकी, फलतः वह कहानी मार्मिक होते हुए भी उस दावे की पूर्ति नहीं करती है। 'हत्यारे' में वातावरण की पकड़ अद्वितीय है पर उसका जीवन-मर्म कोई विशेष नहीं है। हम कह सकते है कि उस कहानी की विशिष्टता ही यह है कि बात तो यों हो सी थी पर कहानी अच्छी बन पड़ी है। राकेश की कहानी 'मिसपाल' अच्छी कहानी मानी जाती है पर जहाँ तक उसके चरित्र का प्रश्न है, वह अपनी अनेक सम्भावनाओं के साथ कहानी के सीमित दायरे में बुझ सा गया लगता है। कहानी के लिए विषय का चुनाव अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है, विशेषकर राकेश जैसे घटना-प्रधान कहानीकारों के लिए। राकेश की अन्य सामाजिक कहानियाँ अपने परिवेश से ऊपर उठकर उस सत्य पर नहीं टकरातीं जहाँ किसी भी कृति को टकराना होता है और जिसके बिना रचना में वह दीप्ति नहीं आती जो उसे कालजयी होने के लिए जरूरी है। कमलेश्वर की 'नीली झील' या 'बदली दिशाएँ' अच्छी कहानियाँ हैं लेकिन इसके आगे वे क्या है या क्या होना चाहती थीं, यह कह सकना कठिन है।

ऊपर के विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि यदि पुराने कहानीकारों के अपने टाइप होते थे या उनका सीमित परिवेश हुआ करता था तो यही बात निःसंकोच भाव से बल्कि अधिक कटुता के साथ इन नये कहानीकारों के बारे में भी कही जा सकती है, बल्कि कही जानी चाहिये। सचाई तो यह है कि इन नये कहानीकारों से उनके तथाकथित कला-सम्पदा के कुछ आजमूदा लटके ले लिये जाँय तो सम्भव है कि ये लोग कोई कहानी ही न लिखें। निर्मल और राकेश इसके अच्छे उदाहरण हैं। आश्चर्य है कि ये लोग अपने लेखन की श्रेष्ठता सिद्ध करने के स्थान पर व्हिस्कियों के नामों, आधुनिक रेस्तराँओं के नये खाद्य-प्रकारों की चर्चाओं के द्वारा यह बताना चाहते हैं कि आज कहानी पहले से इतनी अधिक भिन्न हो गयी है कि पुराने कहानीकारों की चर्चा करना भी इन नयी के सन्दर्भ में अपमानजनक है।

जहाँ तक पाठक का प्रश्न है, वह कहानी पढ़ना चाहेगा और वह भी ऐसी कहानी जो उसे बाँधे। यदि नयी कहानी उसे दो-एक बार चौंकाती है या उस पर रोब गालिब करती है शराबों के ब्योरों के द्वारा तो, वह एक सीमा तक तो सहन कर कर लेगा, पर इससे अधिक नहीं। वह कहानीकारों की भाँति 'नयी' विशेषण के प्रति प्रतिश्रुत इस सीमा तक नहीं है कि नयी के नाम पर वह कुछ भी पढ़ता रहे। पाठक तो उस दृष्टि या बात को चाहता है जिसमें लेखक उसे भागीदार बनाये। यों कहा जा सकता है कि वह दृष्टि या बात ही आज आधुनिक हो गयी है और आज की कहानी में अकेली सामाजिकता की विपन्न दृष्टि ही मिलती है, तो क्या यही आधुनिक दृष्टि है? यह बात सर्वविदित है कि वैज्ञानिक अर्थ में आधुनिकता संकुचित दृष्टि नहीं है। प्रमाण है कि विज्ञान ने वस्तु व्यक्ति तथा विचार इन सब मे भाव-बोध का इतना ठोस विस्तार कर दिया है कि कभी-कभी वह

अविश्वसनीय लगने लगता है। विज्ञान क्रमश: संकुचितता ढाहता गया है या जा रहा है, जो कि इस आधुनिकता का जनक है। इसलिए यदि हम इस निर्णय पर पहुँचें कि आज की नयी कहानी और कुछ भले ही हो, आधुनिक नहीं है तो गलत नहीं होगा।

बात वैसे तो बड़ी दकियानूस है पर सत्य यही है कि व्यक्ति का साहित्य उसका व्यक्तित्व है। आज के कहानीकारों ने जो आपसी चरित्र-लेख लिखे हैं, जरा उन्हें भी आप देख जाएं तो बहुत कुछ स्पष्ट हो जाएगा। स्पष्टवादिता के नाम पर लिखे गये ये चरित्र-लेख पढ़ कर किसी भी घटिया पाठक तक को यह लगेगा कि वह भी इस 'हस्साल्लावाद' का सरलता से सदस्य हो सकता है। इसलिए मुझे जाने क्यों लगता है कि सामाजिक अकेलेपन में घुटता हुआ, परम्परा एवं मूल्यों से विच्युत कोई साधारण पाठक कंधे पर ट्रांजिस्टर लटकाये कहानी लिखने बैठ गया है। फलस्वरूप वह अकेला व्यक्ति, अकेली सामाजिकताओं में बद्ध तथाकथित आधुनिक वातावरण की रंगीनी आड़ में ऐसी सैक्सी कहानियाँ लिख रहा है जिसके विरुद्ध कुछ कहना अनाधुनिक होना है। क्योंकि वह अकेला व्यक्ति, व्यक्ति न हो कर आज की प्रवृत्ति है, वह एकवचन न होकर बहुवचन है। इसलिए अब यह आवश्यक है कि नयी कहानी की इस विषमता तथा खोखलेपन को दो टूक ढंग से कहा जाय और इस साहित्य के समूचे संदर्भ में विचार किया जाय।

●

अस्तित्ववाद और हिन्दी-कथा साहित्य

• सुरेश सिन्हा

पिछले दो दशकों में हिन्दी-कथा साहित्य ने दार्शनिक आधार के लिए अनेक नवीनतम पश्चिमी प्रवृत्तियों को अपनाया है। इसका कारण कदाचित् यही है कि आज जब हम किसी जीवन-दर्शन की बात करते हैं, तो हमें कोई भारतीय परम्परा इस सन्दर्भ में नही प्राप्त होती। जो भारतीय दर्शन प्राप्त होता भी है, वह आधुनिक परिवेश में अनुपयुक्त ही नही, अव्यावहारिक भी प्रतीत होता है। इसलिए पश्चिम की ओर दृष्टि उठाकर देखना आधुनिक कथा-साहित्य की विवशता ही नहीं, एक अनिवार्य शर्त भी बन गई है। यह बात दूसरी है कि पश्चिम से अपनाई गई प्रवृत्तियाँ हमारे लिए कहाँ तक उपयोगी हैं या कहाँ तक उन्हे भारतीय आधार एवं तत्सम्बन्धित सन्दर्भों में प्रतिष्ठित करने में हमें सफलता प्राप्त हुई है किन्तु इन अपनाई गई नवीनतम प्रवृत्तियों में अस्तित्ववाद प्रमुख है।

अस्तित्ववाद के सम्बन्ध में प्राय: जब चर्चा की जाती है, तो यह मानकर की जाती है कि वह निराशा, कुण्ठा एवं अव्यावहारिक जीवन-दर्शन है। इस सम्बन्ध में अधिक न कहकर मैं इतना ही कहूँगा कि पूर्वाग्रहों से प्रभावित होकर कोई चर्चा करना न केवल असङ्गत बात है, वरन् बौद्धिक दिवालिएपन का भी प्रतीक है, विशेषतया उस समय जबकि हम किसी पश्चिमी जीवन-दर्शन की चर्चा करते है। क्योंकि उस समय आवश्यक बात यह होती है कि चर्चा-परिचर्चा भी स्थान, देशकाल एवं तत्कालीन सन्दर्भों में ही होनी चाहिए, न कि हमारे अपने सन्दर्भों में। अस्तु, अस्तित्ववाद साहित्य का एक तर्कशास्त्र है, एक मनोविज्ञान और दर्शन है और इसी रूप में वह अपना कुछ महत्त्व रखता है। इस दर्शन ने जीवन पर अपना विशेष प्रभाव डाला है और अमूर्त्त को ठोस रूप से समझने के उद्देश्य से व्यक्ति के अध्ययन पर बल दिया है। इसने अपने आपको भविष्यवक्ता मानकर भूत और वर्तमान को समझने का प्रयत्न किया है। यह जीवन से टकराता है और उस इच्छा को पूर्ण करता है जिसको अस्तित्ववाद के वास्तविक प्रवर्त्तक सॉरेन किर्कगार्ड ने प्रकट किया था कि हम जीवन में आगे गतिशील होते तो हैं, पर सोचते-समझते पीछे हैं। दूसरे शब्दों में हम दिशोन्मुख होते हैं आगत की ओर, पर विगत हमारे लिए उससे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण होता है।

जीवन और दर्शन के मध्य इस टकराहट ने साहित्य को प्रभावित किया है। इसने जीवन के ऊपर आरोपित आभूषण के रूप में बने रहने मे ही अपना सन्तोष नही प्रकट किया

अथवा कल्पना एवं सङ्गीत का सौन्दर्य मात्र बने रहने तक ही वह सीमित नहीं रहा, वरन् इसने आगे बढ़कर आधुनिक मानव के उत्पीड़न और उसके दुर्भाग्य की कालिमा का सामना किया। इसने प्रत्येक बातों के सम्बन्ध में नए प्रश्न किए और जीवन के सतही रूप तक ही सीमित रहने की बात को अस्वीकार कर क्रान्तिकारी बनने के प्रति वह कृतसङ्कल्प हुआ। कृतसङ्कल्प इस अर्थ में, जैसा कि मार्क्स ने हीगल के दर्शन की आलोचना करते समय कहा था कि हमें प्रत्येक बातों की जड़ में जाना चाहिए और प्रत्येक बातों की जड़ मनुष्य स्वयं ही है। कुछ आलोचकों ने अस्तित्ववाद को सर्व-सामान्य अस्वीकृति दिलाने का प्रयत्न यह कहकर किया है कि यह एक अस्वस्थ विचारधारा है जो युद्धोपरान्त भी यूरोप की अपनी राजनीति एवं आर्थिक समस्याओं से पलायन कर दर्शन की छांव में शरण लेने के फलस्वरूप उत्पन्न हुई है। यह सत्य है कि युद्धोपरान्त यूरोप की भावधारा नैराश्यमूलक थी, पर नैराश्य हतोत्साहित होने की भूमिका नहीं है। प्रायः यह उसके विपरीत होती है। कुछ अस्तित्ववादियों का कहना है कि उन्होंने इस नैराश्य को साहसपूर्वक रचनात्मक स्तर पर ग्रहण किया है और उनकी दार्शनिक मनोवृत्ति मनुष्य की स्वतन्त्रता में तथा मनुष्य द्वारा स्वयं अपना भाग्य परिवर्तित करने के उत्तरदायित्व में अन्तर्निहित है। उनके कथनानुसार युद्धोपरान्त यूरोप के लिए यह नितान्त स्वाभाविक था कि वह ऐसी विचारधारा को जन्म दे जिसमें त्रास के अनुभवों, पूर्व-स्थापित व्यवस्था की असफलता, युद्ध की भयंकरता, क्रान्तियों तथा हिंसा एवं रक्तपात के फलस्वरूप उत्पन्न भय एवं अरक्षा की भावना का समावेश हो। कामू का कहना था कि अरक्षा की भावना ही मनुष्य को सोचने के लिए विवश करती है।

इसी प्रकार इस सम्बन्ध में और बहुत-सी बातें कही गई हैं, पर वे भ्रान्ति ही उत्पन्न करती हैं और स्पष्ट बातों को अर्थहीन ढङ्ग से उलझा देती हैं। अस्तित्ववाद का जन्म द्वितीय महायुद्ध के परिणामस्वरूप नहीं हुआ है। किर्केगार्ड और नीत्शे का चिन्तन, जिससे यह दर्शन बहुत प्रभावित है, बहुत पहले सन् १६१० के लगभग ही प्रकाशित हो चुका था, बल्कि उससे भी पहले। ज्याँ पॉल सार्त्र का जीवन-चिन्तन, कामू तथा कैलीगुला की विचारधारा भी १६३६ तक प्रकाश में आ चुकी थी और अस्तित्ववाद का दर्शन प्रथम बार १६४१ में सामान्य रूप से स्पष्ट हुआ। यह वह समय था, जब जीवन की सभी सुरक्षित और सामान्य स्थितियाँ अव्यवस्थित हो चुकी थीं और जर्मन कैम्पों में होने वाली मौतें और विश्व की प्रत्येक दिशाओं से बम फेंकने, गोलियाँ चलाने और आक्रमण करने की निरन्तर दी जाने वाली धमकियाँ स्त्री और पुरुषों को इस बात का आमंत्रण दे रही थीं कि वे आगे आकर जीने और साथ-ही-साथ मरने के नए रास्तों का अन्वेषण करें।

इस विचार-विमर्श की नई उत्पन्न स्थिति ने जीवन और मृत्यु की नवीनतम संश्लिष्ट विचारधारा को जन्म दिया और सारी बातें मनुष्य स्तर पर सोची जाने लगीं। अस्तित्ववाद का काल्पनिक साहित्य-सृजन में विश्वास नहीं रहता। वह जीवन के नित्यप्रति के स्वाभाविक सङ्घर्षों को महत्त्व प्रदान करता है। वह मानव-मुक्ति के प्रति गम्भीर रूप से आस्थावान है। जूलियन बेन्दा के अनुसार अस्तित्ववाद भाव तथा विचार के प्रति जीवन का विद्रोह है। एमानुएल मौनियर के अनुसार अस्तित्ववाद भावों तथा वस्तुओं के अतिवादी दर्शन के

विरोध में मानवीय दर्शन है एलेन के अनुसार अस्तित्ववाद दर्शक की दृष्टि न होकर अभिनेता की दृष्टि है इस विचार-दर्शन में जीवन की समस्याओं पर विचार भुक्तभोगियों की ओर से होता है। मानव की विवशता से परिपूर्ण एवं असहाय स्थिति से ही अस्तित्ववाद का आरम्भ होता है। मानव जीवन क्षणभंगुर है, कुछ निश्चित नहीं कि जीवन कब अन्त सीमा पर पहुँच जाए। इस अनिश्चयात्मक स्थिति में मनुष्य अपने को अनेक बन्धनों में फँसा हुआ पाता है और देखता है कि उसे स्वच्छन्दता नहीं प्राप्त है। वह अपने जीवन को एक निश्चित अर्थ देना चाहता है, भावाभिव्यक्ति से पूर्ण करना चाहता है और मानव स्वतन्त्रता एवं मुक्ति को उद्‌घोषित करना चाहता है—अस्तित्ववाद की सीमा यही से प्रारम्भ होती है।

हम अस्तित्ववादी जीवन-दर्शन के सभी सूत्रों को एक साथ एकत्रित करें, तो एक समग्र पृष्ठभूमि सामने आती है। इस विचारधारा का प्रथम सूत्र शून्यता का है। अधिकाश दार्शनिकों ने शून्यता को अस्वीकारा है और उस पर विचार-विमर्श करने की भी आवश्यकता नही समझी है, पर अस्तित्ववाद प्रमुख रूप से इसी पर बल देता है। ईश्वर कहीं नहीं है और वह मिथ्या भ्रम है। उसकी सत्ता को अनुपस्थित स्वीकारते हुए ही अस्तित्ववाद शून्यता की स्थिति की कल्पना करता है और अनेक नए मौलिक प्रश्न उठाता है; जैसे मैं क्यो हूँ, अन्य चीजें क्यों अस्तित्व रखती हैं ? भय और आशङ्का में इस शून्यता का अनुभव किया जा सकता है। शून्यता का सामना करते हुए व्यक्ति विकृतियों का अनुभव करता है। अत: वह जीने की एक सहज गति चाहता है, जबकि उसे समाज में ऐसा दृष्टिगोचर नहीं होता। अतः जैसा कि कामू का कहना है, वह अपने आप में प्रत्येक बातों के स्पष्टीकरण की आवश्यकता का अनुभव करता है, क्योंकि वह अपने को भ्रमित अवस्था में तथा चारों ओर से अँधेरे मे घिरा हुआ पाता है। वह जीवन में सुख चाहता है, पर जीवन की वर्तमान स्थितियाँ उसकी इस इच्छा की पूर्णता को असम्भव बना देती हैं। वह चाहता है कि कोई ऐसी शक्ति हो जो उसका दिशा-निर्देशन करे और त्रुटियों के प्रति उसे सावधान करे। वह इसके लिए ईश्वर की तरफ देखता है, पर उसके चिर मौन से उसकी स्थिति और भी भयावह हो जाती है। अस्तित्ववाद इस बात पर बल देता है कि यह विकृतावस्था जो उसके मन और मस्तिष्क को निगल लेती है, उन्हें एक ही दार्शनिक पथ का अनुगमन करने को प्रेरित करती है जिसे नोवैलिस ने आत्महत्या कहा है। किन्तु आत्महत्या से केवल उस तत्त्व का नियन्त्रण हो सकता है जो इस अन्धी सृष्टि की विकृतावस्था का तीव्र विरोध करता है। अस्तित्ववाद ईश्वर की सत्ता के प्रति अनास्था प्रकट करता है। वह इस बात की कल्पना करता है कि ईश्वर के न होते हुए भी सभी चीजें घटित होती हैं। वह नीत्से के प्रसिद्ध सूत्र 'ईश्वर की मृत्यु' से अपना यह निष्कर्ष प्रतिपादित करता है। उसके अनुसार ईश्वर उस भ्रमित सत्ता का नाम है जिस पर हम अपनी 'जिम्मेदारियाँ डालकर भाग्यवादी और फलस्वरूप पलायनवादी बन जाते हैं। इस प्रकार हम अपनी विषमताओं का समाधान स्वयं करने से बचना चाहते हैं। हमें इस भ्रम की स्थिति से बचना चाहिए, अपने आपको समझने का प्रयत्न करते हुए अपने दायित्व का निर्वाह करना चाहिए एव अपनी मानवीय स्थिति को तथा

स्वतन्त्रता को भली-भाँति समझना चाहिए। मनुष्य को इस सृष्टि के दायित्व निर्वाह करने की क्षमता को उत्पन्न कर सारी जिम्मेदारियाँ स्वयं सम्भालनी चाहिए और ईश्वर की अनुपस्थिति अथवा मौनसत्ता के स्थान पर स्वयं अपने को प्रतिष्ठित कर देना चाहिए। उसे स्वयं अपना अस्तित्व निर्मित करना चाहिए और अपनी पूर्ण स्वतन्त्रता स्वीकार करनी चाहिए। यही एक आधार है जिस पर उसका पूर्ण अस्तित्व केन्द्रित होता है।

इस सम्बन्ध में दूसरी प्रमुख बात यह है कि वह मनुष्य के खण्ड रूप को अर्थहीन समझता है। यह विचारधारा मनुष्य के पूर्ण अस्तित्व में विश्वास रखती है। उसके अनुसार वह प्लेटो की गुफा की कोई छाया नहीं है जो आदर्श और स्थायी विचारों की कामना करता हो। वह एक ऐसा नमूना भी नहीं है, जिसे सामान्य अर्थों में 'मानव स्वभाव' कहते हैं। वह फेंके गए पत्थर के समान भी नहीं है जिसे जहाँ चाहे, वहाँ फेंका या रखा जा सकता है। वह सृष्टि में इसीलिए आया है कि अपने अस्तित्व की रक्षा करते हुए जीवन बिताये। यदि उसे ऐसा अवसर सहज रूप में नहीं प्राप्त होता, तो उसे प्रयत्न कर अपने लिए ऐसी स्थिति निर्मित करनी होगी। इस धरती पर उसका कार्य कुछ पूर्वस्थापित योजनाओं को पूर्ण करना मात्र नहीं। वह उन बातों को पूर्ण करने आता है जो स्वयं उसी के लिए विशेष रूप से प्रारम्भ होती है। वह अस्तित्व रखता है, इसके लिए वह स्वयं अपने को महत्व देता है तथा दूसरों को भी महत्व देता है। वह अपने लिए अलग मूल्यों का निर्माण करता है, साथ ही अपने अलग मानव-स्वभाव का भी। ऐसा जीवन विशेषतया वह अपने को आगे गतिशील करके करता है। वह यह विश्वास करता है कि कोई भी कुछ अन्य, नहीं है। यदि कुछ है, तो बस अपना ही अस्तित्व और जीवन है। इस विचारधारा के अनुसार मनुष्य अपने स्वत्व के साथ एक विषय है प्राप्त करने के लिए, न कि एक उद्देश्य है जानने के लिए। अस्तित्ववादी साहित्य मनुष्य की साधारण बातों, प्रकृति, मनोवेगों और समाज के यथार्थ को महत्वहीन समझता है। यह मनुष्य को उसके अस्तित्व के असाधारण महत्व का यथार्थ समझाने का प्रयत्न करते हुए उसी दिशा में गतिशील करता है और हर क्षण अपने स्वत्व की रक्षा के प्रति सचेत रहने को प्रेरित करता है।

यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि अस्तित्ववाद मनुष्य की स्वतन्त्रता को अपना मूलभूत आधार स्वीकारता है। इसके अनुसार मनुष्य को इस बात का पूर्ण अधिकार है कि वह प्रत्येक दृष्टि से स्वतन्त्र हो। वह वही करता है जो उसकी इच्छा होती है। यह स्वतन्त्रता यदि व्यक्ति नहीं चाहता, तो इसीलिए कि उस पर इतने दबाव हैं तथा वह इतना भयभीत है कि इस दिशा में सोच ही नहीं पाता, पर अपनी स्वतन्त्रता का महत्व वह समझता है। यह मनुष्य की एकमात्र सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता है। अतः इस स्वतन्त्रता के प्रति मनुष्य की चेतना को जाग्रत करने और उसे उस दिशा में सक्रिय रूप से प्रयत्नशील बनाने के लिए साहित्यिक रचनाओं तथा राजनीतिक एवं पत्रकारिता सम्बन्धी कार्यों का दायित्व बढ़ जाता है। इस स्वतन्त्रता को प्रत्येक सम्भव प्रयत्नों से प्राप्त करना चाहिए, नहीं तो उसके छिन जाने का भय है। अस्तित्ववादी स्वतन्त्रता उत्तरदायित्व का आधार है। इस प्रकार अस्तित्ववाद एक दर्शन है जो जीने से सम्बन्धित है उपन्यासों एवं नाटकों में इस विचारधारा को लाने और

नया जीवन-दर्शन उभारने का महत्त्वपूर्ण कार्य करने वाले ज्याँ-पॉल सार्त्र (१६०५—) ही समझे जाते हैं, जिन्होंने अपने नाटकों एवं उपन्यासों के माध्यम से इस दर्शन का प्रतिपादन किया। उनके अनुसार मनुष्य का अर्थ है स्वतन्त्रता। इस स्वतन्त्रता का अनुभव मानव-मन मे तभी होता है, जब अपनी जीवन-प्रक्रियाओं के सम्बन्ध में वह तल्लीनतापूर्वक विचार-चिन्तन करता है और उससे जो निष्कर्ष निकालता है वह स्वयं उसीके लिए अत्यन्त भयानक सा प्रतीत होता है। उसे प्रतीत होता है कि सृष्टि की सीमाएँ अत्यन्त व्यापक हैं और इसमें उसकी लघु सत्ता कोई विशेष महत्त्व नहीं रखती। इसके चारो ओर नितान्त शून्य की स्थिति व्याप्त है, जिसमें एक प्रकार से उसका उन्मीलन हो जाता है। इस शून्यता में अपने अस्तित्व के उन्मीलन के भाव से मानव पूर्णतया संत्रस्त हो उठता है और इस शून्य के वातावरण से ऊपर उठकर अपने अस्तित्व की रक्षा करना चाहता है, जिससे उसकी पूर्णता बनी रहे, स्वतन्त्रता अक्षुण्ण रहे और इस सृष्टि की व्यापक सीमाओं के परिवेश में आच्छादित शून्य की बाहें उसे डस न लें। वस्तुत: अस्तित्ववाद का प्रारम्भ मनुष्य की इसी इच्छा से प्रारम्भ होता है।

यहाँ इसे स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि अभी तक दार्शनिकों ने उन दोनों भावनाओ मे अलगाव की स्थिति उत्पन्न की थी जिसमें एक व्यक्ति के अस्तित्व के नियम का कारण था तथा दूसरी यह प्राकृतिक सृष्टि थी, जिसे निश्चय ही शासन करना चाहिए और जिसकी सर्वोच्च सत्ता सर्वोपरि है, उसका उन्मीलन नहीं हो सकता। अस्तित्ववादियों के लिए यह अलगाव की स्थिति ही अभी तक प्राप्त सभी उपलब्धियों की नींव है और दोनों के मध्य समझौते की स्थिति उत्पन्न करना तथा इस अलगाव की स्थिति का दमन करना स्वयं व्यक्तिगत अस्तित्व को ही समाप्त करना है। अस्तित्ववाद, हीगल द्वारा प्रतिपादित पूर्णता के सिद्धान्त को दो कारणों से अस्वीकृत कर देता है। प्रथम यह कि इतिहास दूसरों द्वारा किए गए व्यक्तिगत निर्णयों का परिणामसूचक सत्यता से परिपूर्ण निष्कर्ष है और अस्तित्व रखने वाले व्यक्ति के प्रति उसका कोई अधिकार नहीं है, जब तक कि वह व्यक्ति स्वयं उसे ऐसा अधिकार देना नही पसन्द करता। दूसरा यह कि ज्ञान अतीत काल का केवल आंशिक ज्ञान ही हो सकता है; भविष्य की सीमाएँ सदैव खुली रहती हैं। मनुष्य स्वयं ही मनुष्य का भविष्य है। वह काण्ट के अमूर्त्त पूर्णता को एक समाधान के रूप में भी नहीं स्वीकृत कर सकता, क्योंकि मनुष्य में ऐसा तत्त्व नही विद्यमान है, जिसका दूसरों पर शासन करने एवं नियन्त्रित करने का अधिकार है। मनुष्य मात्र वही है, जो वह करता है, तब भी वह इससे भी अधिक कुछ और है। वह अपने आपमें कोई तत्त्व या निष्कर्ष बने, अपने स्वत्त्व और ऐतिहासिक अस्तित्व का वास्तविक बाह्य जगत् में उन्मीलन कर देता है और मानव बन जाता है। इस मानव का स्वरूप वही होता है, जैसा कि वह अपने को बनाता है।

अस्तित्ववाद इसे स्वीकारता है कि व्यक्तित्व की अन्यतम गहराइयों का कोई अधिकृत स्वत्व नहीं है जो अच्छाइयों की आत्मा का रूप होती है और जिसके साथ व्यक्ति प्राय: या कदाचित् कभी भी पूर्ण न्याय नहीं करता। वह इसीलिए, क्योंकि वह सदैव ही सृष्टि में और अपने स्वयं से भी कुछ और रहता है। उसे बराबर चिन्ता बनी रहती है कि वह जो कुछ भी है अगर उससे कम हो , तो फिर उसका क्या होगा ? इसीलिए अच्छाइयो और

बुराइयों में वह अपने स्वयं से भी कुछ और सदैव ही रहता है और यही अलगाव व्यक्तिगत अस्तित्व का सिद्धान्त है। व्यक्ति सदैव चिन्ताग्रस्त रहता है। वह चिल्ला-चिल्लाकर कहता है, मेरी अपनी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता भी कुछ अर्थ रखती है, वह महत्त्वहीन नहीं है। वह प्रत्येक सम्भावित समर्थता से उसकी रक्षा करना चाहता है क्योंकि उसकी आत्मा की आन्तरिक पुकार यही होती है कि उसकी स्वतन्त्रता का अपहरण नहीं होना चाहिए। वह कहता है, समाज में मैं भले ही भिखारी हूँ, उपेक्षित हूँ, रिरिया हुआ कुत्ता हूँ, अपाहिज, लूला, लँगड़ा या विकलाङ्ग हूँ, तिरस्कृत हूँ, पर मैं भी मनुष्य हूँ जिसका अपना एक अलग अस्तित्व है, जो अर्थहीन नहीं है और जिसे खण्ड-खण्ड नहीं किया जा सकता, नष्ट नहीं किया जा सकता किसी भी मूल्य पर, चाहे जो भी हो जाए। वह किन्हीं भी परिस्थितियों में नहीं चाहता कि उसकी स्वतन्त्रता का अपहरण हो और उसका अस्तित्व समाप्त हो जाय। दूसरे शब्दों में, वह बराबर अपने अस्तित्व के लिए सङ्घर्ष करता चलता है। यही आधार वास्तव में अस्तित्ववाद को स्पष्टता प्रदान करता है।

इन प्रमुख तत्त्वों के स्पष्टीकरण से अस्तित्ववाद की अनेक विचित्रताएँ स्पष्ट होती है। वह व्यक्ति को स्वयं उससे ही नहीं अलग कर देता, अपितु इस सारी सृष्टि से भी अलग कर देता है, जहाँ सामूहिकता, सङ्गठन एवं समाज अपने महत्त्व खो देते हैं। इससे दर्शन की अनेक समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं जो इस बात की सङ्गति सिद्ध करने का प्रयत्न कदापि नहीं करतीं कि मनुष्य का स्वयं अपने से ही और इस सारी सृष्टि से अलग हो जाना उचित और तर्कसङ्गत है। बल्कि वे अलगाव की सारी सीमाएँ निरन्तर व्यापक बनाने का प्रयत्न करती हैं और यह सिद्ध करने का यत्न करती हैं कि मनुष्य के लिए यह अलगाव नितान्त अनिवार्य है क्योंकि केवल इसी के माध्यम से वह अपने व्यक्तिगत अस्तित्व की रक्षा कर सकता है और अपनी स्वतन्त्रता का अपहरण होने से बचा सकता है। इस प्रकार अस्तित्ववाद अपने सम्बन्ध में उठाई गई शङ्काओं का समाधान करने का प्रयत्न नहीं करता और न इस प्रकार के प्रयत्न की आवश्यकता को ही अनुभव करता है। इन शङ्काओं की ओर अपना ध्यान वह तभी आकृष्ट करता है और उनके समाधान करने का यत्न तभी करता है, जब वे पूर्ण मानव से सम्बन्धित होकर अनिवार्य और अनुपेक्षणीय बन जाती हैं। ये शङ्काएँ केवल परम्परागत शङ्काएँ नहीं हो सकतीं और न ही ये जिज्ञासा की अरुचिपूर्ण शङ्काएँ ही हो सकती हैं जो ज्ञान की शर्तों या नैतिक एवं सौन्दर्यवादी निर्णयों से सम्बन्धित होती हैं। क्योंकि मनुष्य का स्वयं अपने से और इस वाह्यजगत् से अलगाव की प्रवृत्ति सम्बन्धित जो प्रश्न उठाए जाते हैं, वे सभी प्रश्न स्वयं उसके और इस वस्तुगत विश्व के अस्तित्व से सम्बन्धित हैं। इस अर्थ में अस्तित्ववाद का इतिहास बहुत प्राचीन है, उसका सम्बन्ध दर्शन-शास्त्र के प्रारम्भ से जोड़ा जा सकता है, जबकि इस बात की अपील वह सभी मानवों से करता है कि उन्हें जागना चाहिए और यह समझने का प्रयत्न करना चाहिए कि उनके मनुष्य होने का अन्ततः वास्तविक अर्थ क्या है ? दूसरे शब्दों में वह पुनः यह चेतावनी देने का प्रयत्न करता है कि उनकी खतरे में है, जिसका अपहरण किसी भी क्षण हो सकता है उनका अस्तित्व यहाँ कोई महत्त्व नहीं रखता और जो किसी भी क्षण मिटाया जा सकता है

आश्चर्य है कि ऐसे सङ्कट के समय, जबकि उनकी स्वतन्त्रता, व्यक्तिगत सत्ता और अस्तित्व को इस सृष्टि के व्यापक परिवेश ने जबर्दस्त चुनौती दी है कि वे सो रहे हैं, अपनी स्वतन्त्रता एवं अस्तित्व के सम्बन्ध में किञ्चित् मात्र भी चिन्तित नहीं हैं। अस्तित्व, व्यक्ति को इस सोने से जगाने और अपने को समझने की प्रेरणा देने की एक दार्शनिक प्रक्रिया है। सार्त्र के अनुसार चेतनशील होने का अर्थ यह है कि हम किसी वस्तु-विशेष के प्रति चेतनशील है। चेतनशीलता किसी वस्तु से सम्बन्धित होती है और उससे अलग होती है। वह स्वयं अपने से न तो सम्बन्ध जोड़ती है और न अलग होती है। चेतना का सम्बन्ध इस सृष्टि से विच्छिन्न नहीं किया जा सकता, जो स्वतन्त्र और आत्म-निर्भर है। सृष्टि का सम्बन्ध अवश्य ही चेतना से विच्छिन्न किया जा सकता है। इसलिए नहीं कि चेतना महत्वपूर्ण स्थान रखती है या स्वतन्त्र है, वरन् इसलिए कि वह इस सृष्टि से सम्बन्धित है और उस पर निर्भर है। व्यक्ति वह तत्व नहीं है जो विचार करता है, बल्कि सभी तत्वों का अलगाव है। यह अलगाव कभी पूर्ण नहीं होता। ज्ञान का मूलभूत आदर्श यह है कि किसी भी वस्तु को उसके मूलरूप मे देखा और समझा जाए। किन्तु यह तभी सम्भव हो सकता है जब चेतना, वस्तु के साथ स्वयं अपने आपको पहचाने। तभी न तो कोई चेतनशीलता हो सकती है और न ज्ञान की सम्भावना हो सकती है। अतः ज्ञान का वह अर्थ नहीं है जैसा कि काण्ट के सिद्धान्तों में प्रतिपादित किया गया है कि ज्ञान के माध्यम से हम वस्तुओं को स्वयं उनके मौलिक रूप में जानने और समझने में असमर्थ रहते हैं, वरन् यह कि सीधे-सीधे वह इस सत्य को अभिव्यक्त करता है कि वह पूर्णतया मानवीय है और चेतनशीलता का अलगाव जिससे एक ऐसी सृष्टि का अस्तित्व प्रकाश में आता है, जाना जा सकता है।

ज्ञान हमें पूर्णता की स्थिति में ढकेल देता है। वहाँ वस्तुतः यह बात उल्लेखनीय होती है कि क्या है और उसकी सत्यता क्या है ? सत्य रूप में जो जाना जाता है, वह कुछ और नहीं, वरन् वही पूर्णता है, किन्तु ज्ञान निश्चित रूप से मानवीय है। मानवीय होने के अतिरिक्त वह कुछ और हो ही नहीं सकता। और चूँकि शरीर और समझ दोनों स्वयं ही ज्ञान के प्रथम उद्देश्य है, अतः वह बहुत अधिक तर्कसङ्गत नहीं होगा कि उन्हें ज्ञान के अर्थ अथवा पृष्ठभूमि के रूप में समझा जाए। हम दूसरों के शरीर को जानते हैं और स्वयं मेरा शरीर दूसरे द्वारा जाना जाता है। इस प्रकार दूसरों का अस्तित्व और दूसरों से हमारा सम्बन्ध, शरीर से सम्बन्धित होता है। एक व्यक्ति का दूसरे से सम्बन्ध क्यों है, इसका कोई बौद्धिक कारण बताने में आदर्शवाद और यथार्थवाद दोनों ही नितान्त रूप से असमर्थ रहे है। फलस्वरूप वे स्वयं के अस्तित्व के सिद्धान्त की एकमात्र निश्चितता को भी अस्वीकृत करने में असमर्थ रहे हैं जो विषयगत आदर्शवाद का चरम रूप है। एक व्यक्ति इस बात का अन्वेषण करता है कि उसकी स्वतन्त्रता दूसरों द्वारा नियन्त्रित है और उसका एक वाह्य रूप है जिसे वह कभी नहीं देख सकता और जो उसे पूर्णता प्रदान करती है। इस पूर्णता का सम्बन्ध मात्र मानव से होता है जिसका जीवन समाप्त हो चुका है और जिसकी सम्भावनाएँ भी समाप्त हो चुकी हैं। दूसरे का ध्यान रखते हुए औपचारिकता में वह व्यक्ति

खो जाता है। वह यह भी नहीं जानता कि उस संसार में, जो उसका अपना नहीं है, उसका अस्तित्व कहाँ है ? यही वह परिस्थिति है जो घटित होती है, जबकि वह दूसरे का उद्देश्य बन जाता है और वही इस संसार में इसका सङ्गठन करता है। यह सम्बन्ध इस संसार म शरीरों के मध्य वस्तुगत सम्बन्ध नहीं है। वस्तुतः संसार के बीच कोई सम्बन्ध है ही नही। उस व्यक्ति की उच्चता पीछे छूट जाती है और वह दूसरे की उच्चता के विद्यमान होने के स्पष्ट प्रमाण सामने होने का अनुभव करता है। इस अनुभव में स्वयं के अस्तित्व के सिद्धान्त की एकमात्र निश्चिन्तता का बहिष्कार ही नही होता, बल्कि वह पूर्णतया खण्डित हो जाता है। यह सब दूसरों का ध्यान रखने की औपचारिकता के ही कारण होता है। उस व्यक्ति का और दूसरे का अलगाव दो शरीरों के अलगाव की भाँति नहीं है जो इस संसार में किसी तीसरे के लिए किया जाता है। स्वयं अपने को निश्चिन्त करने के लिए यह व्यक्ति स्वयं अपने को दूसरे का उद्देश्य स्वीकार लेता है।

जैसाकि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है, चेतनशील होने का अर्थ है इस विश्व की पृष्ठभूमि पर किसी वस्तु के प्रति चेतनशील होना। यह चेतनशीलता प्रभावशाली तो है, पर सर्वज्ञ नहीं है। इसे जाना नहीं जा सकता। इस प्रकार शरीर तीन दिशाओं में अपना अस्तित्व बनाए रखता है। प्रथम, वह व्यक्ति अपना शरीर जीता है; दूसरा, उसका शरीर दूसरों द्वारा जाना और प्रयुक्त किया जाता है और तीसरा, जैसे कि दूसरे के लिए वह एक उद्देश्य है, वह दूसरा उसके लिए विषय है और वह स्वयं अपने लिए ही अपना अस्तित्व रखता है जिसे दूसरा एक शरीर के रूप में ही जानता है। प्रेम में यह दूसरे की स्वतन्त्रता ही होती है जो एक को दूसरे से अलग करती है। प्रेम करने में वह यह चाहता है कि जिससे वह प्रेम करता है, वह उसे अपना उद्देश्य बनाए रखने के लिए ही अपना अस्तित्व बनाए रखे और इस प्रकार वह उसके अस्तित्व को अक्षुण्ण बनाए रखने का कारण बने। इसीसे उसे अस्तित्व प्राप्त होता है। वह, जिससे कि प्रेम किया जाता है, तभी प्रेमी बन पाता है, जब उसके अन्दर यह इच्छा दृढ़ हो जाती है कि कोई उससे प्रेम करे। पर कुछ भी हो, हम दूसरे की स्वतन्त्रता का चाहे जितना भी सम्मान क्यों न करें, इसके निराकरण का कोई उपाय क्यों न करें, स्वयं हमारा अस्तित्व दूसरों की स्वतन्त्रता का अपहरण करके उसे नियन्त्रित कर देता है। यहाँ तक कि आत्महत्या भी इस मौलिक स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं ला सकती। पर एक व्यक्ति किसी दूसरे की स्वतन्त्रता का अपहरण नहीं कर सकता और जब वह किसी दूसरे के ध्यान का उद्देश्य बन जाता है, तब वह बदले में स्वयं अपना ध्यान उसे दे देता है; गोया कि दो स्वतन्त्रता सर्वोच्चता के लिए परस्पर सङ्घर्ष करती हैं। पर ज्योंही वह दूसरे को अपना ध्यान दे देता है, दूसरा व्यक्ति तुरन्त ही उसका उद्देश्य बन जाता है। इस अर्थ में, एक दूसरे से घृणा करने की प्रक्रिया में एक व्यक्ति किसी विशेष वस्तु से घृणा नहीं करता, बल्कि उन तत्वों से घृणा करता है जिसके माध्यम से वह दूसरा व्यक्ति उसे अपना उद्देश्य बना लेता है और इन तत्वों से घृणा करके वह व्यक्ति सबको समूल नष्ट करने की इच्छा को जन्म देता है। यह दूसरों के अस्तित्व का सामान्य नियम है।

घृणा एक कलङ्कित भावना है, क्योंकि इसका उद्देश्य एक-दूसरे की को

नष्ट करना होता है। इसीलिए घृणा की निन्दा होनी चाहिए। पर यदि किसी प्रकार घृणा की निन्दा हो भी जाती है, तो भी यह दूसरे की चेतना से कभी छुटकारा नहीं पा सकती और स्वयं के अस्तित्व के सिद्धान्त की एकमात्र निश्चिन्तता के खोए हुए तत्वों को पुनः प्रतिष्ठापित नहीं कर सकती। घृणा वस्तुतः निराशा का अन्तिम अस्त्र है और जैसे कि अपने सङ्गठन के रूप में हम दूसरों के लिए अपने अस्तित्व के सम्बन्ध में चेतनशील रहते हैं, उसी प्रकार हम यह भी जानते हैं कि मानवता के अस्तित्व के परिवेश में अधिक मात्रा में चेतनशीलता की सम्भावना है। यह दूसरों के लिए या तो उद्देश्य या विषय के रूप में अपना अस्तित्व बनाए रखती हैं। यह स्मरण रखना चाहिए कि स्वतन्त्रता मानवीय स्वभाव की सम्पत्ति नहीं है, वरन् मानवीय अस्तित्व है। इस स्वतन्त्रता का पर्दाफ़ाश किया जा सकता है, पर नष्ट नही किया जा सकता। यह सृष्टि मृत्युगत है और अतीतकालीन है। जीवन और स्वतन्त्रता का अर्थ अलगाव है। इस सृष्टि में मनुष्य की स्थिति जीवित रहने का नही, वरन् कार्य करने का एक रूप है, चुनाव करने और अपने आपको बनाने का रूप है। इस प्रकार स्वतन्त्रता स्वयं नहीं जीती, मनुष्य के जीवित रहने की प्रक्रिया है।[२] यहाँ स्वीकृत कर लिया गया है कि व्यक्ति की मौलिक रुचि और कुछ नहीं वरन् वह मार्ग है, जिसमे व्यक्ति स्वयं अपने को अपने से और इस संसार से अलग करता है। इस संसार में उसके रहने का यह ढङ्ग है, इसके आगे कदम बढ़ाना बिल्कुल ही सम्भव नहीं है।

यह विश्लेषण एक अस्तित्त्वादी मनोविश्लेषण की सम्भावना की ओर सङ्केत करता है जिसके माध्यम से व्यक्तित्व और व्यवहार को समझा और समझाया जा सकता है। यह फ्रायड द्वारा प्रतिपादित मनोविश्लेषण सिद्धान्त, विशेषतया उसके अतीतकालीन घटनाओं, अतृप्त आकांक्षाओं, वासनाओं एवं कामनाओं वाले अवचेतन मन के सिद्धान्त से भिन्न है। यह परिस्थितियों एवं वातावरण के दबाव पर बल देता है। व्यक्ति स्वयं अपने कार्यों से अपने चारो ओर के परिवेश को अर्थ की अभिव्यक्ति देता है, साथ ही उन घटनाओं को भी, जो उसके कार्यों को प्रभावित करती हैं। वह स्वयं अपनी परिस्थिति निर्मित करता है और स्वयं ही उसके प्रति उत्तरदायी है। यह वह स्थिति है जिसमें व्यक्ति स्वतन्त्र होता है और जब वह व्यक्ति, जो कुछ वहाँ है, उससे अपनी चेतनशीलता में अलग हो जाता है, तब वह सृष्टि का निर्माण नहीं करता, वरन् उसके अस्तित्व और अपने लिए उसके अर्थ का निर्माण करता है। सार्त्र के अनुसार मृत्यु आकस्मिक होती है, इसीलिए वह निन्दनीय है। वह जीवन को उसके अर्थ की अभिव्यक्ति देने में असमर्थ रहती है। वह उस अर्थ को सन्देह एवं रहस्य की स्थिति मे छोड़ सकती है, अतः मृत्यु किसी व्यक्ति की विचित्र सम्भावना नहीं हो सकती। जीवन स्वयं अपने अर्थ का निर्माण करता है, क्योंकि वह सदैव रहस्य में रहता है। मृत्यु, जीवन की ही भाँति शुद्ध सत्य है। व्यक्ति की स्वतन्त्रता में उत्तरदायित्व की भावना निहित रहती है। इस उत्तरदायित्व से बच निकलने की किसी सम्भावना के बिना व्यक्ति अपने उद्देश्यों के प्रति स्वयं ही उत्तरदायी होता है, क्योंकि वह केवल उसका अपना उद्देश्य होता है और वही उद्देश्य उसकी स्थितियों को निश्चित करता है। वह जीया जाता है, सहा नहीं जाता और व्यक्ति अपने जीवन की ऊंची-नीची राहों अच्छे-बुरे कार्यों के प्रति स्वय उत्तरदायी होता है क्योंकि

वही अपने जीवन-इतिहास का लेखक होता है।[3] यहाँ तक कि यदि उसके जीवन में कोई युद्ध होता है, तो वह उस युद्ध के लिए उत्तरदायी है। सार्त्र के इस अस्तित्ववादी सिद्धान्त को यह कहकर कि उसका दर्शन निराशावादी और घुटन से परिपूर्ण है, अस्वीकृत किए जाने का प्रयत्न किया जाता है। उस पर यह भी दोषारोपण लगाया जाता है कि उसका सिद्धान्त मानव-जीवन की समस्याओं पर कोई प्रकाश नहीं डालता और न किसी को इस बात में सहायता देता है कि वह कैसे और भी अच्छे एवं तर्कसङ्गत ढङ्ग से अपना जीवन बिता सकें।

हिन्दी-कथा-साहित्य ने अस्तित्ववाद को फ़ैशन के रूप में ही ग्रहण किया है, यह बात मैं जानबूझ कर कह रहा हूँ। फ़ैशन के रूप में इसलिए कि अस्तित्ववाद की मूल प्रवृत्तियां भारतीय जीवन-चिन्तन से मेल नहीं खातीं। योरोप में युद्धोपरान्त जीवन की जो विषम प्रक्रिया हुई थी और फलस्वरूप जिस भयङ्कर नैराश्य, जीवन के प्रति अनास्था एवं अनीश्वरवाद का जन्म हुआ था, उसमें यह अवश्यम्भावी था कि मनुष्य अपने अस्तित्व के प्रति सचेत हो। यहाँ ऐसी परिस्थिति नहीं है, वरन् यहाँ की स्थितियां पूर्णतया भिन्न हैं। व्यक्ति का अस्तित्व यहाँ उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है, जितना सामाजिक पुनर्निर्माण एवं राष्ट्रीय उत्थान का। यहाँ का जन-मानस युद्ध-संत्रस्त नहीं है, वरन् इसके विपरीत यहाँ जन-चेतना निर्मित हुई है। कदाचित् यही कारण है कि हिन्दी उपन्यास-साहित्य पर अस्तित्ववाद का अभी विशेष प्रभाव लक्षित नहीं होता। अज्ञेय ने अपने 'शेखर : एक जीवनी' तथा 'नदी के द्वीप' में इसका आंशिक रूप से चित्रण किया है। उनका नवीनतम उपन्यास 'अपने-अपने अजनबी' शुद्ध रूप से पहला हिन्दी का अस्तित्ववादी उपन्यास है।

'अपने-अपने अजनबी' (१९६१) में अस्तित्ववाद के सूत्र सरलता से स्पष्टतः खोजे जा सकते हैं। वृद्धा सेलमा गडेरियों की माँ है जो पहाड़ पर रहती है। हर बार सर्दियों में वह अपने दोनों बेटों के साथ नीचे चली जाती है, पर इस बार नहीं गई थी। योके स्वेच्छा से सैर करने वहाँ आई थी जो बर्फ़ में घिर कर सेलमा के यहाँ शरण पाती है। बर्फ़ का तूफ़ान जबर्दस्त था; वह कब समाप्त होगा, यह अनिश्चित सा था। यह भी अनिश्चित था कि बर्फ़ का तूफ़ान समाप्त होने के पूर्व लकड़ियाँ और भोजन-सामग्री चल पाएगी या नहीं। योके का प्रेमी पॉल था। योके को आशा थी कि पॉल उसे निश्चय ही खोज निकालेगा, क्योंकि वह कहा करता है कि "तुम दुनिया के किसी भी देश में होती, तो मैं तुम्हें खोज निकालता—लाखों, करोड़ों में तुरन्त पहचान लेता...वह दूसरी टोली के साथ दूसरे पहाड़ पर गया था और वहाँ से उतरते आते हुए नीचे मिलने की बात थी। ढाई महीने—तीन महीने! क़ब्रगाह—क्रिसमस! पाताललोक में देव शिशु का उत्सव! नरक में भगवान्। पॉल ढूंढ़ निकालेगा—पर किसको? मुझको या मेरी...।"[4] इसी निराशापूर्ण स्थिति में बर्फ़ के उस तूफ़ान में योके घिरी हुई थी। अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए वह सोचती है—"एक धुंधली रोशनी—एक ठिठका हुआ निष्प्राण जीवन। मानों घड़ी ही जीवन को चलाती है, मानो एक छोटी सी मशीन ने, जिसकी चाबी तक हमारे हाथ में है, ईश्वर की जगह ले ली है। और हम हैं कि हमें इतना भी वश नहीं है कि उस यन्त्र को चाबी न दें, घड़ी को रुक जाने दें, ईश्वर का स्थान हड़पने के लिए यन्त्र के प्रति विद्रोह कर दें अपने को स्वतन्त्र घोषित कर दें घड़ी के रुक जाने से समय तो नहीं

रुक जाएगा और रुक भी जाएगा तो यहाँ पर क्या अन्तर होने वाला है, घड़ी के चलने पर भी तो यहाँ समय जड़ीभूत है ! एक ही अन्तहीन लम्बे शिथिल क्षण में मैं जी रही हूँ—जीती ही जा रही हूँ—और वह क्षण ज़रा भी नही बदलता, टस-से-मस नहीं होता है ! क्या अपने सारे विकास के बावजूद हम मनुष्य भी निरे पौधे नहीं हैं जो बेबस सूरज की ओर उगते है ?''[५] एक स्थान पर सेल्मा कहती है "ईश्वर...ईश्वर का नाम ले लेना तो बड़ा आसान है, लेकिन बड़ा मुश्किल भी है। और मौत और ईश्वर को हम अलग-अलग पहचान भी तो कभी-कभी ही सकते है। बल्कि शायद मन के ईश्वर को तब तक पहचान नहीं सकते जब तक कि मृत्यु में ही उसे न पहचान लें।...भ्रम भी क्या कर्म ईश्वर है ? और ईश्वर की कौन सी पहचान हमारे पास है, जो भ्रम नहीं है ? जब ईश्वर पहचान से परे है, तो कोई भी पहचान भ्रम है। ईश्वर को हम कैसे जान सकते हैं ? जो हम जान सकते हैं वे कुछ गुण है—और गुण हैं इसलिए ईश्वर के तो नहीं हैं। हम पहचानते हैं अनिवार्यता, हम पहचानते है अन्तिम और चरम और सम्पूर्ण और अमोघ नकार—जिस नकार के आगे और कोई सवाल नही है और न कोई आगे जवाब ही...इसीलिए मौत ही तो ईश्वर का एकमात्र पहचाना जा सकने वाला रूप है।''[६] सेल्मा के इस कथन को योके अपमानस्वरूप ग्रहण करती है। वह सोचती है, "मैं क्यों बाध्य हूँ यह सहने को, उसके द्वारा यों ज़लील किये जाने को ? मैं अगर ईश्वर को नहीं मान सकती तो नहीं मान सकती, और अगर ईश्वर मृत्यु का ही दूसरा नाम है, तो मैं उसे क्यों मानूँ ? मैं मृत्यु को नहीं मानती, नहीं मान सकती, नहीं मानना चाहती ! मृत्यु एक झूठ है, क्योंकि वह जीवन का खण्डन है, और मैं जीती हूँ और जानती हूँ कि मै जीती हूँ...मैं हूँ ! के साथ उसका उलटा कुछ नहीं हूँ; 'मैं नहीं हूँ' यह बोध नहीं है, बल्कि बोध का न होना है।''[७] और एक दिन सेल्मा की जब मृत्यु हो जाती है, तो योके फिर अपने अस्तित्व के सम्बन्ध में सोचती है, "क्या कहीं भी ईश्वर है, सिवा मानवों के बीच के इस परस्पर क्षमा-याचना के सम्बन्ध को छोड़कर ? क्षमा तो अभ्यास नहीं है, याचना भी अभ्यास नहीं है; तब यह सच है और ईश्वर है तो कहीं गहरे में इसी में होगा...पर क्या क्षमा, कैसी क्षमा, किससे क्षमा, मैं जो हूँ वही हूँ।''[८] अन्त में जर्मनों के द्वारा उसका सतीत्व भग होता है और वह मानसिक रूप से विक्षिप्त हो जाती है। अपने जीवन के अन्तिम क्षणों में वह जगन्नाथ नामक भारतीय के पास पहुँच जाती है और अपनी व्यथा को सुनाकर मृत्यु को वरण करती है।

योके का पूर्ण विश्वास था कि मृत्यु झूठी है और ईश्वर भी झूठा है। जो कुछ है, वह है। उसका अस्तित्व है, उसकी स्वतन्त्रता है। उसे इस बात की शिकायत थी कि इस सृष्टि मे कहीं वरण की स्वतन्त्रता नही है। हम अपने बन्धु का वरण नहीं कर सकते—और अपने अजनबी का भी नही...हम इतने भी स्वतन्त्र नहीं हैं कि अपना अजनबी भी चुन सकें... अजनबी, अनपहचाना डर...क्या हम इतने भी स्वतन्त्र नहीं हैं कि अजनबी से पहचान कर लें ? पूरे उपन्यास में मृत्यु की भयानक छाया है, आशङ्का एवं संशय का विद्रूप आवरण है, व्यथा भरी पीड़ा एवं करुणा है। मृत्यु की भयङ्करता व्यक्ति में महान् परिवर्तन ला देती है, प्रियजन अजनबी हो जाते हैं और अनपहचाने अजनबी आत्मीय बन जाते हैं—यही इस

उपन्यास का मूल स्वर है और इसके परिवेश में एक ऐसा व्यक्तित्व उभरता है जो अपने अस्तित्व को किसी भी मूल्य पर नहीं खोना चाहता अपनी का अक्षुण्ण बनाए रखना चाहता है और 'मैं हूँ' के अतिरिक्त किसी और बात को सोचना नहीं चाहता; हालाँकि मृत्यु की पराजय भरी जलन और समाज की हिंसा के समक्ष व्यथापूर्ण उद्वेलन की सीमाओं के बीच उसे बिंध कर रह जाना पड़ता है इसके साथ ही मृत्यु के प्रति दो परस्पर विरोधी भावों की ऐसी टकराहट झंकृत होती है जिसमें कि पौराणिक लाक सा अर्थ गाम्भीर्य है। इस प्रकार सूक्ष्मता से परिलक्षित होने पर इसमें अस्तित्ववाद के सभी प्रमुख तत्व प्राप्त हो जाते हैं।

सन्दर्भ-सङ्केत

(१) ज्याँ पॉल सार्त्र : इग्जिस्टेंशियालिज्म एण्ड ह्यूमेनिज्म (फिलिप मैरेट अनु०) पृष्ठ ३२ (२) "It is entirely abandoned, without any help of any kind, to the insupportable necessity of making itself be down to the least detail. Thus liberty is not a being of man, that is to say, his back of being If one first conceives of man as a plenum, it would be absurd afterwards to look in him for moment or psychic regions in which he would be free, as well look for space in a vassel which one has previously filled to the brim. Man connot be sometimes bound, he is entirely and always free or he is not."—ज्याँ पॉल सार्त्र : बीइङ्ग एण्ड नथिंगनेस : एन एसे ऑन फेनामेनॉलॉजिकल एनॉटोलॉजी, (अनुवादक : हेजेल ई० बर्न्स), लन्दन, १९५७, पृष्ठ ५१६ (३) Thus totally free, indistinguishable from the epoch of which I have chosen to be the meaning as profoundly responsible for the war as if I had myself declared it unable to live anything without integrating it into my situation, engaging myself wholly in it and marking it with my seal, I must have no remorse nor regrets as I have no excuse, for, from the moment of my emergence into being I carry the weight of the world on my own without anything or anybody being able to lighten the burden...—ज्याँ पॉल सार्त्र : बीइङ्ग एण्ड नथिङ्गनेस : एन एसे ऑन फेनामेनॉलॉजिकल एनॉटोलॉजी, (अनु : हेजेल ई० बर्न्स), लन्दन, १९५७, पृष्ठ ५१६ (४) अज्ञेय : अपने-अपने अजनबी, (१९६१) बनारस, पृष्ठ १५ (५) वही, पृष्ठ १६ (६) वही, पृष्ठ ५३-५४ (७) वही, पृष्ठ ५५ (८) वही, पृष्ठ १११।

'हिन्दी' शब्द की व्युत्पत्ति और विकास : कुछ नई मान्यताएँ

● भोलानाथ तिवारी

'हिन्दी', 'हिन्द', 'हिन्दुस्तान' मूलतः 'हिन्दु' शब्द से सम्बन्धित हैं। प्रश्न यह है कि इस 'हिन्दु' का मूल क्या है ?

हमारे परम्परावादी संस्कृत-पण्डित मूल शब्द 'हिन्दु' मानते हैं। इसकी व्युत्पत्ति कई प्रकार से दी जाती है। कुछ लोग 'हिन्' (= नष्ट करना) + 'दु' (= दुष्ट) से 'हिन्दु' मानते है। अर्थात् 'हिन्दु' का अर्थ है 'दुष्टों का विनाश करनेवाला' (हिनस्ति दुष्टान्)। 'शब्दकल्पद्रुम' (खण्ड ५, १९८१) में 'हीन + दुष् + डु' से 'हिन्दु' सिद्ध किया गया है। इस दृष्टि से 'हिन्दु' का अर्थ हुआ 'हीनों या ओछों को दूषित करने वाला' हीनं दूषयति)। 'मेरुतन्त्र' के २३वें प्रकाश में शङ्कर, पार्वती से कहते हैं :—

> हिन्दुधर्मप्रलोप्तारो जायन्ते चक्रवर्तिनः।
> हीनञ्च दूषयत्येव हिन्दुरित्युच्यते प्रिये ॥

अर्थात् 'हीनों को दूषित करनेवाला' 'हिन्दु' है। यहाँ 'हीन' का अर्थ कुछ लोग 'म्लेच्छ' आदि विदेशी मानते हैं। 'मेरुतंत्र' को प्रायः परम्परावादी पण्डित प्राचीन ग्रन्थ समझते हैं; किन्तु वास्तविक स्थिति यह नहीं है। इसमें 'फिरंगी' शब्द का प्रयोग मिलता है जिससे स्पष्ट है कि यह बहुत बाद का ग्रन्थ है और यूरोपीयों के भारत में आने पर लिखा गया है।

'हिन्दु' की एक तीसरी व्युत्पत्ति 'हीन + दु' [हीनों (म्लेच्छों) का दलन या दण्डित करने वाला] से भी मानी गई है। 'हिन्दु' की एक चौथी व्युत्पत्ति है—'यो हिंसायाः दूयते, सः हिन्दू' अर्थात् हिंसा को देखकर जो दुखी होते हैं, वे हिन्दू हैं।

वस्तुतः उपर्युक्त तीनों व्युत्पत्तियाँ कल्पनाप्रसूत हैं। 'हिन्दु' शब्द 'ह' के साथ संस्कृत शब्द नहीं है। उल्लेख्य है कि किसी भी प्राचीन ग्रन्थ में इसका प्रयोग नहीं हुआ है। मुझे इसका प्राचीनतम प्रयोग सातवीं सदी के अन्तिम चरण के ग्रन्थ 'निशीथ चूर्णि' में मिला है।

आधुनिक विद्वानों द्वारा स्वीकृत एवं प्रायः सर्वमान्य मत यह है कि 'हिन्दु' शब्द फारसी भाषा का है। यों फ़ारसी का यह अपना शब्द नहीं है अपितु संस्कृत शब्द 'सिन्धु' का फ़ारसी रूपान्तरण है। प्रश्न उठता है कि 'सिन्धु' की व्युत्पत्ति क्या है ? संस्कृत के अधिकांश

वैयाकरण इसका सम्बन्ध 'स्यन्द' धातु से मानते हैं, जिसका अर्थ है पसीजना, द्रवना, स्रवित होना। इसी में, 'य्' के सम्प्रसारण, 'दस्य धः', तथा 'उद्' प्रत्यय के योग से 'सिन्धु' शब्द बना है, जिसका अर्थ नदी-विशेष, तथा समुद्र आदि है। हाथी के गण्ड-स्थल से मद बहने के कारण उसे भी 'सिन्धु' या 'सिन्धुर' आदि कहा गया है। इस प्रकार इसका मूल अर्थ 'बहना' है।

'सिन्धु' की एक दूसरी व्युत्पत्ति संस्कृत की 'इन्द्' धातु से मानी गई है। 'इन्द्' का अर्थ होता है 'ऐश्वर्य होना'। संस्कृत का 'इन्द्र' शब्द भी इसी से सम्बद्ध है। ग्रासमान, रॉथ आदि विद्वान् 'इन्द्' को मूलतः 'इध्' या 'इन्ध्' मानते है, यद्यपि बेनफ़े तथा कुछ और विद्वान् 'इन्द्र' को भी मूलतः 'स्यन्द्' से ही निष्पन्न मानते हैं। 'इन्द्' या 'स्यन्द्' से ही स्लाव शब्द 'जेद्रु', सं० 'इन्द्र', अवेस्ता 'ज़ेन्दाह' (ज़िन्दा, ज़िन्दगी) आदि सम्बन्धित हैं। 'सिन्धु' शब्द को 'इन्द्' या 'इन्ध्' से सम्बद्ध माननेवाले उस नदी में ऐश्वर्य या उसकी जीवन-शक्ति पर बल देते हैं। मोनियर विलियम्स 'सिन्धु' शब्द को 'सिध्' (= जाना) धातु से निकला होने का अनुमान लगाते हैं।

प्रस्तुत पंक्तियों का लेखक उपर्युक्त मतों से सहमत नहीं है। ये सब पुरानी धातुएँ तो ठीक हैं, किन्तु मेरी निजी राय यह है कि इस नदी-विशेष का 'सिन्धु' नाम, मूलतः, संस्कृत का शब्द नहीं है। जब आर्य भारत में आए उस समय पश्चिमोत्तर भारत में आर्येतर लोग रहते थे, और ये लोग पर्याप्त सुसंस्कृत थे। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक है कि सिन्धु नदी का कोई नाम इन आर्येतर लोगों द्वारा प्रयुक्त होता रहा होगा। प्रायः ऐसा होता भी नहीं कि कोई विदेशी जाति किसी देश में आवे और वहाँ के सारे के सारे नामों को बदल डाले; विशेषतः ऐसी स्थिति में जब कि वहाँ के रहने वाले असभ्य न होकर सुसंस्कृत हों। हाँ, नवागन्तुक ऐसी नदियों या ऐसे पहाड़ों आदि के नाम तो रख या बदल सकते या लेते हैं, जिनको अधिक लोग नहीं जानते; किन्तु पश्चिमोत्तर भारत की सबसे बड़ी नदी के सम्बन्ध में, जिसकी घाटी में इतनी बड़ी संस्कृति थी, उनको ऐसा करना पड़ा हो या उन्होंने ऐसा किया हो, ऐसा मानने का कोई कारण नहीं दीखता[१]। ऐसी स्थिति में कम-से-कम इतना तो कहा ही जा सकता है कि यह शब्द मूलतः द्रविड़ भाषा का है। यों, यह भी असम्भव नहीं कि द्रविड़ लोग जब भारत में आए हों तो उन्हें भी यह नाम आस्ट्रिक आदि किसी अन्य पुरानी जाति से मिला हो। साथ ही, यह भी सम्भव है कि आर्यों के आने के समय इस नदी का जो नाम प्रचलित रहा हो, आर्यो ने 'सिन्धु' रूप में उसका संस्कृत रूप बना लिया हो। क्योंकि शब्दों के संस्कृतीकरण की परम्परा आर्यों में प्राचीनकाल से मिलती है। उन्होंने अनेक देशी-विदेशी नामों ('एलेग्जेंडर' के लिए कौटिल्य के अर्थशास्त्र में 'अलकन्द' आया है) एवं शब्दों के साथ ऐसा किया है। 'सिड्', 'सिड्', 'सित्' या 'चिन्द्' आदि रूपों में, द्रविड़-परिवार की कई भाषाओं एवं बोलियों में एक अत्यन्त प्राचीन धातु मिलती है, जिसका प्रयोग 'छिड़कने', 'सींचने' या 'बहने' आदि के लिए होता है। मेरा अनुमान है कि द्रविड़ों को यह शब्द यदि किसी पुरानी जाति से नहीं मिला था तो इसी धातु के आधार पर प्राची-

द्रविडो ने इस बडी नदी सिन्धु) को सिद या सित् नाम दिया। यह नाम इसमें बहते हुए बहुत अधिक पानी के कारण भी हो सकता है, या इस कारण भी हो सकता है कि इनकी सभ्यता का उस काल में मूल केन्द्र (सिन्धु की घाटी) जो था, इसी से सींची जाने वाली भूमि पर बसा था। नदी ही नहीं, मेरे विचार से तो, नदी के आधार पर आसपास के प्रदेश का भी तात्कालिक नाम कदाचित् 'सिद्' या 'सित्' ही था। सन् १९२८-२९ मे पश्चिमोत्तर भारत में प्राप्त कुछ अभिलेखों से यह पता चलता है कि हड़प्पा-मोहनजोदड़ो के लोगों के स्थान का नाम उस काल में 'सिद्' या 'सित्' था[२]। इससे मेरे उक्त अनुमान की पुष्टि होती है। इसका अर्थ यह हुआ कि संस्कृत में इस नदी या प्रदेश के लिए 'सिन्धु' शब्द वस्तुतः संस्कृत शब्द न होकर प्राचीन द्रविड़ शब्द 'सिद्' या 'सित्' का ही सस्कृतीकृत रूप है, जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है। ज्ञान की वर्तमान परिधि मे 'सिन्धु' शब्द को और पीछे तक ले जाना सम्भव नहीं। किन्तु यह असम्भव नहीं कि भविष्य में और प्रमाणों के मिलने पर इसे आस्ट्रिक या और किसी प्राचीन भाषा का शब्द सिद्ध किया जा सके।

द्रविड़ 'सिद्' या 'सित्' के आधार पर संस्कृतीकरण के द्वारा बने इस 'सिन्धु' शब्द का भारतीय साहित्य में प्रथम प्रयोग 'ऋग्वेद' में मिलता है। 'ऋग्वेद' में इसका प्रयोग सामान्य रूप से नदी (भात्वक्षसो अत्यवतुर्न सिन्धवोऽज्ने १. १४३. ३ आदि), नदी विशेष (१०.७५) तथा कदाचित् नदी के आस-पास के प्रदेश (२. ८. ९६) के लिए हुआ है। यों जल-देवता आदि अन्य अर्थ भी हैं जो मूल अर्थ से बहुत दूर नहीं हैं। प्रदेश विशेष के अर्थ में बाद में यह 'महाभारत' तथा परवर्ती काव्य-ग्रन्थों में भी आता है। 'ऋग्वेद' में 'सप्तसिन्धव' (सात नदियाँ) तथा 'सप्तसिन्धुषु' आदि अन्य रूपों में भी यह मिलता हे।

आर्यों के भारत-आगमन से पूर्व भी भारत से ईरान का सांस्कृतिक तथा व्यापारिक सम्बन्ध रहा हैं, जैसा कि ज्योतिष, पौराणिक कथाओं तथा अन्य क्षेत्रों में आपसी प्रभावो से स्पष्ट होता है। आर्यो के भारत-आगमन के बाद यह सम्पर्क सगोत्रीय होने के कारण कदाचित् और अधिक बढ़ गया। ५०० ई० पू० के आस-पास दारा प्रथम के काल में सिन्धु नदी के आसपास का प्रदेश ईरानी लोगों के हाथ में था। इन्हीं सम्पर्कों के साथ भारत से ईरान तथा ईरान से भारत में याजक आया-जाया करते थे। शकद्वीप के मग ब्राह्मण (जो भारत में शाकलद्वीपी ब्राह्मण कहलाए) फ़ारस के पूर्वोत्तर भाग से ही आकर यहाँ बसे। कदाचित् याजकों के साथ हमारे 'सिन्धु' और 'सप्तसिन्धवः' आदि शब्द भी ईरान पहुँचे। हमारी प्राचीन 'स' ध्वनि ईरान की अवेस्ता आदि में 'ह्' उच्चरित होती रही है; जैसे सं० 'सप्त', अवेस्ता 'हप्त'; सं० 'असुर'', अवेस्ता 'अहुर' आदि। इसी कारण ये 'सिन्धु' और 'सप्तसिन्धवः' आदि शब्द अवेस्ता में 'हिन्दु' (अवेस्ता में महाप्राण ध्वनियाँ नहीं होतीं अतः 'ध' का 'द' हो गया है) और 'हप्तहिन्दव' आदि रूप में मिलते है। प्राचीन ईरानी साहित्य में 'हिन्दु' शब्द नदी के अर्थ मे तो प्रयुक्त हुआ ही, साथ ही सिन्धु नदी के पास के प्रदेश के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है। उस समय ईरान वालों के पास भारत की भूमि के लिए केवल यही एक शब्द था; अतः धीरे-धीरे ईरानी भारत के जितने भी भाग से परिचित होते गए उसे वे इसी नाम से अभिहित

करते गए। इस प्रकार किसी अन्य शब्द के अभाव में इस शब्द के अर्थ में विस्तार होता गया और 'सिन्धु नदी के पास की भूमि का वाचक' शब्द धीरे-धीरे पूरे भारत का वाचक हो गया। ईरानी सम्राट् दारा (प्राचीनरूप दारयवहु, सं० धारयद्वसु) के अभिलेखों में 'भारत' के लिए 'हिन्दु' आया है। सूसा के राजमहल के अभिलेख में आता है : पिरुशहूा इदा कर्त हचा कुश उता हिन्दौव उता हचा हरउवतिया अबरिय् ; अर्थात् राजमहल के हाथी दांत जिस पर यहाँ काम किया गया, कुश (सम्भवतः अबीसीनिया), हिन्दु (भारत) और हरहवैती (सं० सरस्वती, कदाचित् सीमा प्रान्त) से लाया गया। अवेस्ता ग्रन्थ 'वेन्दीदाद' (१.१८) में हप्त-हिन्दु (सप्तसिन्धु) को सोलह पवित्र स्थानों में एक माना गया है। 'यस्न' (५७.२९) में भी 'हिन्दु' शब्द भारत के लिए प्रयुक्त हुआ है। प्राचीन ईरानी साहित्य में 'हिन्दुय' (यूनानी शब्द Indos यही है), हिन्दु[3], हिन्दुवश (सं० सिन्धुवश = सिन्धुवासी) आदि अनेक अन्य प्रयोग भी मिलते हैं। 'हिन्दु' शब्द में धीरे-धीरे अर्थ सम्बन्धी विकास ('सिन्ध प्रदेश' से बढ़कर 'भारत') तो हुआ ही, साथ ही इसमें ध्वनिक विकास भी हुआ और इसमें 'इ' पर बलाघात होने के कारण अंत्य 'उ' लुप्त हो गया, और इस प्रकार यह शब्द 'हिन्दु' से 'हिन्द' हो गया। आगे चलकर 'हिन्द' शब्द में ईरानी के विशेषणार्थक प्रत्यय 'ईक' जुड़ने से 'हिन्दीक'[4] शब्द बना जिसका अर्थ था 'हिन्द का'। इसी 'हिन्दीक' का विकास ('क' के लुप्त हो जाने के कारण) 'हिन्दी' रूप में हुआ। इस प्रकार 'हिन्दी' का मूल अर्थ है 'हिन्द का' या 'भारतीय'। इस अर्थ में 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग मध्यकालीन फ़ारसी तथा अरबी आदि में अनेक स्थलों पर हुआ है। उदाहरणार्थ अरबी में 'तमर' का अर्थ है 'सूखा खजूर'। इससे कुछ मिलते-जुलते शब्द होने के कारण उन लोगों ने 'इमली' को (जिसका परिचय उन्हें भारत से ही प्राप्त हुआ था) 'तमर-हिन्दी' या 'तमर-ए-हिन्द'[5] कहा। विशेषण के रूप में प्रयुक्त होने के अतिरिक्त 'हिन्दी' शब्द संज्ञा रूप में भी बहुत सी भाषाओं प्रयुक्त होता रहा है, उदाहरणार्थ फारसी तथा अरबी में 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग विशेष प्रकार की तलवार के लिए (जो भारतीय इस्पात की बनी होती थी या भारत से जाती थी) तथा तलवार के वार के लिए भी होता रहा है। मिस्र में मलमल (जो भारत से जाती थी) के लिए 'हिन्दी' शब्द चलता रहा है। भारतीयों के काला होने के कारण फ़ारसी में 'हिन्दु' का अर्थ 'काला' भी है। कभी भारतीयों से उनकी अनबन भी थी, इसी कारण फ़ारसी में 'हिन्दू' के अन्य अर्थ 'डाकू' आदि भी हैं।

भाषा के लिए 'हिन्दी' शब्द के प्रयोग का इतिहास भी फ़ारस और अरब से ही आरम्भ होता है। छठी सदी ईसवी के कुछ पूर्व से ही ईरान में 'ज़बान-ए-हिन्दी' का प्रयोग भारत की भाषाओं के लिए होता रहा है। इस दृष्टि से कुछ उदाहरण उल्लेख्य हैं : (१) ईरान के प्रसिद्ध बादशाह नौशेरवाँ (५३१-५७९ ई०) ने अपने दरबार के प्रमुख विद्वान् हकीम बजरोया को 'पञ्चतन्त्र' का अनुवाद कर लाने के लिए भारत भेजा था। बजरोया ने यह काम पूरा किया। 'करकटक और दमनक' के आधार पर उसने इस अनुवाद का नाम 'कलीला व दिमना' रखा। इसकी भूमिका नौशेरवाँ के मन्त्री बुजर्च मिहर ने लिखी। भूमिका में अन्य बातों के अतिरिक्त यह भी कहा गया है कि यह अनुवाद ज़बाने हिन्दी से किया गया है यहाँ स्पष्ट ही ज़बाने

हिन्दी' का प्रयोग 'भारतीय भाषा' या 'संस्कृत' के लिए है। (२) इस पहलवी अनुवाद से इस पुस्तक के अरबी गद्य तथा पद्य में कई नामों से कई अनुवाद हुए। ६वीं सदी तक के प्रायः सभी अनुवादों में मूल पुस्तक को 'ज़बाने हिन्दी' का कहा गया है। उदाहरणार्थ ७०० ई० के आस-पास में किए गए अब्दुल्ला इब्नुल मुक़फ्फ़ा के अनुवाद में, इब्न मक़ना के अनुवाद में, तथा 'जावेदाने खिरद' नाम से ८१३ ई० में इब्न सुहेल द्वारा किए गए अनुवाद में। (३) 'महाभारत' के भी कुछ भागों का रूपान्तर पहलवी भाषा में ७वीं सदी में किया गया था। उसमें भी मूल भाषा को 'ज़बाने हिन्दी' कहा गया। (४) १२२७ ई० में मिनहाजुस्सिराज भारत आया था। उसने अपनी पुस्तक 'तबकाते-नासिरी' में लिखा है कि 'ज़बाने हिन्दी' मे 'बिहार' का अर्थ 'मदरसा' है। स्पष्ट ही यहाँ 'ज़बाने हिन्दी' का प्रयोग संस्कृत के लिए न ह कर या तो सामान्य भारतीय भाषा के अर्थ में है, या फिर भारत के 'मध्य भाग की भाषा' (कदाचित् 'हिन्दवी' या 'हिन्दी') के लिए। (५) १३३३ ई० में इब्न बतूता अपने 'रेहला इब्न बतूता' में तारन नगर के सम्बन्ध में लिखते हुए लिखता है—"किताबत अला बाज़ अलजदरात बिल हिन्दी' अर्थात् कुछ दीवारों पर हिन्दी में लिखा था। भाषा के अर्थ मे स्वतन्त्रतः 'हिन्दी' शब्द का विदेशों में यह कदाचित् प्राचीनतम प्रयोग है, यद्यपि यह नाम आज के हिन्दी के लिए न होकर संस्कृत के लिए है। (६) तैमूर लङ्ग के पोते के काल मे (१४२४ ई०) शरफ़ुद्दीन यज़्दी ने तैमूर और उसके परिवार के सम्बन्ध में 'ज़फ़रनामा' नामक ग्रन्थ लिखा। इसमें एक स्थान पर आता है कि 'राव' हिन्दी शब्द है। विदेशो मे 'हिन्दी भाषा' के लिए 'हिन्दी' शब्द का सम्भवतः यह प्रथम प्रयोग है।

भारतवर्ष में भी भाषा के अर्थ में 'हिन्दी' शब्द के प्रयोग का प्रारम्भ मुसलमानो द्वारा ही किया गया। भारतीय परम्परा में 'प्रचलित भाषा' के लिए प्राचीन काल से ही 'भाषा' शब्द का प्रयोग होता आया है। इसका प्रयोग क्रम से संस्कृत, प्राकृत तथा बाद मे हिन्दी आदि के लिए हुआ। यहाँ कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं—'सो देख के बनमाली शिष्यार्थं भाषा टीका कीन्ह' (१४३८ ई० में लिखित भास्वती की भाषा-टीका), 'संस्कृत कबिरा कूप जल भाषा बहता नीर' (कबीर), 'आदि अंत जसि कथ्था अहै, लिखि भाषा चौपाई कहै' (जायसी), 'भाषा भनति मोर मति थोरी', 'भाषा निबद्ध मति मंजुल' (तुलसीदास), 'भाषा बोल न जानहीं जेहि के कुल के दास' (केशवदास)। संस्कृत आदि के ग्रन्थों की हिन्दी टीकाओं में भाषा-टीका रूप में भी यह शब्द उसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। रामप्रसाद निरञ्जनी कृत 'भाषा योगवसिष्ठ' (१७४१ ई०), १६ फ़रवरी १८०२ को फ़ोर्ट विलियम कॉलिज द्वारा 'भाखा मुंशी' की माँग की स्वीकृति तथा लल्लू लाल को उक्त कॉलिज के कागज़ों में 'भाषा मुंशी' कहे जाने से पता चलता है कि हिन्दी के लिए 'भाषा' शब्द का प्रयोग आधुनिक काल तक चलता रहा है। संस्कृत के टीका-ग्रन्थों में तो यह अब भी चल रहा है। पुरानी पीढ़ी के पण्डित 'हिन्दी-टीका' न कहकर 'भाषा-टीका' ही कहते हैं।

मुसलमान यहाँ आये तो यहाँ की भाषा को 'ज़बाने हिन्दी' कहने लगे। उनका विशेष सम्बन्ध मध्यदेश से था अतः धीरे-धीरे मध्यदेशीय बोली के लिए उन्होंने ज़बाने हिन्दी

या 'हिन्दी ज़बान' या 'हिन्दी' नाम का प्रयोग किया। आरम्भ में इस नाम के अन्तर्गत पंजाबी (कम-से-कम पूर्वी) भी कदाचित् आती थी।

'हिन्दी' नाम का भारत में प्रथम प्रयोग कब किसने किया, यह अभी तक अनुसन्धान का विषय है। प्रायः यही कहा जाता है कि अमीर खुसरो की रचना में सबसे पहले 'हिन्दी' शब्द हिन्दी भाषा के लिए मिलता है। मैं समझता हूँ कि भाषा के अर्थ में खुसरो में 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग संदिग्ध है। उन्होंने 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग 'भारतीय मुसलमानों' या 'भारतीय' (इलिअट ३. ८. ५३६) के लिए ही किया है। यहाँ बहुत विस्तार में इस विषय को लेना सम्भव नहीं है, किन्तु संक्षेप में कुछ बातें कही जा सकती हैं। इस सम्बन्ध में सबसे बड़ा तर्क तो यह दिया जाता है कि खुसरो लिखित 'खालिकबारी' में 'हिन्दी' शब्द कई बार आया है। वस्तुतः 'खालिकबारी' खुसरो की रचना नहीं है, वह खुसरो के बहुत बाद के किसी 'खुसरो शाह' की रचना है। इसके लिए कई तर्क दिए जा सकते हैं, जिनमें से प्रमुख ये हैं। (क) अमीर खुसरो जैसे विद्वान की रचना यदि 'खालिकबारी' होती तो वह पर्याप्त व्यवस्थित होती, जबकि 'खालिकबारी' बहुत ही अव्यवस्थित है। कभी फ़ारसी शब्दों के समानार्थी हिन्दी शब्दादि दिए गये हैं, तो कभी वाक्यों के समानार्थी वाक्य। भाषा सीखने की दृष्टि से भी इन वाक्यों या शब्दों में कोई एकरूपता नहीं है। जो शब्द लिये गये हैं, उनमें सब ऐसे नहीं हैं जिनको भाषा के प्रारम्भिक ज्ञान के लिए आवश्यक समझा जाय। साथ ही, प्रारम्भिक ज्ञान के लिए बहुत से अत्यन्त महत्वपूर्ण शब्द छूट भी गए हैं। जो वाक्य दिये गये हैं, वे भी तुक या छन्द बैठाने की दृष्टि से लिये गये ज्ञात होते हैं। भाषा के प्रारम्भिक ज्ञान की दृष्टि से उनका कोई विशेष मूल्य नहीं है। कारक, काल-रचना आदि की दृष्टि से भी वे महत्त्व नहीं रखते। (ख) छन्दों का बिना किसी योजना के परिवर्तन और कहीं-कहीं उनमें अप्रवाह या दोष भी 'खालिकबारी' को कविवर खुसरो की रचना मानने में व्याघात उपस्थित करते हैं। (ग) बीच में आता है—'तुर्की जानो ना'। तुर्की का विद्वान खुसरो यह लिखे कि उसे अमुक शब्द की तुर्की नहीं आती, यह बात कल्पनातीत है। यों सभी शब्दों के लिए तुर्की शब्द दिये भी नहीं गये हैं। अतः ऐसा कथन बड़ा निरर्थक-सा लगता है। यह बात भी 'खालिकबारी' को अमीर खुसरो से सम्बद्ध करने में अड़चन डालती है। (घ) शब्दों की गलतियाँ भी हैं। हिन्दी 'काना' के लिए फ़ारसी शब्द 'कोर' दिया गया है, जबकि 'कोर' का अर्थ 'अन्धा' होता है। 'निदर्द,' 'कुबक' और 'हंस' को एक माना है, जबकि तीनों अलग-अलग हैं। 'तीतर' के लिए एक स्थान पर 'दुर्राज' तथा अन्यत्र 'लगलग' दिया गया है। 'खालिकबारी' से इस तरह की अशुद्धियों के अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं। ऐसी भद्दी गलतियाँ खुसरो नहीं कर सकते और न ऐसी कम योग्यता के आदमी को, जैसा कि 'खालिकबारी' का लेखक लगता है गयासुद्दीन तुग़लक अपने लड़कों को हिन्दी पढ़ाने के लिए पुस्तक लिखने का आदेश ही दे सकते हैं। (कहा जाता है कि गयासुद्दीन तुग़लक के कहने से अमीर खुसरो ने उनके लड़कों को हिन्दी पढ़ाने के लिए इसे लिखा था।) उपर्युक्त बातों को देखते हुए यह कहना उचित नहीं लगता कि 'खालिकबारी' खुसरो की रचना है। ऐसी स्थिति में 'हिन्दी' शब्द का खुसरो द्वारा प्रयोग '   के आधार पर नहीं माना जा सकता दूसरे प्रमाण के रूप में

खुसरो का एक वाक्य उद्धृत किया जाता है जिसमें उन्होंने कहा है कि मैंने फ़ारसी के साथ-साथ हिन्दी में भी चन्द नज़्मे कहे है ('जुज़्वे चन्द नज़्मे हिन्दी नीज़ नज़्रेदोस्तॉं करदा शुदा अस्ता') वस्तुत: यह वाक्य उनके किसी भी प्रामाणिक संस्करण में मुझे नहीं मिला। 'देवल देवी खिज्र खाँ' मसनवी से कुछ लोगों ने उद्धरण दिये है, किन्तु वहाँ भी मूलत: 'हिन्दुवी' का प्रयोग है न कि 'हिन्दी' का। इनके अतिरिक्त खुसरो द्वारा भाषा के अर्थ में 'हिन्दी' शब्द के प्रयोग का कोई अन्य प्रमाण देखने में नहीं आया। यों भाषा के अर्थ में 'हिन्दुवो' या 'हिन्दुई' शब्द का प्रयोग खुसरो में कई स्थलों में मिलता है। एक स्थान पर वे कहते है—'तुर्के हिन्दुस्तानियम मन हिन्दवी गोयम जवाब' अर्थात् 'मैं हिन्दुस्तानी तुर्क हूँ, हिन्दुवी में जवाब देता हूँ।' उनकी मसनवियों में भी यह शब्द एकाधिक स्थलों पर आया है। इस प्रकार खुसरो के द्वारा 'हिन्दी' नाम के प्रयोग की बात बहुत प्रामाणिक नहीं ज्ञात होती। हाँ, यह अवश्य है कि उनके कुछ ही बाद इस शब्द का भाषा के अर्थ में प्रयोग प्रारम्भ हो गया था।

यह प्राय: कहा जाता है कि 'हिन्दी' और 'हिन्दवी' शब्द एक ही अर्थ रखते थे और एक ही अर्थ में प्रयुक्त होते थे। किन्तु मुझे यह बात ठीक नहीं ज्ञात होती। एक ही भाषा के लिए बिना किसी विशेष कारण के दो नामों का साथ-साथ उत्पन्न होना और बिल्कुल एक ही अर्थ में चलना कुछ जँचता नहीं। मुझे ऐसा लगता है कि प्रारम्भ में ये दोनों शब्द भिन्नार्थी थे। ऊपर कहा गया है खुसरो ने 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग भारतीय मुसलमानों के लिए किया है और 'हिन्दवी' शब्द का प्रयोग 'मध्यदेशीय भाषा' के लिए। यह 'हिन्दवी' शब्द वस्तुत: 'हिन्दुवी' या 'हिन्दुई' है। हिन्दू + ई = अर्थात् 'हिन्दुओं की भाषा'। 'हिन्दवी' शब्द के प्रयोग के कुछ दिन बाद 'हिन्दी' (अर्थात् भारतीय मुसलमानो) की भाषा के लिए कदाचित् 'हिन्दी' शब्द चल पड़ा। 'हिन्दुवी' या 'हिन्दवी' तो वह भाषा थी जो शौरसेनी अपभ्रंश से विकसित हुई थी और मध्यदेश में सहज रूप से प्रयुक्त हो रही थी। 'हिन्दी' अर्थात् 'भारत के मुसलमानो' ने भी इसे अपनाया, किन्तु स्वाभावत: धार्मिक तथा सांस्कृतिक (खान-पान, रहन-सहन, कपड़ा-लत्ता) कारणों से उनकी भाषा में अरबी, फ़ारसी, तुर्की के शब्द अधिक थे। इसी भाषा के लिए आरम्भ में कदाचित् 'हिन्दी' शब्द चला। इस प्रकार 'हिन्दवी' शब्द पुराना है और 'हिन्दी' अपेक्षाकृत बाद का। साथ ही मूलत: दोनों में कुछ अन्तर भी है। शुद्ध हिन्दी में लिखनेवाले पुराने कवियों तथा लेखकों ने सम्भवत: इसी कारण अपनी भाषा को प्राय: 'हिन्दवी' ही कहा है—'तुरकी अरबी हिन्दवी भाषा जेती आहि। जामें मारग प्रेम का, सबे सराहै ताहि'॥ (जायसी)। श्रीदरकादास (१६६६ ई०) के अम्बेर के दीवान को लिखे गए पत्र, तुलसी के फारसी पञ्चनामे, जटमल की 'गोरा-बादल की कथा' तथा इंशा अल्ला खाँ की 'रानी केतकी की कहानी' में भी 'हिन्दवी' शब्द ही मिलता है, 'हिन्दी' नहीं।

किन्तु ऐसा लगता है कि यह भेद अधिक दिनों तक चला नहीं। अरबी-फारसी-तुर्की के बहुत-से आम-फ़हम शब्द 'हिन्दवी' में आ गये, और दूसरी ओर हिन्दुओं एवं भारतीय वातावरण के प्रभाव से पर्याप्त भारतीय शब्द मुसलमानों की भाषा में भी गृहीत हो गये तथा हिन्दी-हिन्दवी दोनों ही शब्द प्राय: (किन्तु पूर्णत: नहीं) समानार्थी हो गये। यों कुछ विशेष प्रयोगों मे इन शब्दों के मूल अर्थ भी १८वीं सदी तक या उसके भी बाद

तक चलते रहे हातिम (१८ वीं सदी उत्तरार्द्ध) ने दीवानेजादे के दीबाचे में लिखा है जबान हर ग्यार वा वहिन्दवी कि भाँरा भाका गायन्द मसे स्पष्ट है कि हिन्दवी और भाषा प्रायः एक थी। उसी के कुछ दिन बाद 'तज़किरः मख़ज़न उलग़रायब' में लिखा मिलता है—'दर जबाने हिन्दी कि मुराद उर्दू अस्त' अर्थात् हिन्दी में जिससे मतलब उर्दू है। किन्तु जैसा कि सङ्केत किया गया है तथा आगे भी कुछ उदाहरणों से स्पष्ट होगा, इस प्रकार का अन्तर सर्वत्र नहीं किया गया है। श्री चन्द्रबली पाण्डेय ने यह दिखाने का (उर्दू का रहस्य, पृष्ठ ४०-४८) प्रयास किया है कि 'हिन्दी' हिन्दुओं की भाषा नहीं थी। इसी आधार पर डॉ० उदयनारायण तिवारी (हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास, प्रथम संस्करण, पृष्ठ १८४) ने भी कदाचित् इसे स्वीकार कर लिया है, किन्तु पाण्डे जी के तर्क वस्तुतः उनके मत को प्रमाणित करने में समर्थ नहीं दीखते।

'हिन्दी' शब्द का प्रयोग, जब भी और जिनके भी द्वारा हुआ हो, इसके अविच्छिन्न प्रयोग की प्राचीन परम्परा 'दक्खिनी' या 'दक्खिनी हिन्दी' के कवियों एवं गद्यकारों में ही मिलती है। उदाहरणार्थ : (१) शाही मीराजी (१४७५ ई०)—'यां देखन हिन्दी बोल', (२) शाह बुर्हानुद्दीन (१५८२ ई० —'ऐब न राखें हिन्दी बोल' ('इर्शादनामा' में), (३) मुल्ला वजही (१६३५ ई०)—'हिन्दोस्तान में हिन्दी जबान सों' ('सबरस' की भूमिका में), (४) जुनूनी (१६९० ई०)—'मैं इसको दर हिन्दी जबाँ इस वास्ते कहने लगा' (मौलाना रूम के 'मोजजा' के अनुवाद में)। इसके साथ-साथ 'हिन्दवी' शब्द भी प्रयुक्त हो रहा था। १७ वी सदी से 'हिन्दी' शब्द उत्तर भारत में भी अविच्छिन्न रूप से मिलने लगता है। उदाहरणार्थ . खफी खाँ के 'मुन्तखबुल्लबाब' (१७ वी सदी उत्तरार्द्ध), मिर्जा खाँ के 'तुहफ़तुल हिन्द' (१६७६ ई०), बरकतुल्ला पेमी के 'अवारफ़े हिन्दी' (लगभग १७०० ई०) तथा 'मआसिरुल उमरा' (१७४२-१७४७) आदि में। हिन्दी कवियों में १७७३ ई० में सूफ़ी कवि नूर मुहम्मद ने लिखा है—'हिन्दू मग पर पाँव न राख्यौं। का जौ बहुतै हिन्दी भाख्यौं ॥' इससे सङ्केत यह मिलता है कि इस काल तक आते-आते 'हिन्दी' शब्द हिन्दुओं की भाषा की ओर झुक गया था और इसमें से हिन्दुओं की शब्दावली निकालकर, फ़ारसी शब्दों के आधार पर उर्दू की नींव पड़ रही थी। १८०० ई० के लगभग मुरादशाह लिखते हैं :—

> भिजोड़ा फ़ारसी के उस्तख्वाँ को
> किया पुर मग्ज तब हिन्दी जबाँ की
> फ़साहत फ़ारसी से जब निकाली
> लताफ़त शेर में हिन्दी के डाली।

इस प्रकार जैसा कि हम आगे देखेंगे, 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग इसके विरुद्ध सामान्य अर्थों में लगभग १९वी सदी के मध्य तक मिलता है।

यह ध्यातव्य है कि 'हिन्दवी' या 'हिन्दी' का प्रयोग यद्यपि मध्यदेश की जन-भाषा के लिए चल रहा था और वह उत्तर भारत से दक्षिण भारत में भी जा पहुँचा था, किन्तु इसका स्वीकृत भाषाओं में अकबर के काल तक नाम नहीं मिलता अमीर खुसरो ने अपने ग्रन्थ

'नुहेसिपर' में उस काल की प्रसिद्ध ग्यारह भाषाओं (सिन्धी, लाहौरी, काश्मीरी, बंगाली, गौडी, गुजराती, तिलंगी, मावरी (कोंकणी) ध्रुव समुन्दरी, अवधी, देहलवी) का उल्लेख किया है, किन्तु इनमें 'हिन्दवी' या 'हिन्दी' नहीं है। अबुलफ़जल की 'आइने अकबरी' में दी गई बारह भाषाओं (देहलवी, बंगाली, मुलतानी, मारवाड़ी, गुजराती, तिलंगा, मरहठी, कर्नाटकी, सिन्धी, अफगानी, बलूचिस्तानी, काश्मीरी) में भी इसका नाम नहीं आता। हाँ, एक बात अवश्य विचार्य है। खुसरो और अबुलफ़जल दोनों ही ने 'देहलवी' का उल्लेख किया है और मध्य-प्रदेश की कोई भाषा नहीं ली है। इसका आशय यह हुआ कि खुसरो से लेकर अबुलफ़जल के काल तक इस भाषा का प्रचलित नाम शायद 'देहलवी' ही था। 'हिन्दवी', 'हिन्दी' नाम कदाचित् केवल साहित्य तक ही सीमित थे।

ऊपर यह सङ्केत किया जा चुका है कि 'हिन्दी' शब्द मूलतः मुसलमानों की हिन्दी के लिए प्रयुक्त होकर, फिर हिन्दुओं की भाषा की ओर आ रहा था। किन्तु १९वीं सदी के मध्य के पूर्व तक उर्दू के लेखकों में प्रायः इसका प्रयोग 'उर्दू' या 'रेख्ता' के समानार्थी रूप में चल रहा था। हातिम (१८वी सदी उत्तरार्द्ध), नासिख, सौदा (१७१३-१७८० ई०), मीर (१७१९-१७५८ ई०) आदि ने एकाधिक बार अपने शेरों को 'हिन्दी' शेर कहा है। ग़ालिब ने अपने खतों में 'उर्दू', 'हिन्दी' 'रेख्ता' को कई स्थलों पर समानार्थी शब्दों के रूप मे प्रयुक्त किया है। १८०३ ई० में लिखित 'तजकिरः मखजन उलग़रायब' में आता है— 'दरजबाने हिन्दी कि मुराद उर्दू अस्त।' फ़ोर्ट विलियम कॉलेज के हिन्दी के अध्यापक गिलक्राइस्ट के लेखों से पता चलता है कि वे हिन्दी, हिन्दुस्तानी, उर्दू तथा रेख्ता आदि को समानार्थी समझते थे। किन्तु उनकी दृष्टि में इनका परिनिष्ठित रूप अरबी-फारसी मिश्रित था, अर्थात् उनकी 'हिन्दी' आज की दृष्टि से 'उर्दू' थी। १८२० में उनकी एक किताब निकली, जिसका नाम था—'क़वानीन सर्फ़ व नहो हिन्दी'। पुस्तक पर अंग्रेजी में लिखा था—Rules of Hindee Grammar। पुस्तक के भीतर सर्वत्र ही 'हिन्दी या रेख़्ते' शब्द का प्रयोग है, किन्तु व्याकरण उर्दू का है। इसकी भाषा भी अरबी-फ़ारसी शब्दों से लदी है, जैसा कि नाम (क़वानीन सर्फ़) से भी स्पष्ट है। आशय यह है कि सन् १८०० के आसपास 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग 'उर्दू' तथा 'रेख्ता' के लिए हो रहा था।

'हिन्दी' के आधुनिक अर्थ में प्रयुक्त होने का इतिहास बड़ा विचित्र है। पीछे के नूर मुहम्मद तथा मुरादशाह के उद्धरणों से इस बात का कुछ सङ्केत मिलता है कि कभी-कभी उसका प्रयोग हिन्दुओं की भाषा या अरबी-फ़ारसी के कठिन शब्दों से रहित मध्यदेशीय भाषा के लिए होता था, किन्तु ऐसे प्रयोग प्रायः अपवाद स्वरूप हैं। प्रायः 'हिन्दी' का प्रयोग उस भाषा के लिए मिलता है, जो अरबी-फ़ारसी से भरती जा रही थी, या जो वह भाषा थी, जो बाद में विकसित हो कर 'उर्दू' कहलाई। जनता में १९वीं सदी के प्रायः मध्य तक, कुछ अपवादों को छोड़ कर 'हिन्दी' का इसी अर्थ में प्रयोग मिलता है।

आधुनिक अर्थ में 'हिन्दी' शब्द के व्यापक प्रयोग का श्रेय मूलतः अँग्रेजों को है। १८०० ई० में कलकत्ते में फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना हुई। वहाँ गिलक्राइस्ट हिन्दी या हिन्दुस्तानी के नियुक्त हुए यदि गि ने मध्यप्रदेश की वास्तविक

प्रतिनिधि भाषा को जो न तो अधिक अरबी-फ़ारसी की ओर झुका हुआ थी और न संस्कृत की ओर, अपनाया होता, तो आज हिन्दी-उर्दू नाम की दो भाषाएँ न होतीं और हिन्दी भाषा एवं उसके साहित्य का नक्शा कुछ और ही होता। किन्तु उनकी हिन्दी (जैसा कि उनके हिन्दी-व्याकरण के नाम 'क़वानीन सर्फ़ व नहो हिन्दी' से स्पष्ट है) बहुत ही कठिन उर्दू थी। वे सन् १८०४ तक अध्यापक रहे, अतः वही भाषा हिन्दी कही जाती रही। किन्तु बाद के कार्यकारियों का ध्यान इस बात की ओर गया कि प्रतिनिधि भाषा क्या नहीं है। इसका परिणाम यह हुआ कि 'हिन्दुस्तानी' शब्द तो अरबी-फ़ारसी शब्दों से युक्त गिलक्राइस्ट की शैली (जो वस्तुतः उर्दू थी) के लिए प्रयुक्त होने लगा और 'हिन्दी' शब्द हिन्दुओं में प्रचलित संस्कृत मिश्रित भाषा के लिए। इस अर्थ में 'हिन्दी' शब्द की परम्परा आज साहित्य में कहीं कहीं भी मिलती है। सम्भव है, जनता में इस अर्थ में उस समय 'हिन्दी' नाम का कुछ अधिक प्रचार रहा हो, जहाँ से अँग्रेज़ों ने इसे ले लिया। इस नवीन अर्थ में 'हिन्दी' का स्पष्ट रूप से लिखित प्रयोग कदाचित् सर्वप्रथम कैप्टिन टेलर ने किया। १८१२ में फ़ोर्ट विलियम कॉलिज के वार्षिक विवरण में वे कहते हैं—"मैं केवल हिन्दुस्तानी या रेख़्ता का जिक्र कर रहा हूँ जो फ़ारसी लिपि में लिखी जाती है... मैं हिन्दी का जिक्र नहीं कर रहा, जिसकी अपनी लिपि है, ... जिसमें अरबी-फ़ारसी शब्दों का प्रयोग नहीं होता और मुसलमानी आक्रमण से पहले जो आर्यावर्त के समस्त उत्तर-पश्चिम प्रान्त की भाषा थी" (Imperial Records, Vol. IV पृ० २०८-०९)। इस उद्धरण से यह स्पष्ट है कि इस समय तक 'हिन्दी' शब्द इस अर्थ में कम-से-कम कॉलिज के लोगों में कुछ समझा जाने लगा था, किन्तु बहुत अधिक नहीं, क्योंकि इसे 'हिन्दुस्तानी' या 'रेख़्ता' से अलग स्पष्ट करने की आवश्यकता अभी समाप्त नहीं हुई थी, जैसा कि टेलर के कथन से स्पष्ट है। कॉलिज में हिन्दी उर्दू (या हिन्दुस्तानी) का यह अन्तर बढ़ता ही गया। १८२४ में उक्त कॉलिज के हिन्दी प्रोफ़ेसर विलियम प्राइस के [illegible] शब्दों में हिन्दी के लगभग सभी शब्दों के संस्कृत होने की बात कही गयी हिन्दुस्तानी (उर्दू) के अरबी-फ़ारसी के होने की। १८२५ में कॉलिज के वार्षिक अधिवेशन के भाषण में लार्ड एमहर्स्ट ने 'हिन्दी' भाषा को हिन्दुओं से सम्बद्ध कहा तथा 'उर्दू' को उनके लिए उतनी ही विदेशी कहा, जितनी 'अँग्रेज़ी'। इस प्रकार अँग्रेज़ों ने, चाहे जिस नियत से भी किया हो, १९वीं सदी के प्रथम २५ वर्षों में एक ओर 'हिन्दी' या 'हिन्दी-देवनागरी-संस्कृत-हिन्दू' शब्दों को जोड़ दिया, तो दूसरी ओर 'हिन्दुस्तानी-रेख़्ता या उर्दू-फ़ारसी लिपि-अरबी-फ़ारसी मुसलमान' शब्दों को। सम्भवतः शासन के ही इशारे पर १८६२ में हिन्दी-उर्दू का प्रश्न शिक्षा के संचालकों के समक्ष आया और इस प्रकार १९वीं सदी के तीसरे चरण में 'हिन्दी' आज-कल के अर्थ में निश्चित रूप से स्वीकृत हो गई। उर्दू और हिन्दी भाषा को लेकर उस समय में कितनी पक्षापक्षी थी, इसके चित्र 'सितारे हिन्द' और 'भारतेन्दु' उपाधि की अन्तर्कथा में सुरक्षित है।

सन्दर्भ-सङ्केत

(१) 'गंगा' को भी संस्कृत के पण्डित संस्कृत शब्द मानते हैं तथा 'गम्यते ब्रह्मपदमनया गच्छतीति वा, गम + गन + टाप रूप में उसकी व्युत्पत्ति देते हैं किन्तु अब यह प्रायः स्वीकृत

तथ्य है कि यह शब्द मूलतः संस्कृत का नहीं है और भारत के प्राचीन निवासियों से ही आर्यों को मिला है (२) जरनल आफ़ ओरियण्टल रिसर्च, मद्रास, अङ्क ११, पृष्ठ २४६ (३) प्राचीन चीनी साहित्य में 'शिन्तु' (परवर्ती साहित्य में 'इन्तु') को देवों का देश कहा गया है, यह भी 'सिन्धु' ही है। भारत में, भारत के लिए प्राचीनतम नाम 'माताभूमि' (अथर्व वेद) है। भारतवर्ष (महाभारत), भारत (विष्णु पुराण), भरत खण्ड, जम्बुद्वीप (बौद्ध ग्रन्थ), कुमारी द्वीप (परवर्ती पुराण) बाद में मिलते हैं। 'हिन्दु' पर आधारित नाम भारत में प्रथम बार कदाचित् जैन ग्रन्थ 'निशीथ चूर्णि' में 'एहि हिन्दुगदेसं वच्चाओ' (७वीं सदी अन्तिम चरण) में आता है। (४) यही 'हिन्दीक' शब्द अरबी से होता, ग्रीक में 'इन्दिके', 'इन्दिका' लैटिन में 'इन्दिया' तथा अँग्रेज़ी आदि में 'इण्डिया' हुआ। चीनी साहित्य में कभी-कभार प्रयुक्त 'इन्तुको' भी यही है। (५) यही शब्द अँग्रेज़ी में टैमरिण्ड (Tamrind = इमली) है। (६) शासन के लोगों में इस रूप में प्रयुक्त होने पर भी 'हिन्दी' शब्द उर्दू के अर्थ में साहित्यिकों तथा जनता आदि में १९वीं सदी के लगभग मध्य तक चलता रहा। ग़ालिब ने अपने कई पत्रों में हिन्दी, उर्दू और रेख़्ता को प्रायः समान अर्थों में प्रयुक्त किया है।

आधुनिक भारतीय दर्शन और कबीर

• श्यामलाल प९०४

आजकल प्रायः लोग मानते हैं कि आधुनिक भारतीय दर्शन के जनक राजा राममोहन राय (१७७२-१८३३) हैं। उनका 'तहफ़तुल मुहद्दीन' सन् १८०३ में प्रकाशित हुआ। इसमें उन्होंने समस्त प्रकार की मूर्ति-पूजा और धार्मिक अन्धविश्वासों की आलोचना की है और एकेश्वरवाद के आधार पर सभी धर्मों की एकता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। रामकृष्ण परमहंस, रवीन्द्रनाथ टैगोर, महात्मा गाँधी, डॉ० भगवान दास आदि आधुनिक भारत के दार्शनिकों और सन्तों ने इसी परम्परा को विकसित किया है। इस प्रकार १९वीं शती के आरम्भ से आधुनिक भारतीय दर्शन का जन्म माना जाता है। इस समय की प्रधान घटना योरोपीय संस्कृति और दर्शन का भारतीय संस्कृति तथा दर्शन पर प्रभाव है और उस प्रभाव के प्रतिफल के रूप में भारतीय जागरण तथा उसकी संस्कृति का विकास है। राजा राम मोहन राय ने ही सबसे पहले भारतीय धर्म और ईसाई मत के समन्वय का प्रयास किया। इसलिए, अधिकांश लोग उन्हीं को ही भारतीय जागरण का जनक मानते हैं।

किन्तु हमारा मत है कि राजा राममोहन राय से बहुत पहले आधुनिक भारतीय जागरण, आधुनिक भारतीय दर्शन तथा आधुनिक भारतीय समाज-रचना का सूत्रपात हो चुका था और उनके पूर्व लगभग ४०० वर्षों से हिन्दी के सन्त एक नये युग और संस्कृति का निर्माण कर रहे थे। इन सन्तों में कबीर अग्रगण्य थे। कबीर का जन्म लगभग १३६८ ई० में हुआ था[1] और सन् १४०० ई० के आसपास उन्होंने अपने विचारों को प्रसारित करना प्रारम्भ किया। इस प्रकार १५वीं शती के प्रथम दशक से ही आधुनिक भारतीय दर्शन तथा संस्कृति का प्रारम्भ होता है।

यदि हम आधुनिक भारतीय दर्शन और संस्कृति का अध्ययन करें तो हमें ज्ञात होगा कि इसकी कुछ अपनी विशेषताएँ हैं। इन विशेषताओं को निम्नलिखित रूप में रखा जा सकता है :—

(१) आधुनिक भारतीय दर्शन का सम्बन्ध किसी विशेष धर्म से नहीं है। वह हिन्दू, बौद्ध, जैन, इस्लाम, सिक्ख, ईसाई, यहूदी आदि धर्मों का दर्शन नहीं है। वह आध्यात्मिकता से अछूता भी नहीं है और एक प्रकार से पूर्णतः आध्यात्मिक है। किन्तु आध्यात्मिक होकर भी वह किसी धर्म-विशेष का अङ्ग नहीं है। आधुनिक भारत के कुछ दार्शनिक सभी धर्मों की एकता सव धम समभाव या विश्वधर्म का करते हैं उनके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी दार्शनिक

है जो सर्व धर्म-समभाव या विश्वधर्म की चर्चा तो नहीं करते फिर भी एक परम तत्व के साक्षात्कार पर बल देते हैं। इस तरह विशिष्ट धर्मों के बाह्य आडम्बरों की आलोचना और एक परम तत्व का समर्थन आधुनिक भारतीय दर्शन में पर्याप्त मात्रा में दृष्टिगोचर होता है।

(२) आधुनिक भारतीय दर्शन, समाज की प्राचीन और मध्ययुगीन रचना की आलोचना करता है और मानवता की एकता, समता तथा स्वतन्त्रता के आधार पर एक नये समाज की रचना का निर्देश करता है। यह समाज-रचना एक ओर साम्राज्यवादी तथा पूँजीवादी समाजों से भिन्न है तो दूसरी ओर साम्यवादी समाज से। इसका मूलाधार वैचारिक स्वतन्त्रता और सर्वोदय है।

(३) आधुनिक भारतीय दर्शन, शब्द-प्रमाण या आगम-प्रमाण को महत्त्व नहीं देता है। वह अपनी स्थापना अनुभव तथा युक्ति के आधार पर करता है।

इन तीनों विशेषताओं का एक साथ जन्म कबीर के विचारों से होता है। कबीर ने मध्ययुगीन धर्मों तथा उनकी साधनाओं से अपने पन्थ को भिन्न किया है। उन्होंने नाथ सम्प्रदाय, हठयोग, सहजिया सम्प्रदाय, शाक्तमत, बौद्ध ध्यानमार्ग, इस्लाम के कलाम तथा हिन्दूधर्म के कर्मकाण्डों की आलोचना की है। हिन्दू धर्म की मूर्तिपूजा तथा इस्लाम धर्म की किताब-पूजा की भी उन्होंने कटु आलोचना की है। वास्तव में ये सभी सम्प्रदाय मध्य-युगीन भारतीय संस्कृति के अङ्ग हैं। कबीर ने इन सम्प्रदायों की आलोचना और अपने पन्थ का निर्माण एक साथ किया था। उनको मध्ययुगीन धार्मिक साधकों की पंक्ति में बैठाना अनुचित है। अतः यह कहना कि कबीर मध्ययुगीन सन्त हैं, गलत है। ऐसा वे ही लोग कहते है जो अपने पूर्वाग्रहों के कारण आधुनिक भारतीय संस्कृति का सूत्रपात १६वीं सदी से मानते है और इसके पूर्व के सन्त दार्शनिकों को मध्ययुगीन कहते हैं। किन्तु हमारा निश्चित मत है कि आधुनिक भारतीय संस्कृति का आरम्भ उस समय से हुआ, जिस समय उपर्युक्त धर्मों या सम्प्रदायों से अलग एक स्वस्थ धर्म-साधना तथा सामाजिक जीवन का मार्ग अपनाया गया। कबीर से ही इसका समारम्भ होता है। उन्होंने ही शाक्तों, योगियों, सहजिया साधुओ, मौलवियों, मुल्लाओं और रूढ़िवादी पण्डितों की धर्म-साधनाओं तथा सामाजिक कर्मकाण्डों की सबसे पहिले आलोचना करके एक स्वस्थ धार्मिक साधना तथा सामाजिक रहन-सहन का मार्ग प्रदर्शित किया। कबीर का मार्ग भक्तियोग है और इसका सम्बन्ध रामानुज के भक्ति-मार्ग और प्रपत्ति-मार्ग से बताया जाता है; किन्तु रामानुज का भक्ति-मार्ग या प्रपत्तिमार्ग प्राचीन रूढ़ियों को लेकर चलता है और कबीर का भक्तियोग इन रूढ़ियों से मुक्त है। उदाहरण के लिए, रामानुज के मार्ग में कर्म-मीमांसा और वर्णाश्रम-धर्म की पूरी मान्यता है, किन्तु कबीर के मार्ग में इनकी मान्यता नहीं है। अतएव कबीर का मार्ग रामानुज के मार्ग से भिन्न है। इस प्रकार जहाँ रामानुज मध्ययुगीन दर्शन के प्रतिनिधि हैं, वहाँ कबीर आधुनिक दर्शन के प्रवर्तक हैं।

कबीर ने विशिष्ट धर्मों की आलोचना की है, विशेषतः हिन्दू और इस्लाम की। उन्होंने दोनों के बाह्य आडम्बरों, बाह्य भेदों या प्रतीकों, अन्ध-विश्वासों तथा रूढ़ियों का प्रचण्ड विरोध किया है और एक स्वर से तीर्थ-यात्रा तथा हज्ज, कैलाश और काबा, पूजा तथा

नमाज, माला तथा तसबी, उपनयन तथा सुन्नत, मन्दिर तथा मसजिद, वेद तथा कुरान, गायत्री मन्त्र तथा कलमा, व्रत-उपवास और रोजा, अनुष्ठान तथा मांसाहार, स्वर्ग-नरक तथा बहिस्त-दोजख इत्यादि को ईश्वर-प्राप्ति के लिये व्यर्थ बताया है। किन्तु ऐसा करते हुए भी उन्होंने राम और रहीम, केशव और करीम, ईश्वर और अल्लाह की एकता का प्रतिपादन किया है। उन्होंने स्पष्टतः कहा है कि सभी धर्मों का ईश्वर एक है, उसे चाहे जिस नाम से पुकारा जाय। नाम की अनेकता के कारण नामी की अनेकता नहीं सिद्ध होती है। ईश्वर के विभिन्न नामों को लेकर जो लोग लड़ते-झगड़ते हैं, उन्हें धार्मिक तथा ईश्वर-भक्त नहीं कहा जा सकता है।

इस प्रकार सभी धर्मों की आन्तरिक एकता का प्रतिपादन करते हुए उनके बाह्य आडम्बरों, प्रतीकों और विश्वासों का खण्डन कबीर ने इतने ओजस्वी शब्दों में किया है कि उनके सामने राजा राममोहन राय, महात्मा गांधी, भगवान दास आदि के इस प्रसङ्ग के वाक्य निस्तेज लगते हैं। नाभादास ने कहा है कि कबीर ने पक्षपातरहित होकर अपने मत को व्यक्त किया है और मुँह देखी बात नहीं कही है। किन्तु आधुनिक युग के भारतीय दार्शनिक हिन्दू-मुस्लिम एकता, सर्वधर्म समभाव या विश्वधर्म की चर्चा करते हुए भी कबीर की भाँति पक्षपात-रहित नहीं हैं। वे कभी-कभी ऐसी बातें कहते हैं जिससे लगता है कि वे मुँहदेखी कह रहे हैं। विश्वधर्म की स्थापना में वे इतने दत्तचित्त नहीं हैं जितने कबीर थे। अभी कबीर का सन्देश पूरा कार्यान्वित नहीं हुआ है। उनसे बढ़कर धार्मिक आडम्बरों का आलोचक अभी तक नहीं पैदा हुआ। कबीर ने इस क्षेत्र में एक क्रान्ति की है जिसकी तुलना देकार्त और स्पीनोजा की क्रान्ति से की जा सकती है। जैसे देकार्त और स्पीनोजा ने ईश्वर के अस्तित्व का अनुभव तथा युक्ति से सिद्ध किया और मध्ययुगीन धर्म-मीमांसा या धर्मशास्त्र की आलोचना की, उसी तरह कबीर ने मध्ययुगीन भारतीय धर्मशास्त्र की आलोचना करते हुए अनुभव तथा युक्ति के बल पर ईश्वर को सिद्ध किया और भारतीय दर्शन को धर्मशास्त्र से स्वतन्त्र किया। उनकी क्रान्ति का प्रभाव सम्पूर्ण देश पर पड़ा और प्रत्येक प्रान्त में ऐसे अनेक सन्त हुए जिन्होंने कबीर के सन्देश के अनुसार अपने जीवन का निर्वाह किया और अपनी वाणी द्वारा जनता में अपनी विचारधारा का प्रचार किया। आधुनिक भारत के निर्माताओं में प्रमुख विश्वकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर कबीर की ही बोली बोलते हैं। पश्चिमी विद्वानों के लिए रवि बाबू भले ही नवीन सन्देश के संवाहक हों, किन्तु जिन लोगों ने कबीर का अनुशीलन किया है, उनके लिए रवि बाबू कबीर की ही पुनरुक्ति करते प्रतीत होते हैं। जिन विचारों को कबीर ने हिन्दी में रखा है, उसी का प्रवचन टैगोर ने बंगला और अँग्रेजी में किया है। इससे टैगोर के कार्यों का मूल्यांकन कम नहीं होता, प्रत्युत यह ध्वनित होता है कि टैगोर के कार्य कितनी ठीक दिशा में थे। उन्होंने अपना सम्बन्ध उस प्रगतिशील परम्परा से जोड़ा है जिसके प्रवर्तक सन्त कबीर हैं।

हिन्दू-मुस्लिम के आपसी अलगाव और जाति-पाँति के भेदभाव को कबीर ने जड़ से उखाड़ने की कोशिश की थी। उन्होंने मानव मानव की समता का पाठ पढ़ाया था इस प्रसङ्ग में उसके तर्क आज भी अत्यन्त नवीन हैं यथा

(क) को हिन्दू को तुरक कहावै, एक जिमी पर रहिये।
वेद कितेब पढ़े वे कुतुबा, वे मोलना वे पांडे।
बेगरि बेगरि नाम धराये, एक मटिया के भांडे॥

(ख) एक रुधिर एकै मल मूतर, एक चाम एक गूदा।
एक बूँद ते सृष्टि रची है, कौन ब्राह्मन कौन सूदा॥

(ग) ब्राह्मन, छत्रिय, बैस, सूद्र सब भगत समान न कोई।

यों तो गौतम बुद्ध ने भी जाति-पाँति की आलोचना की थी और उसको तोड़कर अपना बौद्ध सङ्घ बनाया था, किन्तु उनके सङ्घ में धीरे-धीरे राजाओं, महाराजाओं और पूंजीपतियों या सेठों का विशेष सम्मान होने लगा। स्वयं गौतम बुद्ध ने दासों को प्रव्रज्या देने से इनकार किया था। कबीर ने इन दासों को भक्तियोग सिखाया। उन्होंने जो पन्थ चलाया, उसमें उच्च वर्ग के लोगों को महत्वपूर्ण स्थान नहीं दिया गया। उनका कुटुम्ब-परिवार उन लोगों से बना था जिन्हें हम हरिजन, दास या शूद्र कहते है। यथा :—

इतनो है सब कुटुम हमारो।
सैन, धना और नाभा, पीपा, कबीर, रैदास चमारो[२]॥

स्वयं कबीर ने किसी को भी भक्तियोगी होने से मना नहीं किया। उन्होंने घोषित किया कि सभी लोग यानी छत्तीसों कौम के लोग साधु हो सकते हैं। सन्तों की जाति नही होती और साधुओं की जाति नहीं पूंछनी चाहिए। कबीर के मतानुसार भक्ति ही समाज मे समता ला सकती है और समाज की विषमता को दूर कर सकती है। इस तरह जहाँ वैदिक परम्परा ने वेदविहित ब्राह्मण को आदर्श माना और जैन तथा बौद्ध परम्पराओं ने अर्हत्-श्रमण को, वहाँ कबीर ने साधु या सन्त या भक्त को आदर्श माना। आज हम देखते है कि ब्राह्मण और श्रमण के आदर्श भारतीय समाज में नहीं रह गये है। किन्तु सन्त या भक्त का आदर्श आज भी बहुसम्मानित है। ब्राह्मण और श्रमण होना कुछ ही जातियों के व्यक्तियो के लिए सम्भव है। ब्राह्मण और श्रमण के आदर्शों में जातीय बन्धन के अतिरिक्त साधना की भी कठिनाई है। सभी लोग उन आदर्शों की साधना नहीं कर सकते। किन्तु भक्ति सभी के लिए सुकर है। कबीर ने एकेश्वरवाद और भक्ति के आधार पर धार्मिक तथा सामाजिक समता स्थापित की।

आधुनिक भारतीय दर्शन पर अद्वैतवाद का विशेष प्रभाव है। किन्तु यह अद्वैतवाद शङ्कराचार्य के अद्वैतवाद से भिन्न है। क्योंकि इसमें शङ्कराचार्य के ज्ञानमार्ग के स्थान पर भक्तियोग आ गया है। यह भी अधिकतर कबीर के ही कारण है। यहाँ कबीर का अद्वैतवाद द्रष्टव्य है। कबीर के अनुसार—

एकहि जोति सकल घट व्यापक, दूजा तत्त न होई।
कहै कबीर सुनो रे सन्तो भटकि मर जनि कोई

फिर वे अद्वैतवाद के मायावाद को भी मानते हैं। किन्तु उनकी साधना श्रवण, मनन और निदिध्यासन की नहीं है। वे वेदान्त के अद्वैत ज्ञानमार्ग की आलोचना करते हैं और अपने ज्ञानयोग की स्थापना करते हैं। उनका ज्ञानयोग वस्तुतः भक्तियोग है और रहस्यवादियों की साधना-पद्धति है। कबीर ने इसको भाव-भक्ति कहा है। इसको पाने के लिए गुरु, नाम-ग्रहण, नाम-जप, नाम-स्मरण, अजपाजप या सोऽहं की साधना तथा उन्मनी की रहनी आवश्यक है। इस मार्ग पर चलने वाले को कुछ दिव्य अनुभव होते हैं। वह अनाहत या अनहद नाद सुनता है और अमृतरस का पान करता है। वह परमब्रह्म का संस्पर्श करता है और उसके दिव्य रूप को देखता है। इस रहस्यवाद का आधार दार्शनिक आदर्शवाद है। कबीर ने इसकी अभिव्यक्तियों की है।

अविगत अपरम्पार ब्रह्म, ग्यान रूप सब ठाँम।
बहु बिचारि करि देखिया, कोई न सारिख राम[3] ॥

फिर अन्ततः जो परम तत्व या ब्रह्म की अनुभूति होती है उसे कबीर बोल और अबोल के मध्य में मानते है। यथा,

जहाँ बोल तँह आखिर आवा। जँह अबोल तँह मन न रहावा ॥
बोल अबोल मँझि है सोई। जस ओहु है तस लखै न कोई[4] ॥

इसका तात्पर्य है कि ब्रह्म, वक्तव्य और अवक्तव्य दोनों के मध्य में है। अभिधा द्वारा उसका अभिधान नहीं किया जा सकता। इस अर्थ में वह अवक्तव्य है। किन्तु लक्षणा द्वारा उसका अभिधान सम्भव है। इस अर्थ में वह वक्तव्य है। यही कारण है कि कबीर उसे वक्तव्य और अवक्तव्य के मध्य में मानते हैं। वह जैसा है वैसा ही है। उसका निरूपण उस प्रकार से नही हो सकता है जैसे हम त्रिभुज का निरूपण करते है। किन्तु संसार की प्रत्येक वस्तु को भी हम पूर्ण वक्तव्य नहीं कह सकते हैं। उदाहरण के लिए एक मेज को लीजिए। उसका चाहे जितना वर्णन किया जाय, वह सब मेज के भावी अनुभवों की नवीनता को व्यक्त नहीं कर सकता है। इस तरह मेज वक्तव्य और अवक्तव्य दोनों के मध्य में है। अतः यदि कबीर ने ब्रह्म को वक्तव्य और अवक्तव्य के मध्य में कहा है तो वह गलत नहीं है। वर्तमान भारतीय दर्शन ही नहीं, किन्तु विश्व के समस्त दर्शन कबीर के इस अद्वैतवाद तथा रहस्यवाद से आगे अभी नही बढ़े हैं।

कबीर के रहस्यवाद की समानता ईसाई सन्तों के उस रहस्यवाद से की जा सकती है जिसमें उन्होंने नैतिक तैयारी (Path of Preparation) या सत्त्वशुद्धि, प्रकाशानुभूति (Path of Illumination) और ऐक्यानुभव (Path of Communion) का परमार्थ-अनुभव के क्रमशः तीन सोपान कहे हैं। सत्त्वशुद्धि में आत्मसंयम, अहिंसा, सत्य अपरिग्रह आदि सद्गुणों का सम्पादन होता है। प्रकाशानुभूति में दिव्य अनुभव होते हैं, जैसे अनहदनाद सुनना, अमृतरस पीना, परम ज्योति का साक्षात्कार, भगवान का स्पर्श आदि। फिर इन अनुभवों के पश्चात् ऐक्यानुभव होता है जो वक्तव्य और अवक्तव्य के मध्य में है। रहस्यवाद के इन तीनों सोपानों का जितना स्पष्ट विवरण कबीर की रचनाओं में है, उतना

किसी अन्य सन्तों की रचनाओं में नहीं । यद्यपि कबीर के सामने ईसाई मत के साथ भारतीय धर्मों के समन्वय की समस्या नहीं थी, तथापि उन्होंने जो रहस्यवादी धर्म दिया है वह ईसाई मत के रहस्यवाद के अनुकूल है । संसार के किसी काल तथा देश का कोई भी रहस्यवादी कबीर से अधिक गहरा अनुभव नहीं देता है । ग्रीस के प्लाटिनस हों या अरब के इब्न अल अरबी हों या ईसाई संत ईक्खर्ट टेरेसा आदि हों, सब के अनुभवों के उपर्युक्त तीन ही सोपान है, जो कबीर की रचनाओं में पूर्णतः मिलते हैं ।

किन्तु कबीर की सबसे महत्त्वपूर्ण दार्शनिक क्रान्ति शब्द-प्रमाण का खण्डन है । उन्होने वेद तथा कुरान दोनों को अप्रामाणिक ठहराया और अपने अनुभवों तथा तत्त्वमूलक विचारों के आधार पर अपना उपदेश दिया । उनका कहना है :—

> **मेरा तेरा मनुवां कैसे इक होइ रे ।**
> **मैं कहता हौं आँखिन देखी, तू कागद की लेखी रे ।**
> **मैं कहता सुरझावन हारी, तू राख्यो अरुझाई रे ॥**

कबीर ने वेद, पुराण, रामायण, महाभारत तथा कुरान को प्रमाण न मानकर रमैनी, शब्द और साखी अर्थात् अपने वचनों को प्रमाण माना । उन्होंने अपने वचनों को वेद तथा कुरान से ऊँचा कहा । यही उनकी सबसे बड़ी दार्शनिक क्रान्ति है । आधुनिक भारत के दार्शनिक, कबीर की ही तरह शब्द-प्रमाण को छोड़कर अपने अनुभव और विचार को सर्वाधिक प्रमाण मानते हैं ।

यों तो वेदों को प्रमाण गौतम बुद्ध तथा जैन तीर्थंकरों ने भी नहीं माना था, किन्तु उनके अनुयायियों ने बुद्ध-बचन तथा जैनागमों को वैसे ही प्रमाण माना, जैसे हिन्दुओं ने वेदो को । फिर, मुसलमान भी वेदों को प्रमाण नहीं मानते हैं, किन्तु वे कुरान को प्रमाण मानते है । कबीर ने इन सबको, १९वीं शती के दार्शनिक नित्शे की ही भाँति पढ़े-लिखे बैल कहा । उनके मत से, ऐसे लोगों से अच्छे वे लोग हैं जो प्रेम-भक्ति करते हैं ।

अभी तक हमने देखा कि आधुनिक भारतीय दर्शन की मुख्य विशेषताओं का सूत्रपात कबीर से हुआ । इनके अतिरिक्त कुछ और उल्लेखनीय बातें हैं जो सिद्ध करती हैं कि आधुनिक भारतीय दर्शन के जनक कबीर हैं । इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण बात है उनकी रचनाओं का हिन्दी भाषा में होना । हिन्दी आधुनिक भाषा है और उसकी उत्पत्ति धार्मिक क्षेत्रों में हुई । सन्तों और भक्तों ने ही देश की जनता को सन्मार्ग पर लाने के लिए सबसे पहिले हिन्दी के माध्यम से अपने-अपने उपदेश दिये । उन्हीं के द्वारा हिन्दी का विकास हुआ । यह भाषा उनके विचारों की वाहन थी । जिस समय देश के कुछ विद्वान संस्कृत के माध्यम से प्राचीन दर्शन के खण्डन-मण्डन में लगे थे, उस समय हिन्दी-प्रदेश के सन्तगण हिन्दी के माध्यम से अपने विचारो को फैला रहे थे । यह समझना कि उनकी नवीनता केवल हिन्दी भाषा को विकसित करने मे है या वे हिन्दी भाषा में संस्कृत के सिद्धान्तों का मात्र अनुवाद कर रहे थे, भूल है । जैसे वे एक नयी भाषा का विकास कर रहे थे, वैसे ही वे एक नयी विचारधारा का भी विकास कर रहे थे अपनी समझ में तो वे एक नयी का ही विकास कर रहे थे और उसको

अभिव्यक्त करने के लिए उन्होंने जन-भाषा हिन्दी को चुना था। अतः उनकी विचारधारा उनके लिए अधिक महत्त्वपूर्ण थी। वे केवल साहित्यकार या कलाकार नहीं थे। अतः हमें उनकी विचारधारा को उनकी भाषा से अधिक महत्व देना है। यह विचारधारा नवीन युग को जन्म दे रही थी और मध्ययुग को समाप्त कर रही थी। जैसे फ्रान्सीसी, अंग्रेजी, जर्मन आदि भाषाओं ने १५वीं शती से लेकर १७वीं शती तक लैटिन का स्थान ले लिया, उसी तरह १४-१५वीं शती में ही भारत में हिन्दी ने संस्कृत, पाली, प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाओं का स्थान ले लिया था। फिर जैसे योरप में आधुनिक भाषाओं के उद्भव तथा विकास के साथ आधुनिक युग का प्रारम्भ हुआ, वैसे ही भारत में भी आधुनिक भाषाओं के उद्भव तथा विकास के साथ आधुनिक युग का आरम्भ मानना चाहिए। इस दृष्टि से हम देखें तो पता चलेगा कि आधुनिक भारतीय दर्शन का जन्म सन्त-साहित्य से हुआ, और सन्त-साहित्य के सबसे प्रथम प्रभावशाली सन्त और दार्शनिक कबीर हैं। अतः कबीर आधुनिक भारतीय दर्शन के जनक हैं।

कुछ लोगों का विचार है कि भारत में आधुनिक युग का सूत्रपात अंग्रेजी भाषा के प्रवेश से हुआ। लेकिन अधिकांश लोगों का विचार है कि आधुनिक युग का आरम्भ बहुत पहिले से हो गया था और अंग्रेजी के प्रवेश से उसको प्रोत्साहन मिला तथा वह आगे बढ़ा। कुछ भी हो धर्म तथा दर्शन के क्षेत्र में अंग्रेजी तथा अंग्रेजों के प्रवेश से भारत में आधुनिक युग का आरम्भ नहीं हुआ। इस क्षेत्र में अंग्रेजी ने केवल पुनर्जागरण का कार्य किया है। रचनात्मक कार्य या नवीन कार्य बहुत कम हुआ है। जो कुछ नवीन रचनात्मक कार्य हुआ है वह सन्त परम्परा के अन्तर्गत है। स्वामी रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ, महर्षि अरविन्द, महर्षि रमण, महात्मा गांधी आदि आधुनिक भारत के सन्त और दार्शनिक उसी सन्त परम्परा के अन्तर्गत आते हैं जिसके प्रवर्तक कबीर थे। कबीर का प्रभाव इन लोगों की विचारधाराओं पर पर्याप्त मात्रा में देखा जा सकता है।

अद्वैतवाद के प्रतिष्ठापकों में शंकराचार्य का नाम आदर के साथ लिया जाता है। शङ्कराचार्य और कबीर में कुछ मौलिक अन्तर है। सबसे बड़ा अन्तर व्यवहार और परमार्थ को लेकर है। शङ्कराचार्य व्यवहार में द्वैतवादी हैं और परमार्थ में अद्वैतवादी। कबीर ने व्यवहार तथा परमार्थ दोनों में अद्वैतवाद का समर्थन किया है। फिर शङ्कराचार्य शब्द-प्रमाण को महत्त्व देते हैं और कबीर नहीं देते। शङ्कराचार्य श्रुत्यनुगृहीत ज्ञानमार्ग के पोषक हैं, किन्तु कबीर भाव-भक्ति के। शङ्कराचार्य का मत है कि भक्ति का दर्जा मुक्ति से निम्न है, किन्तु कबीर मुक्ति और भक्ति को समकक्ष मानते हैं। शङ्कराचार्य, कबीर जैसे रहस्यवादी नहीं है। वे अनाहतनाद, अमृतरस आदि के अनुभवों पर बल नहीं देते हैं। कबीर इन अनुभवों पर बल देते हैं। इस प्रकार यद्यपि शङ्कराचार्य और कबीर में अद्वैतवाद तथा मायावाद को लेकर मतैक्य है, तथापि उनमें उपर्युक्त मौलिक मतभेद भी हैं। आधुनिक भारत इन मतभेदों मे शङ्कराचार्य के साथ न होकर कबीर के साथ है। इसलिए कबीर को ही आधुनिक भारतीय दर्शन का जनक समझना चाहिए, न कि शङ्कराचार्य को। वास्तव में भारतीय दर्शन का आरम्भ कपिल से हुआ है। कपिल भारतीय दर्शन के जनक हैं और सांख्य दर्शन प्रथम

भारतीय दर्शन है इसके पाश्चात् गौतम बुद्ध ने भारतीय दर्शन में क्रान्ति की और बौद्ध दर्शन का विकास हुआ।

बौद्ध दर्शन के विकास के साथ ही हिन्दू षट् दर्शनों का विकास हुआ। यहाँ तक प्राचीन भारतीय दर्शन है। इसके पश्चात् शङ्कराचार्य का आविर्भाव हुआ। उन्होंने भारतीय दर्शन में एक दूसरे युग को जन्म दिया। उनको हम मध्ययुगीन भारतीय दर्शन का जनक मानते हैं। उनका प्रभाव आज तक दीख पड़ता है। उनके समर्थन तथा विरोध में भारतीय दर्शन का उतना ही विकास हुआ—जितना विकास बौद्ध दर्शन के समर्थन तथा विरोध में हुआ था। उनके ब्रह्मवाद और ज्ञानमार्ग का विरोध वैष्णव मत ने किया। कबीर यद्यपि इसी वैष्णव मत की परम्परा में पालित हुए थे, तथापि उन्होंने एक नया समन्वित दर्शन दिया, एक नई क्रान्ति की। उन्होंने शङ्कराचार्य के अद्वैतवाद को मानते हुए व्यवहार में भक्ति के आधार पर अद्वैतवाद की स्थापना की। कबीर की विचार-परम्परा का प्रकाशन हिन्दी तथा भारत की अन्य आधुनिक भाषाओं में स्वच्छन्दतापूर्वक हो रहा है। शङ्कराचार्य का युग भी संस्कृत तथा अँग्रेजी के माध्यम से आज तक भारत में जी रहा है। किन्तु इसका प्रभाव आधुनिक भारतीय भाषाओं पर नहीं है। आज भारतीय दर्शन का विकास आधुनिक भारतीय भाषाओं में होना शुरू हो गया है। अतः स्वभावतः इस क्षेत्र में लोग कबीर-जैसे सन्तों से अधिक प्रभावित होंगे और शङ्कराचार्य के प्रभावों से दूर रहेंगे। इस कारण आधुनिक भारतीय दर्शन का जनक कबीर को समझना चाहिए और शङ्कराचार्य के युग का प्रायः अन्त ही समझना चाहिए। शङ्कराचार्य के युग को अन्त करने वाली प्रवृत्तियों में व्यवहार में अद्वैतवाद लाना, जातिगत भेद-भावों को दूर करना तथा शब्द-प्रमाण को न मानना प्रमुख है। किन्तु इन प्रवृत्तियों का आरम्भ कबीर से हुआ है। अतः कबीर ही आधुनिक भारतीय दर्शन के जनक हैं। उन्होंने उतनी ही बड़ी क्रान्ति की है जितनी बड़ी क्रान्ति कपिल, बुद्ध तथा शङ्कराचार्य ने की थी। उन्होंने भारतीय दर्शन को बिना किसी भेद-भाव के साधारण जनता तक पहुँचाया और उसके रहन-सहन को ऊँचा उठाया। एक ओर उससे आध्यात्मिकता तथा नैतिकता का प्रचार-प्रसार हुआ है तो दूसरी ओर साधारण जनता ने भी मौलिक ढंग से विचार करना, प्रश्न करना तथा स्वय समाधान निकालना सीखा।

सन्दर्भ-सङ्केत

(१) परशुराम चतुर्वेदी : उत्तरी भारत की सन्त परम्परा, पृष्ठ ७३३ (२) उत्तरी भारत की सन्त परम्परा, पृ० ७२२ से उद्धृत (३) कबीर ग्रन्थावली, सम्पादक डॉ० पारसनाथ तिवारी, पृ० ११८ (४) वहीं, पृ० १३० ।

'यशस्तिलक' में प्राचीन भारतीय वास्तु-शिल्प

• गोकुलचन्द्र जैन

सोमदेव सूरि कृत 'यशस्तिलक' (१०वीं शती) में वास्तु-शिल्प सम्बन्धी विविध प्रकार की सामग्री के उल्लेख मिलते हैं। विभिन्न प्रकार के शिखरयुक्त चैत्यालय (देव-मन्दिर), गगनचुम्बी महाभाग भवन, त्रिभुवनतिलक नामक राजप्रासाद, लक्ष्मीविलासतामरस नामक आस्थानमण्डप, श्री सरस्वतीविलासकमलाकर नामक राजमन्दिर, दिग्विजयविलोकनविलास नामक क्रीडाप्रासाद, करिविनोदविलोकनदोहद नामक प्रधानचरगिप्रासाद, मनसिजविलासहंस-निवासतामरस नामक वासभवन, गृहदीर्घिका, प्रमदवन, यन्त्रधारागृह आदि का विस्तृत वर्णन विभिन्न प्रसङ्गों में आया है। सम्पूर्ण सामग्री का विवेचन इस प्रकार है—

चैत्यालय

देवमन्दिर के लिए 'यशस्तिलक' में चैत्यालय शब्द का प्रयोग हुआ है। सोमदेव ने लिखा है कि राजपुर नगर विविध प्रकार के शिखर युक्त चैत्यालयों से सुशोभित था।[1] शिखर क्या थे मानो निर्माण कला के प्रतीक थे।[2] शिखरों से विशेष कान्ति निकलती थी। सोमदेव ने इसे देवकुमारों को निरवलम्ब आकाश से उतरने के लिए अवतरण मार्ग कहा है।[3] शिखर ऐसे लगते थे मानो शिशिरगिरि कैलाश का उपहास कर रहे हों।[4] शिखर की अटनि पर सिंह निर्माण किया गया था। सोमदेव ने लिखा है कि अटनि पर बने सिंह को देख कर चन्द्रमृग चकित रह जाते थे।[5] शिखरों की ऊँचाई की कल्पना सोमदेव के इस कथन से की जा सकती है कि सूर्य के रथ का घोड़ा थक कर मानो क्षण भर विश्राम के लिए शिखरों पर ठिठक रहता था।[6] देवयानों को चक्कर काट कर ले जाना पड़ता था।[7] निरन्तर विहार करते हुए विद्याधरों की कामिनियों के कपोलों का स्वेदजल चैत्यालयों के शिखरों पर लगी पताकाओं की हवा से सूख जाता था।[8]

ध्वजदण्डों में चित्र बनाये जाते थे। सोमदेव ने लिखा है कि सटकर चलती सुर-सुन्दरियों के चञ्चल हाथों से ध्वजदण्डों के चित्र मिट जाते थे।[9] ध्वजस्तम्भ की स्तम्भिकाओं में मणिमुकुर लगे थे।[10] शिखरों पर रत्नजटित काञ्चनकलश लगाए गये थे, जिनसे निकलने वाली कान्ति से आकाश-लक्ष्मी का चँदोवा सा तन रहा था।[11] पानी निकलने के लिए के प्रणाल बनाए गये थे।[12] किंपिरि कंगूरे/ सूर्यकान्त के बने थे जो सूर्य

की रोशनी में दीपकों की तरह चमकते थे।[13] उज्ज्वल आमलासार पर कलहंस-श्रेणी बनायी गयी थी।[14] उपरितल पर घूमते हुए मयूर-बालक दिखाए गये थे।[15] सामने ही स्तूप बनाया गया था।[16] विटङ्कों पर शुक-शावक बैठे हरित-अरुणमणि का भ्रम पैदा कर रहे थे।[17] चाप पक्षियों के पङ्खों से मेचक-रचना ढँक गयी थी।[18] पालिध्वजाओं में क्षुद्र घण्टिकाएँ लगायी गयी थीं।[19] चूने से ऐसी सफेदी की गयी थी मानो आकाशगङ्गा का प्रवाह उमड़ आया हो।[20] चैत्यालय ऐसे लगते थे मानो आकाशवृक्ष के फूलों के गुच्छे हों, श्वेत द्वीप-सृष्टि हों, आकाश-देवता के शिखण्ड-मण्डन का पुण्डरीक समूह हों, तीनों लोकों के भव्य जनों के पुण्योपार्जन क्षेत्र हों, आकाश समुद्र की फेनराशि हो, शङ्कर का अट्टहास हो, स्फटिक के क्रीडाशैल हों, ऐरावत के कलभ हों। चारों ओर से पड़ रही माणिक्यों की कान्ति द्वारा मानों भक्तों को स्वर्गारोहण के लिए सोपान परम्परा रच रहे हों, संसार सागर से तिरने के लिए जहाज हों।

चैत्यालयों के इस वर्णन में सोमदेव ने प्राचीन वास्तुशिल्प के कई पारिभाषिक शब्दों का उल्लेख किया है। जैसे—अटनि, केतुकाण्ड चित्र, ध्वजस्तम्भस्तम्भिका, प्रणाल, आमलासारकलश, किंपिरि, स्तूप, विटङ्क।

प्राचीन वास्तुशिल्प में अटनि अर्थात् बाहरी छज्जे पर सिंह रचना का विशेष रिवाज था। इसे झम्पासिंह कहते थे। केतुकाण्ड अर्थात् ध्वजदण्डों पर चित्र बनाए जाते थे। ध्वजा, देवमन्दिर का एक आवश्यक अङ्ग था। ठक्कुरफेरु ने 'वास्तुसार' (३।३५) में लिखा है कि देवमन्दिर के अच्छे शिखर पर ध्वजा न हो तो उस मन्दिर में असुरों का निवास होता है। प्रासाद के विस्तार के अनुसार ध्वजदण्ड बनाया जाता था। एक हाथ के विस्तार वाले प्रासाद में पौन अंगुल मोटा ध्वजदण्ड और उसके आगे क्रमशः आधा-आधा अंगुल बढ़ाना चाहिए (३।२८ वही)। दण्ड की मर्कटी (पाटली) के मुख भाग में दो अर्द्धचन्द्र का आकार बनाने तथा दो तरफ घण्टी लगाने का विधान बताया गया है।[21] ध्वजस्तम्भों के आधार के लिए स्तम्भिकाएँ बनायी जाती थीं। उनमें मणिमुकुर लगाने की प्रथा थी। स्तम्भिकाओं की रचना घण्टोदय के अनुसार की जाती थी।[22] चैत्यालय में देवमूर्ति के प्रक्षालन का जल बाहर निकालने के लिए प्रणाल की रचना की जाती थी। देवमूर्ति अथवा प्रासाद का मुख जिस दिशा में हो, तदनुसार प्रणाल बनाया जाता था। 'प्रासादमण्डन' तथा 'अपराजितपृच्छा' में इसका ब्योरेवार वर्णन किया गया है। शिखर के ऊपर और कलश के नीचे आमलासारकलश की रचना की जाती थी। शिखर के अनुपात से आमलासार बनाया जाता था। 'प्रासादमण्डन' में लिखा है कि दोनों रथिका के मध्य भाग जितनी आमलासारकलश की गोलाई करना चाहिए। आमलासार के विस्तार से आधी ऊँचाई, ऊँचाई का चार भाग करके पौन भाग का गला, सवा भाग का आमलासार, एक भाग की चन्द्रिका और एक भाग की आमलासारिका बनाना चाहिए (४।३२,३३)। आमलासार से ऊपर काञ्चन कलश स्थापित किया जाता था। कलश की स्थापना माङ्गलिक मानी जाती थी (प्रासादमण्डन ४।३६)। 'मण्डन' में ज्येष्ठ, कनीय और अभ्युदय के भेद से कलश के तीन प्रकार बताये गये हैं। सोमदेव ने चैत्यालयों के मुंडेर के लिए किंपिरि कहा है सूर्यकान्त के बने किंपिरि सूर्य की रोशनी में मणिदीपों के

भवन की तरह सारङ्ग (हाथी) शिक्षित किये जा रहे थे। कुल-वृद्धाएं दासियों तथा नौकर चाकरों को नाना प्रकार के निर्देश दे रही थी। ऊँचे तमङ्गों के झरोखों से स्त्रियाँ झाँक रही थीं। कीर्तिसाहार नामक वैतालिक इस त्रिभुवनतिलक नामक भवन का वर्णन इस प्रकार करता है—

"यह प्रासाद, शुभ्रध्वजा-श्रेणियों द्वारा कहीं हवा से हिल रही हिलोरों वाली गङ्गा की तरह लगता है, तो कहीं स्वर्ण-कलशों की अरुण किरणों के कारण सुमेर की छाया कहीं अति श्वेत भित्तियों के कारण समुद्र की शोभा धारण करता है, तो कहीं गगनचुम्बी शिखरों के कारण हिमालय की सदृशता। यह भवन लक्ष्मी का क्रीड़ास्थल, साम्राज्य का महान् प्रतीक, कीर्ति का उत्पत्तिगृह, क्षितिवधू का विश्रामधाम, लक्ष्मी का विलासदर्पण, राज्य की अधिष्ठात्री देवी का कुल-गृह तथा वाग्देवता का क्रीड़ास्थान प्रतीत होता है।" (पृ० २५२-५३)

त्रिभुवनतिलक प्रासाद के वर्णन में सोमदेव ने जो अनेक महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ दी हैं, उनमे पुरन्दरागाह, चित्रभानुभवन, धर्मधाम, पुण्यजनावास, प्रचेतःपस्त्य, वातोदवसित, धनदधिष्ण्य, त्र्यक्षसौध, चन्द्रमन्दिर, हरिगेह, नागेशनिवास, तण्डुभवन इत्यादि की जानकारी विशेष महत्त्व की है। सूर्यमन्दिर, अग्निमन्दिर आदि बनाने की परम्परा प्राचीनकाल से थी। इनके भग्नावेशष या उल्लेख आज भी मिलते हैं।

केवल सोमदेव के उल्लेखों के आधार पर यद्यपि यह कहना कठिन है कि दशवीं शती म उपर्युक्त सभी प्रकार के मन्दिर विद्यमान् थे, तो भी इतनी जानकारी तो मिलती ही है कि प्राचीनकाल में इन सभी मन्दिरों के निर्माण की परम्परा रही होगी।

इसी प्रसङ्ग में प्रासाद या भवन के लिए आए पुर, आगार, भवन, धाम, आवास, पस्त्य, उद्वसित धिष्ण्य, शरण, सौध, मन्दिर, गेह और निवास शब्द भी महत्त्वपूर्ण हैं। भवन या मन्दिर के लिए इतने शब्दों का प्रयोग अन्यत्र नहीं मिलता।

त्रिभुवनतिलक या इसी प्रकार के नामो की परपम्रा भी प्राचीन है। भोज ने चौदह प्रकार के भवनों का उल्लेख किया है, जिनमें एक भुवनतिलक भी है।

आस्थानमण्डप

सोमदेव ने यशोधर के लक्ष्मीनिवासतामरस नामक आस्थानमण्डप का विस्तृत वर्णन किया है। भोज ने भी (अ० ३०) लक्ष्मीविलास नामक भवन का उल्लेख किया है। गुजरात के बड़ौदा आदि स्थानों में विलास नामान्तक भवनों की परम्परा अभी तक प्रचलित है।

आस्थानमण्डप राजभवन का वह भाग था, जिसमें बैठ कर राजा राज्य-कार्य देखते थे।[31] इसे मुग़लकाल में 'दरबारे आम' कहा जाता था।

आस्थानमण्डप राजा के निवास स्थान से पृथक् होता था। प्रातःकालीन दैनिक कृत्य से निवृत्त हो यशोधर ने आस्थानमण्डप की ओर प्रयाण किया। सबसे पहले उन्हें गजशाला या हाथीखाना मिला। उसमें बड़े-बड़े दिग्गज हाथी गोलाकार बँधे थे। उनके अरुण माणिक्यों से मढ़े गजदन्तों में पड़ रही परछाईं से उनके कुम्भस्थलों की सिन्दूर शोभा द्विगुणित हो रही

सरस्वतीविलास

महाराज यशोधर ने रात्रि में जिस प्रासाद में शयन किया, उसे सोमदेव ने सरस्वती-विलासकमलाकर नामक राजमन्दिर कहा है।[32] सोमदेव ने इसका विस्तृत वर्णन नहीं किया है। सम्भवतया यह त्रिभुवनतिलक नामक प्रासाद का ही एक भाग था।

दिग्विलयविलोकनविलास

दिग्विलयविलोकनविलास नामक भवन क्रीड़ा पर्वतक की तलहटी में बनाया गया था।[33] सम्राट इस भवन में बैठकर प्रथम वर्षा का आनन्द लेते थे। परिवार से घिरे[34] महाराज यशोधर जब सेवा में आये सामन्त-समाज के साथ[35] वर्षा-ऋतु की शोभा का आनन्द ले रहे थे[36], तभी संधीविग्रही ने आकर सूचना दी कि पाञ्चाल नरेश का दुकूल नामक दूत आया है, प्रतिहार भूमि में बैठा है (५४६)। इस प्रसङ्ग में प्रासाद का तो विशेष वर्णन नहीं है, किन्तु वर्षा-ऋतु तथा राजनीति सम्बन्धी विवेचन है।

करिविनोदविलोकनदोहद

करिविनोदविलोकनदोहद नामक प्रासाद प्रधावधरणि (गजशिक्षाभूमि) में बनाया गया था, जिसमें गजविशेषज्ञ आचार्यों के साथ बैठ कर महाराज गजकेलि देखते थे।[37] इस प्रसङ्ग में सोमदेव ने प्रासाद का तो विशेष वर्णन नहीं किया, किन्तु गजशास्त्र विषयक महत्त्वपूर्ण सामग्री दी है जिसका विवेचन यहाँ अप्रासंगिक है। आजकल जिस प्रकार स्पोर्ट्स स्टेडियम बनाये जाते हैं, उसी प्रकार प्राचीन काल में करिविनोदविलोकनदोहद आदि भवनों का निर्माण किया जाता था।

मनसिजविलासहंसनिवासतामरस

अन्तःपुर या रनिवास के लिए सोमदेव ने मनसिजविलासहंसनिवासतामरस नाम दिया है। यह वासभवन सतखण्डा महल का सबसे ऊपरी भाग था।[38] यशोधर अधिरोहिणी (सीढ़ियों) से चढ़ कर वहाँ गया। सोमदेव का यह उल्लेख विशेष महत्त्व का है। इससे ज्ञात होता है कि दशवीं शताब्दि में इतने ऊँचे-ऊँचे प्रासादों की रचना होने लगी थी। ग्वालियर जिले के चन्देरी नामक स्थान के खण्डित कुपक महल की पहचान सात खण्ड के प्रासाद से की जाती है। मालवा के मुहम्मद शाह ने सन् १४४५ में इसके बनाने की आज्ञा दी थी। वर्तमान समय में इसके केवल चार खण्ड शेष रहे हैं।[39] सोमदेव ने एक स्थान पर और भी सप्ततल प्रासाद का उल्लेख किया है।[40] यशोधर सभा विसर्जित करके चल कर (चरणमार्गेणैव, २३) महादेवी के वास भवन में गया था। प्रतिहारपालिका ने द्वार पर क्षण भर के लिए यह कह कर रोक लिया कि अन्य स्त्रीजनासक्ति जान कर महादेवी कुपित है। सम्राट ने अपना प्रणयकोप जाहिर किया- तब कहीं उसने रास्ता दिया। उसने हँसकर देहली छोड़ दी[41] और ... पार कराती भवन में ले गयी

इस वासभवन की सुनहरी दीवारों पर यक्षकर्दम का लेप किया गया था और कपूर से दन्तुरित किया गया था।[४२] रजत-वातायनों पर कस्तूरी का लेप किया गया था, जिससे झरोखे से आने वाली हवा सुगन्धित हो कर आ रही थी।[४३] स्फटिक की देहली को गाढ़ स्यन्दरस से साफ किया गया था।[४४] कुंकुम रङ्गे मरकतपराग से फर्श तलभाग पर बह द कर अधखिले मालती के फूलों से रङ्गोली बनायी गयी थी।[४५] कालागुरु चन्दन की धूप निरन्तर जल रही थी, जिसके धुएँ से वितान पर्यन्त लटकती मुक्तामालाएँ सुगन्धित हो गयी थीं।[४६] कूर्चस्थान पर फूलों के गुलदस्ते रखे थे।[४७] मञ्चरश्मिशील हेमकन्यका के कर पर ताम्बूलकपिलिका रखी थी।[४८] तुहिनतरु के बने वलीकों पर उपकरण टाँगे गये थे।[४९] मणि के पिञ्जड़े में शुक-सारिका बैठी कामकला में लीन थी।[५०]

उपर्युक्त वर्णन में आये कूर्चस्थान, मञ्चारश्मिहेमकन्यका तथा वलीक आदि शब्द विशेष महत्त्व के हैं। कूर्चस्थान का अर्थ श्रुतसागर ने सम्भोगोपकरणस्थापनप्रदेश किया है। मञ्चाश्मिहेमकन्यका के विषय में यन्त्रशिल्प प्रकरण में विचार किया गया है। उस प्रकार की यान्त्रिक पुत्तलिकाओं के निर्माण की परम्परा सोमदेव के पूर्व से चली आ रही थी और बाद तक चलती रही। वलीक का अर्थ श्रुतसागर ने पट्टिका किया है। यह अर्थ पर्याप्त नहीं है। वृक्षों पर उपकरण टाँगने की परम्परा का उल्लेख कालिदास ने भी किया है। जब शकुन्तला पतिगृह को जाने लगी, तब वृक्षों ने उसे समस्त आभूषण दिये (शाकुन्तलम्, अ० ४)। सम्भवतया सोमदेव का उल्लेख इसी ओर सङ्केत करता है। कर्पूर वृक्ष से वलीक बनाये गये थे, जिनमें बीच-बीच में पुष्पमालाएँ टँगी थीं और उपकरण टँगे थे।[५१]

दीर्घिका

दीर्घिका का उल्लेख यशस्तिलक में कई बार हुआ है। दो स्थानों पर विशेष वर्णन भी है: जलक्रीडा के प्रसङ्ग में प्रथम आश्वास में, और स्नानधारागृह के वर्णन में तृतीय आश्वास में।

दीर्घिका, प्राचीन प्रासाद-शिल्प का एक पारिभाषिक शब्द था। यह एक प्रकार की लम्बी नहर होती थी जो राजप्रासादों में एक ओर से दूसरी ओर दौड़ती हुई अन्त में प्रमदवन या गृहोद्यान को सींचती थी। बीच-बीच में जल के प्रवाह को रोक कर पुष्करणी, गन्धोदक कूप, क्रीडावापी इत्यादि बना लिये जाते थे। कहीं जल को प्रहरण मारके आगे विविध प्रकार के पशु-पक्षियों के मुँह से पानी झरता हुआ दिखाते थे। लम्बी होने के कारण इसका नाम दीर्घिका पड़ा। सोमदेव ने यशोधर के महल की दीर्घिका का विस्तृत वर्णन किया है। इसका तलभाग मरकत मणि का बना था।[५२] भित्तियाँ स्फटिक की थीं।[५३] सीढ़ियाँ स्वर्ण की बनायी गयी थीं।[५४] तट-प्रदेश मुक्ताफल के बने थे।[५५] जल को कहीं हाथी, मगर इत्यादि के मुँह से झरता हुआ दिखाया गया था।[५६] जल-तरङ्गों पर कर्पूर का छिड़काव किया गया था।[५७] किनारों पर चन्दन का लेप किया गया था, जिससे लगता था मानों क्षीर-सागर का फेन उसके किनारे पर जम गया है।[५८] आगे जल के प्रवाह को रोक कर पुष्करणी बनायी गयी थी जिसमें कमल खिले थे[५९] उसके आगे गन्धोदक कूप बनाया गया था जिसमें

कस्तूरी और केसर से सुवासित शीतल जल भरा था।[६०] कुछ आगे जल को मृणाल की तरह पतली धारा के रूप में बहता दिखाया गया था।[६१]

आगे यान्त्रिक शिल्प के विविध उपादान - यन्त्र-वृक्ष, यन्त्र-पक्षी, यन्त्र-पशु, यन्त्र-पुत्तलिका आदि बने थे जिनसे तरह-तरह से पानी झरता हुआ दिखाया गया था।[६२] यन्त्र-शिल्प प्रकरण में इनका विशेष विवरण दिया गया है।

अन्त में दीर्घिका प्रमदवन में पहुँचती थी जहाँ विविध प्रकार के कोमल पत्तों और पुष्पों से पल्लव और प्रसून शय्या बनायी गयी थी।[६३]

सोमदेव के इस वर्णन की तुलना प्राचीन साहित्य और पुरातत्व की सामग्री से करने पर ज्ञात होता है कि दीर्घिका-निर्माण की परम्परा भारतवर्ष में प्राचीनकाल से लेकर मुगलकाल तक चली आयी। प्राचीन साहित्य में इसके अनेक उल्लेख मिलते हैं। कालिदास ने रघुवंश में (१६।१३) दीर्घिका का वर्णन किया है। बाणभट्ट ने 'हर्षचरित' में हर्ष के राजमहल और 'कादम्बरी' में कादम्बरी के भवन-वर्णन में दीर्घिका का विस्तृत वर्णन किया है। डॉक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल ने इस सामग्री का विस्तार से विवेचन किया है।[६४]

मुगलकालीन राजप्रासादों में जो दीर्घिका बनायी जाती थी, उसका उर्दू नाम 'नहरे बिहिश्त' था। हारूँ रशीद के महल में इस प्रकार की नहर का उल्लेख आता है। देहली के लाल किले के मुगल महलों की 'नहरे बिहिश्त' प्रसिद्ध है।

वस्तुतः प्राचीन राजकुलों के गृह-वास्तु की यह विशेषता मध्यकाल में भी जारी रही। विद्यापति ने 'कीर्तिलता' में प्रासाद का वर्णन करते हुए क्रीड़ाशैल, धारागृह, प्रमदवन, पुष्पवाटिका के साथ कृत्रिम नदी का भी उल्लेख किया है। यह भवन दीर्घिका का ही एक रूप था।[६५]

दीर्घिका का निर्माण केवल भारतवर्ष में ही नहीं पाया जाता, प्रत्युत प्राचीन राज-प्रासादों की वास्तुकला की यह ऐसी विशेषता थी जो अन्यत्र भी पायी जाती है। ईरान के खुसरू परवेज के महल में भी इस प्रकार की नहर थी। कोहे विहिस्तून से कसरे शीरीं नामक नहर ला कर उसमें पानी के लिए मिलायी गयी थी। ट्यूडर राजा हेनरी अष्टम के हेम्टन कोर्ट राजप्रासाद में इसे लांग वाटर कहा गया है। यह दीर्घिका के अति निकट है।

प्रमदवन

'यशस्तिलक' में प्रमदवन का दो प्रसङ्गों में वर्णन है—मारिदत्त युवतियों के साथ प्रमदवन में रमण करता था (३७-३८) तथा सम्राट यशोधर ग्रीष्म ऋतु में मध्याह्न समय मदन-मदविनोद नामक प्रमदवन में बिताता था (५२२-३८)।

प्रमदवन राजप्रासाद का महत्त्वपूर्ण अङ्ग होता था। यह प्रासाद से सटा हुआ बनता था। इसमें क्रीड़ा-विनोद के पर्याप्त साधन रहते थे। अवकाश के क्षणों में राज्य-परिवार के सदस्य इसमें मनोविनोद करते थे। सोमदेव ने इसका विस्तार के वर्णन किया है।

प्रमदवन के अनेक महत्त्वपूर्ण अङ्ग थे—उद्यान-तोरण, क्रीड़ाकुत्कील, खातवलय,

कुल्योपकण्ठ, ,

कपिलिक, वही (४९) तुहिनतरुविनिर्मितव ीका तरमुक्त वही (५०) मणिपिञ्जरोपविष्ट-शुकसारिका वही (५१) तुहिनतरुविनिर्मितवलीका तरमुक्तकुसुमस्वसौरभाधिवास्यमान-सुरतावसानिकोपकरणवस्तुनि, पृ० २९ उत्त० (५२) मरकतमणिविनिर्मितमूलासु, पृ० ३८ पूर्वार्द्ध (५३) कङ्केलकोपलसम्पादितनिस्तिभङ्गिकासु, वही (५४) काञ्चनोपचितसोपानपरम्परासु, वही (५५) मुक्ताफलपुलिनपेशलपर्यन्तासु, वही (५६) करिमकरमुखमुच्यमानवारिस्फरिता-भोगासु, वही ३९ (५७) कर्पूरपारीदन्तरिततरङ्गसङ्गमासु, वही (५८) दुग्धोदधिवेलास्विव चन्दनधवलासु, वही (५९) वनस्थलीष्विव सकमलासु, वही (६०) मृगमदामोदमेदुरमध्यासु सकेसरासु, वही (६१) विरहणीशरीरयष्टिस्विव मृणालवलयनीषु, वही (६२) विविधयन्त्र-श्लाघनीषु, वही (६३) विचित्र पल्लवप्रसूनफलस्फाराधिकासु, वही (६४) हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० २०६; कादम्बरी : एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० ३७१ (६५) कीर्तिलता, पृ० १३९ ।

रीतिकालीन खड़ीबोली-गद्य

• प्रेमप्रकाश गौतम

रीतिकाल में निर्मित खड़ीबोली-गद्य अधिकांशतः टीकानुवादों के ही रूप में प्राप्त है। मौलिक रचनाओं की संख्या अधिक नहीं है। प्राचीनतर खड़ीबोली-गद्य के समान इस काल का भी खड़ीबोली-गद्य ब्रजभाषा से और पूर्वी हिन्दी, पंजाबी, राजस्थानी, फ़ारसी आदि भाषाओं में से किसी एक या अनेक से प्रभावित है। परन्तु यह प्रभाव इस काल की रचनाओं पर अपेक्षाकृत कम है। इस काल के प्रमुख अनूदित ग्रन्थ हैं—'भाषा-उपनिषद्' (सं० १७०६), 'भाषायोगवासिष्ठ' (सं० १७९८), 'भाषा-पद्मपुराण' (सं० १८२३), 'आदि पुराण वचनिका' (सं० १८६१), 'मल्लीनाथ चरित्र-वचनिका' (सं० १८२८), 'सुदृष्टि तरंगिणी वचनिका (सं० १८३२) और 'हितोपदेश वचनिका' (सं० १८२५ के लगभग)। इनके अतिरिक्त और भी वचनिका-ग्रन्थ उपलब्ध हैं। धार्मिक, दार्शनिक, साहित्यिक और वैद्यक, ज्योतिष आदि विषयों के ग्रन्थों पर निर्मित टीकाएँ भी प्राप्त हैं।

'भाषा उपनिषद्' तैत्तिरीयोपनिषद् आदि बाईस उपनिषदों के फ़ारसी-अनुवाद का हिन्दी रूपान्तर है। कलकत्ता की एशियाटिक सोसाइटी के संग्रह में सुरक्षित इस उपनिषद्-अनुवाद की (एक सौ-सात बृहत् पत्रों की) प्रति में भाषा ब्रजभाषा-मिश्रित और प्रायः अपरिमार्जित है। संस्कृत तत्सम-शब्दों का बाहुल्य है। वाक्य-रचना पूर्णान्वय-पद्धति पर प्रायः सीधी और सुष्ठु है, परन्तु कहीं-कहीं उस पर फ़ारसी-अनुवाद का प्रभाव है। लम्बे वाक्यों में प्रायः गठन की कमी, शिथिलता और यत्र-तत्र अस्पष्टता है। परन्तु व्यर्थ विस्तार कहीं नहीं है। कहीं-कहीं तो क्रिया भी अनुपस्थित है। टीका जैसी शब्दावली भी जहाँ-तहाँ है, परन्तु अधिकतर पूर्ण वाक्यों में स्पष्ट अनुवाद प्रस्तुत किया गया है। शब्द-रूपों में अस्थिरता और वैविध्य है।

इस ग्रन्थ की अन्य उल्लेखनीय भाषा-प्रवृत्तियाँ हैं :—संज्ञा के विकारी बहुवचन में 'ओं', 'ओ' विभक्ति; कर्तृ संज्ञा के 'हारा', 'हारे' परसर्ग; ब्रजभाषा के कारक चिह्नों और अव्ययों की अधिकता; खड़ीबोली शैली के सर्वनाम रूपों के साथ ब्रजभाषा-सर्वनाम; वर्त्तमानकाल, पुल्लिंग, एकवचन में 'त' प्रत्ययान्त कृदन्त पदों के साथ 'ता' प्रत्यय वाले कृदन्त, यथा—करत है, कर्ता है रोता राखता; भूत पूर्ण) कृदन्त यथा—देखा है किया

या भया था आरम्भिक पूर्णकाल के बरतत भया स्यावत भया करत भए जैसे रूप 'कर परसर्ग वाले पूर्वकालिक क्रियापदों के साथ करि के परसर्गान्त पूर्वकालिक संस्कृत से लिए हुए सर्व, अत्र, ततः जैसे शब्द; 'अरु' शब्द की अत्यधिक आवृत्ति; कहीं-कहीं 'भक्षग्राह्' 'करी', 'करि' (से), 'विषे' (में) 'कर्ने को', 'कीए सो' जैसे विचित्र मध्यकालीनविशिष्ट रूप; साङ्ग रूपकों या विशेषणों की योजना में अन्त में सम्बन्धवाचक सर्वनाम का प्रयोग, जैसे—एही शरीर है वाका; कहीं-कहीं उर्दू शैली का अक्षरविन्यास और शब्दक्रम, जैसे—'परजापत', 'अरु मन मेरा', 'इंद्री मेरी के स्थित रहे', 'वास्ते वाही के करत है'।[1]

रामप्रसाद निरंजनी के नाम से प्रसिद्ध 'भाषायोगवासिष्ठ' की भी भाषा 'बहुत साफ-सुथरी' या 'परिमार्जित' नहीं है। जैसा कि इस ग्रन्थ के नवलकिशोर प्रेस से प्रकाशित संस्करणों की भूमिका से, बम्बई से सं० १९२२ में प्रकाशित संस्करण से तथा इस ग्रन्थ की उपलब्ध हस्तलिखित पोथियों से प्रकट है, यह ग्रंथ मूलतः पंजाबी-ब्रजभाषा-मिश्रित खड़ीबोली मे था। बाद में इसकी भाषा को सुधार कर प्रकाशित किया गया था। रामप्रसाद जी ने कथा-रूप में इसका प्रवचन किया था। पटियाला-नरेश द्वारा नियुक्त दो गुप्त लेखकों द्वारा यह लिपिबद्ध किया गया था। इस ग्रन्थ की भाषा की मुख्य विशेषताएँ है—तत्सम-अर्ध-तत्सम शब्दों की बहुलता; 'भासता है', 'फुरता है' जैसे नामधातु क्रियापद; 'बोलते भये', 'होत भया' जैसे आरम्भिक पूर्णकाल (इन्सैप्टिव परफ़ैक्ट) के क्रिया-रूप; ब्रजभाषा रूपों का मिश्रण; यत्र-यत्र पंजाबी उच्चारण वाले शब्द; 'कैसा है अमुक', 'सो कैसा है', 'ऐसा जो', 'सो तिस रूप' इत्यादि टीकाशैली के वाक्य; 'आँ' प्रत्ययान्त पुल्लिंग बहुवचन संज्ञापद तथा 'इयाँ' प्रत्ययान्त स्त्री बहुवचन संज्ञाएँ; विशेषण तथा विशेषण-कृदन्त, यथा—'किरणाँ आवैहे', 'पदसनीयाँ मूँदियाँ जातियाँ है', 'माता उठियाँ', 'धारणोहारियाँ', 'करत भइयाँ है'; 'या' विभक्ति वाले एकवचन पुल्लिंग पूर्ण कृदन्त, यथा—'कह्या', 'भोग्या है', 'गिर्या', 'जाण्या है'; संस्कृत शैली के पंडिताऊ प्रयोग, यथा—'आश्चर्य कों प्राप्त भया', 'मन को शम नहीं', 'शोभायमान' आदि और पुरानी शैली के 'विषे' (में), 'कलना', 'फुर्ना फुर्ता' जैसे शब्द। ये प्रवृत्तियाँ शृंगार-काल की अन्य खड़ीबोली-गद्य रचनाओं में भी न्यूनाधिक प्राप्त होती हैं।[2]

बसवावासी दौलतराम जैन कृत 'भाषा पद्मपुराण' अथवा 'पद्मपुराण वचनिका' राजस्थानी-ब्रजभाषा-प्रभावित खड़ीबोली गद्य में प्राकृत की जैन राम-कथा का अनुवाद है। इस वचनिका में यत्र-यत्र टीका शैली भी है—'अर्थात्' तथा 'अर्थ' शब्द के साथ विस्तृत भावार्थ भी प्रस्तुत किये गये हैं। विशेषणों की व्याख्या के स्थलों पर वाक्य प्रायः लम्बे है। शब्द अधिकतर तत्सम-अर्ध तत्सम हैं। इस वचनिका की अन्य महत्त्वपूर्ण भाषा-प्रवृत्तियाँ है—वर्तमान सामान्य काल में 'जीवै है', 'रहै है', 'होय है' जैसे तिङन्त; 'करत भये,' 'शोभता भया' जैसे पंडिताऊ प्रयोग; करि (से), विषे (में) बहुरि (फिर) आदि अव्यय और संज्ञा के पुल्लिंग विकारी बहुवचन 'ओं' विभक्ति वाले रूप। दौलतराम जी की दूसरी प्रख्यात वचनिका 'आदिपुराण वचनिका है' जो भगवान ऋषभदेव तथा राजा श्रेयांस के जन्मों की कथा से सम्बद्ध जैन प्राकृत ग्रंथ 'आदि पुराण' का व्याख्यामय अनुवाद है। दौलतराम जी की अन्य गद्य-रचनाएँ हैं 'पुण्याश्रव कथा कोष वचनिका' '[illegible] वचनिका', 'परमात्म प्रकाश

वचनिका, श्रीपाल चरित्र वचनिका तथा हरिवंश पुराण वचनिका। इनमें भाषा शैली की स्थिति लगभग वही है जो 'पदमपुराण वचनिका' में है।

'मल्लीनाथचरित्र वचनिका' के रचयिता इन्दौर-वासी दौलतराम जैन थे। भगवान् मल्लीनाथ के जन्म, वैराग्य, ज्ञान तथा निर्वाण का विवरण प्रस्तुत करने वाली इस वचनिका जिसकी उपलब्ध प्रति तीस बृहत् पत्रों की है, की भाषा ब्रजभाषा-मिश्रित है और [illegible] विस्तृत। 'सुदृष्टि तरंगिणी' के रचयिता टेकचंद जैन हैं। ५०२ पत्रों की इस बृहद् [illegible] वचनिका में बयालीस पर्वों में ज्ञेय, हेय, उपादेय का कथन है। प्रतिपाद्यमान विषय के [illegible] उत्थानिका-वाक्य अन्य वचनिकाओं की भाँति यहाँ भी विद्यमान् हैं। टेकचंद जी ने '[illegible]' और 'श्रुत सागरी तत्त्वार्थ सूत्र' पर भी वचनिका-निर्माण किया था। भाषा में ब्रजभाषा तथा राजस्थानी का मिश्रण है। 'हितोपदेश वचनिका' किसी अभयचंद की रचना [illegible]। इसकी व्याख्याविधि और भाषा-शैली की कुछ प्रवृत्तियाँ हैं- कथंभूती टीका-[illegible], [illegible] साथ भावार्थ, दृष्टांत-रूप में कहानियाँ, ब्रजभाषा-राजस्थानी-मिश्रित खड़ीबोली, तत्सम, [illegible] अर्ध-तत्सम शब्दों का बाहुल्य, नामधातु, क्रिया-पद, आरम्भिक पूर्णकाल के 'करती भया' [illegible] प्रयोग, वर्तमान सामान्य काल में 'रहे है', 'बुझै है' जैसे क्रियापद और मध्यकालीन शैली के अनेक शब्द-रूप और प्रयोग।

ब्रजभाषा-पूर्वी हिन्दी-मिश्रित खड़ीबोली गद्य में लिखित कुछ प्राचीन टीका-[illegible] प्राप्त हैं। इस प्रकार के दो संस्कृत से अनूदित योग-विषयक टिप्पण हैं—'गोरक्षशतक टिप्पण' तथा 'योगाभ्यासमुद्रा टिप्पण'। इन टिप्पणों की उपलब्ध प्रतियों और उनकी भाषा को [illegible] हुए ये टिप्पण रीतिकाल के प्रतीत होते हैं। 'गोरक्षशतक टिप्पण' की भाषा पूर्वी-हिन्दी ब्रजभाषा-मिश्रित खड़ीबोली है। शैली प्रायः 'कथंभूती' तथा खण्डान्वयी है, परन्तु [illegible] है। दूसरे टिप्पण की भाषा संस्कृतपरक ब्रजभाषा-प्रभावित खड़ीबोली है। [illegible] है। इस काल के उल्लेखनीय टीकानुवाद हैं—'गोरखनाथ के सताईस पदों का तिलक', 'पारसभाग', 'भगवतगीतासुपनिषद्', 'अजीर्ण-मञ्जरी टीका', 'बिहारी सतसई टीका', 'कबीर के एक सौ इक्कीस पदों की टीका', 'दृष्टान्तसागर' टीका', 'मानस टीका', 'सूर्य-सिद्धान्त', तथा 'गोराबादल की वारता।'

'गोरखनाथ के सत्ताईस पदों का तिलक' डॉ० बड़थ्वाल द्वारा संपादित 'गोरखबानी' परिशिष्ट ३ में प्रकाशित किया गया है। 'पारस भाग' अथवा '[illegible]' फारसी के 'कीमियागसादत' का सेवापंथी कृपाराम द्वारा किया गया अनुवाद है। इस रचना की भाषा मिश्रित, अपरिमार्जित तथा अशक्त है। 'भगवद्गीतासुपनिषद्' गीता का किसी मयाराम द्वारा किया गया अनुवाद है। भाषा इस रचना की अशुद्ध, अशक्त और ब्रजभाषा से प्रभावित है। 'अजीर्ण मञ्जरी टीका' किसी काशीनाथ की है। इस टीका की लंदन के इंडिया ऑफिस में सुरक्षित सं० १८०२ की प्रति में राजस्थानी-ब्रजभाषा-मिश्रित अपरिमार्जित खड़ीबोली प्रयुक्त है। 'बिहारी सतसई' की सं० १८०९ की ईसवी खाँ कृत टीका प्राप्त है। इस टीका की भाषा ब्रजभाषा-मिश्रित है। टीका-शैली सुन्दर और स्वच्छ है। लल्लूलाल जी ने भी 'लाल चन्द्रिका' शीर्षक टीका 'बिहारी-सतसई' पर लिखी थी। कबीर के १२१ पदों

की टीका (लिपि सं० १८५८) में अस्पष्ट खडान्वयी व्याख्या है, परन्तु गूढ़ स्थलों को समझाने के कारण यह पर्याप्त महत्त्वपूर्ण है। भाषा मिश्रित है। 'दृष्टांत सागर टीका' रामसनेही पंथ के संस्थापक श्री रामचरन दास के ग्रंथ 'दृष्टांत सागर' की टीका है जो उनके अन्तेवासी रामजन द्वारा सं० १८८० के लगभग लिखी गई थी। इस टीका की भाषा राजस्थानी-ब्रजभाषा-मिश्रित, विकृत तथा तद्भव-निष्ठ है। 'मानस' की महंत रामचरणदास और संतसिंह पंजाबी कृत टीकाओं में क्रमशः अवधी-मिश्रित और पंजाबी-प्रभावित खड़ीबोली प्रयुक्त है। 'सूर्य सिद्धांत' (सं० १८२१) पंडित कमोदानंद मिश्र द्वारा संस्कृत से अनूदित ज्योतिष्-ग्रंथ है। भाषा पर पूर्वी प्रभाव है। 'गोराबादल की वारता' (सं० १८८० के लगभग) जटमल कृत 'गोराबादल की बात' का अनुवाद है। भाषा अशक्त और अव्यवस्थित है।[३]

इन टीकात्मक तथा अनूदित रचनाओं के अतिरिक्त रीतिकाल में मौलिक स्वतंत्र गद्य-रचनाएँ भी पर्याप्त संख्या में निर्मित हुईं। इस काल की ब्रजभाषा, फ़ारसी, पंजाबी आदि से प्रभावित खड़ीबोली-गद्य की कुछ उल्लेखनीय मौलिक रचनाएँ हैं—'एकादशी महिमा', 'सीधा रास्ता' (इस्लामविपयक), 'कर्मनामा' (पोथी सलोत्री की), 'बाजनामा', 'सकुनावली', 'हकीकत', 'नरसिंहदास गौड़ की दवावैत', 'जिनसुखसूरि मजलस', 'लखपत राउ दवावैत', 'संभोवर का वर्णन', 'सुरासुर निर्णय', 'चकत्ता की पातस्याही की परम्परा', 'मोक्षमार्गप्रकाश', 'अनुभवप्रकाश', 'चिद्विलास' और 'परमात्मपुराण'।[४] इनमें प्रथम दो धार्मिक, तीसरी-चौथी चिकित्सा-विषयक, पंचम शकुन-विषयक, छठी प्रणामी सम्प्रदाय के 'मारफ़त सागर' ग्रंथ का परिचय, सातवीं, आठवीं, नवीं और दसवीं अनुप्रासयुक्त ललित गद्य की कथात्मक-वर्णनात्मक रचनाएँ, ग्यारहवीं निबंधात्मक, बारहवीं इतिहास-विषयक और अन्तिम चार जैनदर्शन विषयक रचनाएँ हैं। यहाँ यह उल्लेख करना असंगत न होगा कि जटमल कृत 'गोरा बादल की बात' पद्य-रचना है, गद्य की नहीं। इसका गद्यरूपान्तर किसी ने १८२४ ई० के लगभग किया था। उल्लिखित 'दवावैत' संज्ञक सानुप्रास गद्य की रचनाएँ प्रायः राजस्थानी मिश्रित खड़ीबोली में हैं। वर्णनात्मक, कथात्मक तथा निबन्धात्मक रचनाएं विरल हैं। कुछ नाटकों और पत्रों में भी ललित गद्य के दर्शन होते हैं। जैसा कि हम कह चुके हैं, ललित गद्य की अपेक्षा उपयोगी गद्य का—दार्शनिक, धार्मिक और चिकित्सा, ज्योतिष, इतिहास, भूगोल, सामुद्रिक, शकुन आदि विषयों के शुष्क गद्य का—प्राधान्य है। यह भी अनूदित रूप में अधिक है।

ईसा की १९वीं सदी के प्रारम्भ में फ़ोर्ट विलियम कॉलिज में भी खड़ीबोली-गद्य में महत्त्वपूर्ण पुस्तकों का निर्माण हुआ। इस कॉलिज से सम्बद्ध व्यक्तियों द्वारा रचित कुछ ग्रंथ हैं—'नासिकेतोपाख्यान', 'रामचरित्र', 'प्रेम सागर', 'लालचन्द्रिका-टीका', 'सिंहासन बत्तीसी', 'बैताल पच्चीसी', 'भक्तमाल टीका' और 'हातिमताई' का अनुवाद। सदलमिश्र कृत 'नासिकेतोपाख्यान', 'यजुर्वेद' तथा 'कठोपनिषद्' की नचिकेत-कथा पर आधृत है। इस पुस्तक में पूर्वी प्रयोगों, ब्रजभाषा-रूपों, पंडिताऊपन तथा असंतुलित-शिथिल वाक्यों के होने पर भी खड़ीबोली-गद्य का पर्याप्त स्वच्छ-सुष्ठु रूप है। 'रामचरित्र' भी सदल मिश्र की रचना है। यह ग्रंथ जिसकी प्रति लंदन के 'इंडिया आफिस लायब्रेरी' में सुरक्षित थी और अब बिहार

राष्ट्रभाषा परिषद् द्वारा प्रकाशित कर दिया गया है, 'अध्यात्म रामायण' का हिन्दी-रूपांतर है। इसकी भाषा लगभग 'नासिकेतोपाख्यान' के समान है। शैली में त्वरा, सरलता और स्पष्टता है। श्री लल्लूलाल कृत 'प्रेमसागर' जो 'भागवत' दशम स्कन्ध के चतुर्भुज मिश्र निर्मित ब्रजभाषा-अनुवाद का खड़ीबोली रूपांतर है, सानुप्रास काव्याभास गद्य की रचना है। इसकी भाषा, ब्रजभाषा से प्रभावित है। 'लालचंद्रिका-टीका' 'बिहारी-सतसई' की लल्लूलाल-कृत टीका है। 'सिंहासन बत्तीसी' जिसकी रचना लल्लूलाल जी ने सं० १८५८ में काजिम अली की सहायता से की थी, सुन्दरदास के ब्रजभाषा-अनुवाद का हिन्दुस्तानी-रूपान्तर है। 'बैताल पच्चीसी' शिवदास रचित संस्कृत रचना के सुरति मिश्र कृत ब्रजभाषानुवाद का लल्लूलाल तथा मजहर अली द्वारा किया गया खड़ीबोली-रूपांतर है। 'भक्तमाल टीका' (श्री तारिणी-चरण मित्र द्वारा सं० १८८४ में 'हिन्दी एण्ड हिन्दुस्तानी सेलेक्शन्स' में अन्य रचनाओं के साथ प्रकाशित) 'भक्तमाल' की विस्तृत व्याख्या है। भाषा इसकी ब्रजभाषा-मिश्रित है। 'हातिमताई' का अनुवाद सं० १८६५ में पं० योगध्यान मिश्र ने किया था। इस ग्रन्थ की भाषा पर्याप्त स्वच्छ, सुष्ठु और संस्कृतपरक है।

खड़ीबोली के गद्य-रूपों के उद्भव की दृष्टि से १६वीं शती पूर्वार्द्ध की तीन-तीन रचनाएँ महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें एक है फोर्ट विलियम कॉलिज के डब्ल्यू चैम्बर्लिन का सती-प्रथा पर लिखित लेख, दूसरी है 'स्त्री-शिक्षा-विधायक' शीर्षक निबन्धात्मक रचना और तीसरी है 'श्रीकृष्ण-चरितोपाख्यान' नामक सन् १८३० ई० के लगभग लिखित नाटक जिसमें पद्य, ब्रजभाषा और पूर्वी का तथा गद्य, खड़ीबोली का है। यह कहना अप्रासङ्गिक न होगा कि मुंशी सदासुख राय निसार, जिनका नाम बहुत से विद्वानों ने भ्रमवश सदासुखलाल नियाज बताया है और जिनके 'सुखसागर' की चर्चा प्राय. सभी इतिहास-पुस्तकों में मिलती है, 'सुखसागर' नामक किसी भी ग्रंथ के रचयिता नहीं है। 'सुखसागर' उनका उपनाम था। 'विष्णु-पुराण' या 'भागवत' का मुंशी जी ने पद्यानुवाद किया था। उनकी दो अन्य गद्य-रचनाएँ अवश्य प्राप्त हैं—'सुरासुरनिर्णय' और 'वार्तिक'। लाला भगवानदीन और पं० रामदास गौड़ ने इन रचनाओं को 'हिन्दी भाषा-सार' (गद्य भाग) में प्रकाशित किया था। इस ग्रन्थ की भूमिका में वे लिखते हैं—"हिन्दी में 'विष्णुपुराण' आदि कई पद्य-ग्रन्थ लिखे...उर्दू-फ़ारसी में 'निसार' हिन्दी में 'सुखसागर' उपनाम था।"

इस काल की अन्य उल्लेखनीय रचनाएँ है—शुद्ध हिन्दवी की छटा दिखलाने के लिए इंशाअल्ला कृत दास्तान शैली की चपल तुकमय गद्य की 'रानी केतकी की कहानी' (१८०५ ई० के लगभग), रीवा-नरेश विश्वनाथ सिंह कृत 'आनन्द रघुनन्दन नाटक' जिसमें ब्रजभाषा गद्यपद्य के साथ खड़ीबोली गद्य भी प्रयुक्त है, लल्लूलाल जी के अनुज दयाशंकर द्वारा अनूदित संस्कृत-निष्ठ, ब्रजभाषा-प्रभावित खड़ीबोली में लिखित 'दायभाग' (१८३२ ई०) दयाशंकर जी के पुत्र हरीराम का रामविवाह-विषयक 'जानकीरामचरित' नाटक और 'विद्याभ्यास का फल' (१८३६ ई०), 'धरमसिंह का वृत्तान्त', 'भोज प्रबन्ध सार', 'सूरजपुर की कहानी' तथा 'बुद्धिफलोदय' (१८५५ ई० के लगभग) शीर्षक कथात्मक रचनाएँ। इस समय के बाइबिल अनुवादों और ईसाई-लेखकों की भाषा अपरिमार्जित और अपरिपक्व है। प्रचारात्मक

होने से ईसाइयों का गद्य साहित्यिक दृष्टि से महत्त्वहीन है ईसाइयों के लेखन से भाषा के प्रचार-प्रसार को अवश्य कुछ योग मिला। इस समय (सन् १८२५ के आसपास से पत्र-पत्रिकाएँ भी प्रकाशित हुई।[५] खड़ीबोली-गद्य के प्रसार मे इन पत्रों का योग पर्याप्त महत्त्वपूर्ण है।

इस समय की अधिकतर रचनाओं की भाषा संस्कृतपरक है। शब्द-रूपों की दृष्टि से रीतिकालीन खड़ीबोली-गद्य में प्राचीनता और नवीनता का संयोग दृष्टिगत होता है। पुराने ढंग के 'पदमिनियाँ', 'साथवालियाँ', 'गातियाँ', 'बिन-ब्याहियाँ' जैसे 'याँ' विभक्ति वाले स्त्री-बहुवचन रूप; 'राजों', 'देवतों', 'अनगिनत गौं', 'करनिहारा' जैसे संज्ञापद; 'विसे', 'वुह', 'विन्होंने', 'वीनों के', 'तिन्ह को', 'हमों को' जैसे सर्वनाम; 'पहचानू हूँ', 'आवे है', 'चीन्हते हैं', 'किई' (की), 'लिई' (ली), 'हुऐ', 'हुवा', 'भया', 'करत भये', 'दीजे' जेसे क्रियापद और इनके साथ व्रजभाषा तथा पूर्वी शैली के बहुत से शब्द-रूप इस काल के गद्य मे उपलब्ध होते हैं। परन्तु अधिकतर आधुनिक ढङ्ग के ही शब्द-रूप प्रयुक्त हुए हैं। आकारान्त पुल्लिङ्ग रूपों का बाहुल्य है। इनके एकवचन विकारी तथा बहुवचन अविकारी रूप एकारान्त और बहुवचन विकारी प्राय: 'ओं' विभक्त्यन्त है। संज्ञा कृदन्तों (क्रियार्थक संज्ञापदों) का प्रत्यय 'ना' है। कर्तृ संज्ञा में 'हार', 'हारा', 'हारे' की अपेक्षा 'वाला', 'वाले' अधिक प्रयुक्त ह। वर्तमान सामान्यकाल में प्राय: 'ता', 'ती', 'ते', 'तीं' प्रत्ययवाले रूप प्राप्त होते है। यत्र-तत्र 'करत', 'करतियाँ' (स्त्री० बहुव०) ऐसे रूप भी है। भूतकाल में अधिकतर भूतकालिक (पूर्ण) कृदन्त व्यवहृत हैं। कुछ शब्द आधुनिक अर्थ से भिन्न विचित्र अर्थ में प्रयुक्त हैं, यथा—रंडी (स्त्री), अतीत (योगी), निपट (अत्यधिक), करि-करिके (से), विषे (में)।

इस काल की उत्तरी भारत में निर्मित कुछ महत्त्वपूर्ण उर्दू-गद्य-रचनाएँ भी प्राप्त है। इनमें उल्लेखनीय हैं—फ़जली कृत 'करबल कथा' (दहमजलिस) और उसकी भूमिका 'कुल्लियाते जटल' (पद्य-गद्य), कुल्लियाते सौदा, (पद्य-गद्य), मीर की मसनवी 'सोलए इश्क' का सौदा कृत अनुवाद, 'रिसाला हज़ार मसाइल', जहुरुल हक़ रचित 'रिसालए नमाज़' तथा 'रिसाला फैजाम', तहसीन रचित 'किस्सए चहार दरवेश', शेख इलाहीबख्श कृत फ़ारसी 'नलदमन' का अनुवाद और फोर्ट विलियम कॉलिज के बहादुरअली, शेरअली, अम्मन आदि मुंशियो के 'नस्रेबेनजीर', 'बागे उर्दू', 'बाग़ोबहार', 'किस्सा लैला-मजनूँ' आदि ग्रंथ। इनमें से कुछ पुस्तकें अत्यन्त फ़ारसीनिष्ठ उर्दू में है। कुछ ग्रंथों में हिन्दी के निकट की सरल भाषा भी यत्र-तत्र प्रयुक्त है।

रीतिकाल में दक्खिनी में पूर्व परम्परा के अनुसार सूफ़ी तथा इस्लामी धर्म ग्रंथो का भाष्य-अनुवाद और धर्म-दर्शन-विषयक पुस्तकों का निर्माण अधिक हुआ। कुछ अनूदित कथा-पुस्तकें, कुछ इतिहास और चिकित्सा की पुस्तकें और पत्रों, हुक्मनामों तथा अर्जियो की एक-दो संग्रह-पुस्तकें भी प्राप्त हैं। डच बी० शुल्ज़ का बाइबिल अनुवाद और व्याकरण ग्रंथ भी उपलब्ध है। इस काल की प्रमुख धार्मिक दक्खिनी-रचनाएँ हैं—'आबिदशाह अलहसन उलहुसैनी कृत 'गुलजारुस्सालिकीन' तथा 'कंजुल मोमिनीन', मीराँ याकूब कृत 'शमायलुल अतकिया और दलायलुल अतकिया' नामक ग्रंथों का अनुवाद शाह बुरहानुद्दीन क़ादिरी

कृत 'रिसाले वजूदिया', मोहम्मद शरीफ रचित 'गजमखफ़ी', मोहम्मद वलीउल्ला कादिरी का किया हुआ 'मारिफ़तुस्सुलूक' का अनुवाद, सैयद शाह मोहम्मद क़ादिरी का 'रिसाले वजूदिया', सैयद शाहमीर का 'असरारुलतौहीद', अब्दुलहमीद का 'रिसाले तसव्वुफ़'। इनमें से अधिकतर पुस्तकें सूफ़ीमत-विषयक हैं। इनके अतिरिक्त अज्ञातनामा लेखकों की 'तूतीनामा', 'अनवारे सुहेली', 'क़िस्साह गुलो हुरमुज़' शीर्षक अनूदित कथात्मक पुस्तकें, 'हैदरनामा', 'तारीख जापान', 'अम्दतुल तारीख़', 'तारीख़ श्रीरंगपट्टम', 'गुलदस्तए हिन्द' शीर्षक इतिहास-विषयक ग्रंथ और 'मुआलजात ख्वाजा बन्दानवाज़'—तथा 'मजमूआ नुस्खेजात' शीर्षक चिकित्सा-विषयक रचनाएँ और विज्ञान-सम्बन्धी कुछ अनूदित पुस्तकें (सित्तए शम्सिया, रिसाले इल्मे केमिस्ट्री, रिसाला ज़र्रे सकीन) आदि भी मिलती हैं। इस समय की रचनाओं की भाषा भी प्रायः उर्दू-शैली की है। शब्दरूपों और वाक्यविन्यास की दृष्टि से इस काल के दक्खिनी-गद्य की भाषा आधुनिक खड़ीबोली के पर्याप्त निकट है।[६]

इस समय के उत्तर भारत के लेखकों ने प्रायः संस्कृतपरक भाषा का प्रयोग किया है। संस्कृतनिष्ठता के आग्रह के कारण इस समय की गद्यभाषा कहीं-कहीं कृत्रिम और निर्जीव हो गई है। जैसा कि हम देख चुके हैं, रीतिकाल का खड़ीबोली-गद्य प्रायः मिश्रित भाषा में है, समीपवर्तिनी भाषा और तत्कालीन प्रधान साहित्य-भाषा ब्रज के सम्पर्क से मुक्त शुद्ध खड़ीबोली-गद्य नहीं मिलता। साहित्य की मान्य-परिनिष्ठित भाषा न बन पाने के कारण खड़ीबोली १६वीं शती के मध्य तक ब्रज, पूर्वी, राजस्थानी, पंजाबी या फ़ारसी में से किसी एक या अनेक के सहारे ही चल सकी, स्वतन्त्र और आत्मनिर्भर न हो सकी। खड़ीबोली ही नहीं, राजस्थानी, ब्रज और अवधी का भी अन्य भाषाओं के प्रभाव से मुक्त शुद्ध गद्य कम ही मिलता है। प्राचीन और मध्यकाल में खड़ीबोली-गद्य का जो उचित विकास न हो सका, उसके अनेक कारण हैं। कृष्ण-भक्ति के व्यापक प्रचार के कारण और काव्य-क्षेत्र में प्रतिष्ठित होने के कारण गद्य क्षेत्र में भी व्रजभाषा का आधिपत्य रहा। मुसलमान शासकों, सैनिकों और साहित्यिकों के बीच खड़ीबोली के फ़ारसीमय रूप के स्वीकृत होने से अधिकतर हिन्दू-लेखक उसे मुसलमानी भाषा मान कर प्रायः उससे दूर-दूर रहे। उसका अस्तित्व भी तब तक प्रायः 'बोली' के रूप में था। शब्द-भंडार सीमित था। साहित्यिक अभिव्यक्ति की समुचित सामर्थ्य उसे प्राप्त न हो सकी थी।

सन्दर्भ-सङ्केत

(१) 'भाषा उपनिषद्' के उद्धरण—"अथ यह जो सर्वलोक अन्न ही है अरु अन्न ही अन्न को भक्षणकर्ता है जो कोउ या भेद का ज्ञाता हो वहि सर्वसंसार का भक्षणहू होत है अरु भक्षण का करणहारा हूता हो है जद्यपि संपूर्ण भक्षण अरु भक्षण कर्न हारा एक हती का है तौ हू ज्ञाता या भेद का सर्व का धनी होत है अरु अपना धनी अवर नहीं राखतेव ननु उलसव्य मुक्त की संपूर्ण संसार का इंद्रिय के देवता है।......"आगे उत्पत्ति जगतके कर्ता जगत का एक ही था अरु दूसरो भी अपने आप मों मगन होकर उचार सु आदि भो किया सो वही था अरु नाही

न लोक है अरु प्रणव ब्रह्म शरीर का है ताते शिर वाका स्वर्ग है अरु नाम स्थान मध्यलोक है, अरु चरण पृथ्वीलोक है अरु दिवाकर नेत्र है वाका जु संपूरन अङ्गों में स्रेष्ट है अरु सर्व पदारथ साथ प्रकाश नेत्रों के देषंत है अरु चक्षु इन्द्री मूलप्रकाशी का है जा काल मो साछीते साछ स्वपूछयत है जु वही कहै जु मैंने श्रवन किया है साछत्व वाका अंगीकार कर यतन हीं अरु जो कहेत मै देषा है।''—(भाषा-उपनिषद्, एशियाटिक सो० की प्रति, पत्र २-२७)

(२) इस ग्रंथ से कुछ उद्धरण प्रस्तुत किए जाते हैं—''कैसा है सचचित आनन्द रूप सो कैहते हैं। जिससे इह सर्व भासते हैं। अरु जिस विषे इह सर्व लीन होते हैं अरु जिस विषे इस सर्व स्थित है। तिस सत आत्मा को नमस्कार है। जो क्षीर समुद्र ते निकस्या है। चंद्रमा के मंडल विषे रहता है। अेसा जो स्वतः सिद्ध अमृत है जिसको पाइ करी कदाचित् मृत न होते। तिस चेतन अमृत की हम उपासना करते हैं।.........ताते मन विषे जो कछू है कलना है तिस का त्याग करि मोक्ष की इछा का भी त्याग करि बंधन वृत्ति को भी त्याग करि हे राम जी वैराग्य अरु विवेक अभ्यास करिकें मन को निर्मल किए जब मन निर्मल हुआ तब मन का मननभाव नष्ट हो जावेगा। जब यह फुर्ना फुर्ता है जो मैं मुक्त होऊँ तब मन जागि आता है अरु मन के जागे तें मनन भी हो जाता है। मनन हुआ तब अपणे साथ शरीर भी भासि आता है।''

(३) कुछ उद्धरण द्रष्टव्य हैं—''बड़े-बड़े वैद्य आगे हुए हैं। आयुर्वेद के सम्पूर्ण के जाणण वाले। कौण कौण से पंडित। आत्रेय, सुश्रुत, चरक, हारीत, वाग्भट, माधव इनहि आदि दे करि जे पंडित। तिनों के ताई मे नमस्कार करि ग्रन्थ का आरम्भ करूँ हुँ। इस लोक का सुष के वासते। यह अजीर्ण मंजरी ग्रंथ भाषा करूँ हुँ।'' (अजीर्ण मंजरी टीका—आरंभिकांश)।

''तव राजा रतनसेन पदमनी कु लाया और सब अवरत छोड़ी येक पदमनी से राजी हुवा रात-दिन पदमनी के पास रहे और पदमनी कु देषे बीगर पानी पीने का नेम लीया, आयसे रहते केतक साल हवे येक रोज राजा रतनसेन सीकार चडे राघव चेतन कु सात लीया''—(गोरा बादल की वारता)

(४) इन रचनाओं से कुछ स्थल अवतरित किये जाते हैं:—

''अम्मावाद पस जानोए मुसलमान बहेन अऊर बेटी सबकी अल्लाताला एक हैं ऊनके तई धड़ बदन हाँथ अऊपर पाँव, नाख, कान, पेट, पीठ कुछ नहीं है धड़ बदन मैटी से बनी है वे मैटी पानी आग हवा सबके तईं तो आपीं बनाईन हैं आसमान जमीन पहाड़ नदी दरिया सब ऊनहीं बनाइन हैं'' ।—(सीधा रास्ता)

''बड़े-बड़े छत्रपति गढ़पति देसौत डंडौत करते हैं। त्रिकारे मुकर्‍र भुंज मरते हैं। और भी कैसे हैं गुण के ग्राहक हैं गुण के जान हैं गुण कोड है गुण के जिहान हैं विजै जिनराज हैं षट् दर्शन के महाराज हैं सब दुनी बीच जस नवकारे की आवाज है। जिन सुख सूरि मजलस अहो आवो वे यार। बैठो दरबार। ये चंदनी राति। कहो मजलसि की बात। कहौ कौंन-कौंन दईवान देषे कौंन-कौंन महिरवान देषे।''—(जिनसुख सूरि मजलस)

(५) उन्नीसवीं शती पूर्वार्द्ध के कुछ पत्रों के नाम हैं:—'उदन्तमार्तण्ड', 'बंगदूत', बनारस , मालवा अखबार सुधाकर बुद्धि-प्रकाश।

६ इस काल के दक्खिनी-गद्य से कुछ अवतरण प्रस्तुत किए जाते हैं

सारा दिन रोजा रखना, सारी रात इबादत करना, अगर फाका पड़ आया तो खुश हाल होना और किसी के आगे ना बोलना।"— (गंजमखफ़ी)

"अव्वल सना सिफ़त करना अल्लाताला का कि वो कादिर है तमाम चीज ऊपर कुदरत रखता है और हर शै में हाजिर है और नाजिर है जैसा कि शकर मिठाई और फूल में वास उसी सब में सनअतगरी रखता है देख तूं आदम में क्या सनअत दरिया, उसका साना है खुदा कबरिया होर तमाम शै पर उसका जात बालातर है।"—(गुलजारुस्सालिकीन)

"फ़सल दोम ईमान मुजमिल और ईमान मुजमिल वह है जैसाकि···यानी ईमान लाया हूँ अल्लाताला के यानी अपने इस्मां से है और उसके तमाम इस्मां बरहक हैं। और कबूल किया है तमाम उसके हुक्मां कूं। और बोलता हूँ मैं अपने सिद्क दिल सूं।"—(कुंजुल मोमिनीन)

"एक आम का काबा है एक खास का, आम का काबा सो जाहिर है होर उसका दरवाजा खुला है जियारत करनेंका जागा है होर खास का सो बातन है उसका दरवाजा बंद रहता है तागीर से सलामत रहे यानी बेगाना कोई न आ सके और खुदा के नूर का जिआरतगाह है।"—(शमायलुलअतकिया)।

कविवर बिहारी दास की जीवनी पर पुनर्विचार

● हरिमोहन मालवीय

महाकवि विहारी दास की जीवनी पर पुनर्विचार करने की आवश्यकता मुझे तब प्रतीत हुई जब अनेक तथ्य इस प्रकार के मिले जिनके आधार पर पूर्वघोषित जीवनी विषयक स्रोत अप्रमाणिक एवं मनगढ़न्त प्रतीत हुए। यह सही है कि सं० १९८४ वि० में स्वर्गीय बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में पर्याप्त शोध करने के अनन्तर महाकवि बिहारी दास की जीवनी प्रकाशित की थी और आज जो कुछ भी बिहारी की जीवनी पढ़ी-पढ़ाई जाती है, वह रत्नाकर जी के अनुसन्धान पर प्रमुख रूप से आधारित है। किन्तु रत्नाकर जी का इस सम्बन्ध में यह कथन कि "इधर-उधर से कुछ बातें एकत्रित करके उन पर अनुमान को अवलंबित कर यह जीवनी सुशृंखल रूप में लिखने का यत्न किया गया है। इसमें अनेक त्रुटियों तथा अशुद्धियों की सम्भावना है"[1] उनके कार्य की प्रामाणिकता पर एक प्रश्न-चिह्न लगा देता है। इससे यह स्पष्ट है कि रत्नाकर जी द्वारा भी बिहारी की प्रामाणिक जीवनी प्रस्तुत न हो सकी थी। बाद के शोध-कर्त्ताओं और विद्वानों ने बिहारी की जीवनी के सम्बन्ध में प्रचारित या प्राप्त आधारभूत सामग्री और उसके स्रोतों को प्रामाणिकता के निकष पर नहीं कसा जिसके कारण इस महाकवि के जीवन-पक्ष पर सम्यक् प्रकाश नहीं पड़ सका। यदि किसी ने उन स्रोतों पर दृष्टि भी डाली, तो सामान्य परीक्षण करके कुछ तथ्यों को स्वीकार करके शेष को अस्वीकृत कर दिया। फलस्वरूप व्यर्थ की कपोल-कल्पित कथाएँ और घटनाएँ बिहारी के जीवन के साथ जुड़ गई हैं।

जीवनी विषयक दोहे की प्रामाणिकता

बिहारी की जीवनी के सन्दर्भ में निम्नलिखित दोहा प्रस्तुत किया जाता है :—

जनमु ग्वालियर जानिए, खंड बुन्देले बाल।
तरुनाई आई सुघर, मथुरा बसि ससुराल॥

कुछ विद्वानों ने इसे बिहारी द्वारा लिखित भी मान लिया था। रत्नाकर जी ने लिखा है कि "हमने अपनी युवावस्था में कुछ कवियों से ये तीन दोहे एक आख्यायिका के साथ सुने थे—यद्यपि कुछ लोगों का कहना है कि इनमें का पहला दोहा गंग कवि ने खानखाना को सुनाने के लिए बनाया था [2] दोहे निम्नलिखित हैं

गंग गौंछ मौछ जमुन अधरनु सरसुति रागु
प्रगट खानखानानु कै, कामद बदन प्रयागु ॥ (१)

जनमु ग्वालियर जानियै, खंड बुन्देले बाल।
तरुनाई आई सुघर, मथुरा बसि ससुराल ॥ (२)

श्री नरहरि नरनाह को, दीनी बाँह गहाइ।
सुगुन आगरें आगरे, रहत आइ सुखु पाइ ॥ (३)

रत्नाकर जी ने आख्यायिका के सम्बन्ध में लिखा है कि "आख्यायिका यह है कि बिहारी ने 'गंग गौंछ' वाला दोहा खानखाना को सुनाया, जिस पर प्रसन्न होकर खानखाना ने उनको अशर्फियों से चुनवा दिया। खानखाना के विशेष वृत्तान्त पूछने पर बिहारी ने अन्य दो दोहे कहे।"[3] आगे रत्नाकर जी ने लिखा है कि "बिहारी ने कहा कि 'प्रयाग स्नान से सब पातक छूट जाते हैं, अतः मैं इस प्रयाग में अपने ऋण-पातक से मुक्त होने के निमित्त आया हूँ, मेरे ऊपर जयसिंह का ७०० अशर्फियों का ऋण है।' यह सुनकर खानखाना ने उनको अशर्फियों से चुनवा दिया। बिहारी ने कहा कि ये कुल अशर्फियाँ जयसिंह के पास भेज दी जायें, जिससे कि व्याज सहित ऋण चुक जाय।"[4] स्मरणीय है कि रहीम की मृत्यु फागुन संवत् १६८३ में हो चुकी थी। वास्तव में तीनों दोहे के साथ कही हुई आख्यायिकाएँ कपोल-कल्पित ही है, क्योंकि तब तक न सतसई ही लिखी गई थी और न बिहारी का संपर्क ही महाराज जयसिंह से हुआ था। इसके अतिरिक्त खानखाना से भी मिलने की कोई संभावना नहीं प्रतीत होती।

'जनमु ग्वालियर जानियै' वाले दोहा के सम्बन्ध में पं० अम्बिकादत्त व्यास का कथन है कि "इस दोहे को पहले राजा शिवप्रसाद ने लिखा, फिर 'भारतेन्दु' पत्र में श्री राधाचरण गोस्वामी ने लिखा, तदनन्तर बाबू राधाकृष्ण दास, ग्रियसर्न साहब और पंडित प्रभुदयाल तथा मैंने (व्यास जी ने) लिखा।"[5]

श्री राधाचरण गोस्वामी ने 'कविवर बिहारी का इतिवृत्त' शीर्षक अपने लेख में लिखा है कि "बिहारी कवि ब्रजभाषा की ससुराल मथुरापुरी के वासी थे, इसीसे इनकी भाषा मधुर से मधुरतर है।"[6] गोस्वामी जी ने ससुराल पर १ का चिह्न लगाकर पादटिप्पणी में यह दोहा लिखा है :—

जनम ग्वालियर जानिये, खण्ड बुन्देले बाल
तरुनाई आई सुभग, मथुरा बसि ससुराल ॥

गोस्वामी जी के कथन पर श्री अम्बिकादत्त व्यास ने लिखा है कि "गोस्वामी जी का तात्पर्य गोचर अर्थ यह झलकता है कि ब्रजभाषा का जन्म ग्वालियर का है, ब्रजभाषा बुन्देलखण्ड में बालिका है और ब्रजभाषा की ससुराल मथुरा है, जहाँ इसका यौवन काल छिटका।"[7]

श्री राधाचरण गोस्वामी के कथन पर आधुनिक विद्वानों ने कोई ध्यान नहीं दिया और कालान्तर में यह दोहा बिहारी के जीवन-पक्ष से सम्बन्धित समझा जाने लगा। कुछ लोग

ने तो इसे बिहारी रचित भी मान लिया।[८] गोस्वामी जी के कथन का परीक्षण करने पर ज्ञात होता है कि भ्रमवश ही यह दोहा बिहारी के साथ जुड़ा है। वास्तव में इस दोहे से व्रजभाषा के उद्भव और विकास का द्योतन किसी कवि ने किया है।

ब्रजभाषा के जन्म के सम्बन्ध में एक दावा ग्वालियर के पक्ष में भी है जिसके अनुसार 'ग्वालियरी' ही ब्रजभाषा के नामकरण के पूर्व मध्यदेश की काव्य-भाषा थी। 'बिहारी सतसई' के छन्दों का कवित्त-सवैया में पल्लवन करने वाले (अथवा टीकाकार ?) कृष्णदत्त कवि ने व्रजभाषा के पहले 'ग्वारियरी' की सरसता का वर्णन किया है—

देश भेद ते होत सो, भाषा बहुत प्रकार।
बरणत है तिन सबन में, ग्वारियरी रससार॥ ७०८

ब्रजभाषा भाषत सकल, सुरबाणी सम तूल।
ताहि बखानत सकल कबि, जानि महारस मूल[९]॥ ७०६

स्व० राहुल सांकृत्यायन का कथन है कि "जिसे हम ब्रज-साहित्य कहते हैं, वह पहले ग्वालियरी साहित्य के नाम से प्रसिद्ध था। यह आज की ब्रज-कन्नौजी का मिश्रित साहित्य था। यदि हम उत्तर पंचाली (रुहेलखण्डी) को न भी लें तो जिस तरह ब्राह्मण-उपनिषद् काल में कुरु-पंचाल और वहाँ की भाषा तथा साहित्य प्रधानता रखता था, उसी प्रकार पालियों और प्राकृतों के काल में कान्यकुब्ज की भाषा और साहित्य शिष्ट और मुख्य माने जाते थे। इसी की उत्तराधिकारिणी ग्वारियरी है जो पीछे ब्रज के नाम से प्रसिद्ध हुई।"[१०]

ग्वालियर और ग्वालियरी के महत्त्व की ओर ध्यान सन् १६६६ ई० में मानसिंह तोमर लिखित 'मानकुतूहल' के फारसी अनुवाद में आकृष्ट किया गया था। औरङ्गजेब के काश्मीर के सूबेदार फकीरुल्ला सैफ खाँ के अनुसार सुदेश से मतलब है ग्वालियर से•••भारतवर्ष में इस बीच की भाषा सबसे अच्छी है।[११] केशवदास जी ने भी मध्यदेश गोपाचल की भाषा को सुभाषा कहा है (दे० कविप्रिया ७।३)। स्वयं केशवदास जी के पूर्वज भी पहले गोपाचल (ग्वालियर) के राज्याश्रय में थे, बाद में बुन्देलखण्ड में आए और नई मान्यता के अनुसार इनके पुत्र बिहारी को ब्रज और अन्त में आमेर का राज्याश्रय लेना पड़ा था।

ग्वालियर के सम्बन्ध में अनेक तथ्यों का समावेश श्री हरिहरनिवास द्विवेदी ने अपने ग्रन्थ 'मध्यदेशीय भाषा ग्वालियरी' में किया है। बुन्देलखण्ड की काव्य-भाषा के सम्बन्ध मे उनका मत है कि "बुन्देलों ने बुन्देलखण्ड नाम दिया, परन्तु उन्हें बुन्देली भाषा नाम देने की आवश्यकता न थी। उनके प्रदेश की भाषा उस समय समस्त हिन्दी भाषी जनता की काव्य-भाषा थी।"[१२] श्री द्विवेदी जी के अनुसार काव्य-भाषा का रूप ग्वालियर, अजमेर, जयपुर, महोबा, कालिञ्जर, गढ़कुण्डार तथा ओड़छा में सवाँरा गया है। वह मध्यदेश की व्यापक काव्य-भाषा है। वह पहले ग्वालियरी बुन्देलखण्डी है, तब ब्रज है। एक अन्य स्थल पर द्विवेदी जी का कथन है कि "अनेक शताब्दियों तक हिन्दी का नाम ही 'ग्वालियरी' भाषा रहा और उसे वह समय रूप मिला जो समस्त भारत म फैल सका और जिसमें सूरदास के सूरसागर,

तुलसीदास के राष्ट्रप्रेरक राम-साहित्य तथा केशवदास के पाण्डित्य पूर्ण ग्रंथों की रचना सम्भव हो सकी और मिल सके बिहारी जैसे रससिद्ध कवि।[3]

डॉ० शिवप्रसाद सिंह ने 'सूर पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य' नामक अपने ग्रंथ में जिन कवियों का उल्लेख किया है, उसमें अधिकांश ग्वालियर से सम्बन्धित हैं। डॉ० सिंह ने लिखा है "कि ब्रजभाषा में सगुण कृष्ण-भक्ति का आरम्भ वल्लभाचार्य के वृन्दावन पधारने के ८०, ९० साल पहले ही कवि विष्णुदास द्वारा किया जा चुका था। यह एक नया ऐतिहासिक सत्य है"[१५] डॉ० सिंह ने ग्वालियर नरेश डूंगरेन्द्र सिंह (राज्यारोहण १४२४ ई०) के राज्य-काल में विष्णुदास की उपस्थिति माना है और लिखा है कि "विष्णुदास की भाषा १५वीं शती की ब्रजभाषा का आदर्श रूप है। इस भाषा में ब्रज के सुनिश्चित और पूर्ण विकसित रूप का आभास मिलता है जो १६वीं शती तक एक परिनिष्ठित भाषा के रूप में दिखाई पड़ा।"[१५]

विष्णुदास की ही भाँति मानिक कवि (सं० १५४६), मेघनाथ (सं० १५५७), चतुरमल (सं० १५७१ वि०), छीहल (सं० १५७५ वि०) आदि कवि सूर के पूर्व ब्रजभाषा के उत्कृष्ट कवि थे जिनका निवास ग्वालियर में था। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा आदि विद्वानों ने ब्रजभाषा के कृष्णभक्ति-काव्य का प्रारम्भ वल्लभाचार्य जी के (सन् १५१६ ई०, सं० १५७६) ब्रज आगमन से माना है[१६] जब कि यह काव्य-परम्परा पहले से ही ग्वालियर में मिलती है।

ब्रजभाषा के विकास-क्रम को बताने वाले जिस दोहे की ओर राधाचरण गोस्वामी ने ध्यान आकृष्ट किया था, उसका अर्थ उपर्युक्त संदर्भ में स्पष्ट है, किन्तु तथ्यों का सम्यक् ज्ञान न होने के कारण वह दोहा बिहारी के जीवन से जोड़ दिया गया।

यहाँ यह भी द्रष्टव्य है कि जिस बसुआ गोविन्दपुर को बिहारी का जन्मस्थान कहा जाता है, उस स्थान का कोई उल्लेख ग्वालियर राज्य के गजेटियर में नहीं है। गजेटियर के तृतीय भाग में केवल ईसागढ़ जिले में गोविन्दपुर तथा अमझेरा में गोविंदपुर का उल्लेख मिलता है (ग्वालियर स्टेट गजेटियर, भाग ३, पृष्ठ १५१ और २०७)। रत्नाकर जी ने बसुआ गोविंदपुर की स्थिति आमेर में माना है। केवल प्रारम्भ में मिश्रबंधुओं ने उसे ग्वालियर का गाँव लिखा था।

बिहारी के प्राचीनतम समीक्षक राधाचरण गोस्वामी का कथन ऊपर लिखे आधारों पर सही सिद्ध होता है। "बिहारी, ब्रजभाषा की ससुराल मथुरापुरी के वासी थे" कथन में 'मथुरापुरी' का ग़लत उल्लेख गोस्वामी जी ने किया है, क्योंकि उन्हें 'बिहारी सतसई' के दोहे का अशुद्ध पाठ स्मरण था। दोहे का पाठ उन्होंने लिखा है—

"जनम लियो मथुरा नगर, सुबस बसे ब्रज आय।"

जब कि इसका वास्तविक पाठ है :—

"प्रगट भये द्विजराज कुल, सुबस बसे ब्रज आय।"

ब्रज से बिहारी का सम्बन्ध ऊपर लिखे दोहे के द्वितीय चरण से भी सिद्ध है किन्तु उनका जन्म ग्वालियर में हुआ था इसका कोई प्रमाण नहीं है

बिहारी-विहार' की अप्रामाणिकता

बिहारी से सम्बन्धित 'बिहारी विहार' नाम की दो कृतियाँ उपलब्ध हैं। एक 'बिहारी विहार' में प० अम्बिकादत्त व्यास ने सतसई के छन्दों के भावों का पल्लवन कुण्डलिया छन्द में किया है। इससे पृथक् एक अन्य 'बिहारी विहार' भी प्राप्त होता है जिसमें महाकवि बिहारी की जीवनी आत्मकथन शैली में लिखी गई है। डॉ० जगदीश गुप्त ने दूसरे 'बिहारी विहार' को भी व्यास जी कृत मान लिया है।[१७]

बिहारी के जीवन से सम्बन्धित 'बिहारी विहार' को प्रचारित करने का श्रेय श्री बनारसीदास चतुर्वेदी को है। चतुर्वेदी जी ने अपने लेख 'कविवर बिहारी कौन थे' में लिखा है—"ये दोहे आज से ६७ वर्ष पहले (लगभग सन् १९१९ अथवा १९२०) मुझे इन्दौर मे श्री हरिप्रसाद जी चतुर्वेदी (भूतपूर्व तहसीलदार, इन्दौर राज्य) के यहाँ मिले थे और मैंने इनकी प्रति उसी समय पण्डित पद्मसिंह शर्मा, पण्डित जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी और बाबू श्यामसुन्दर दास इत्यादि विद्वानों को भेज दी थी।" चतुर्वेदी जी ने आगे लिखा है कि "उन्होंने (पण्डित हरिप्रसाद जी) मुझसे कहा था कि संवत् १९३३ में शाहपुरा के सरस्वती भण्डार मे 'बिहारी विहार' की एक प्रति बड़ी जीर्ण-शीर्ण अवस्था में मिली थी। शाहपुरा नरेश के कामदार उसे पढ़वाने के लिए इन्दौर छावनी में लाए। वहाँ मानिक सिंह वकील के मकान मे मैंने उसे पढ़ा और उसकी नकल ले ली।"[१८] श्री बनारसीदास जी चतुर्वेदी द्वारा प्रेषित 'बिहारी विहार' नागरी प्रचारिणी पत्रिका में प्रकाशित भी हुआ था। रत्नाकर जी की पुस्तक 'कविवर बिहारी' में (पृ० ३१७ से ३२१) इसका पाठ प्राप्त है। रत्नाकर जी के पाठ मे निम्नलिखित छन्द छूट गया है। यह छन्द श्री बनारसीदास चतुर्वेदी के लेख के साथ प्राप्त पाठ में संख्या ७ पर मिलता है।

दक्ष गोत्र की अल्ल है नाम ककोर जु लेव।
गुरू कहाउत माथुरन पुजियत पूज्य अभेव॥

'बिहारी-विहार' के अनुसार कविवर बिहारी ने लिखा है कि 'मेरे पितामह वसुदेव और पिता केसव देव छघरा माथुर चौबे मधुपुरी के निवासी थे। ककोर कुल में दक्ष गोत्र की अल्ल है और माथुरों के गुरु है। मेरा नाम बिहारी और पुत्र का नाम कृष्ण है। संवत् १६५४ की बुद्धवार कार्तिक सुदी अष्टमी को मेरा जन्म हुआ। ११ (रुद्र वर्ष) की आयु मे मैं अपने पिता के साथ वृन्दावन के यमुना तटवासी टट्टी सम्प्रदाय के हरिदास स्वामी के पास गया। वहीं नागरीदास जी मिले। माथुर लोग इसी गद्दी के शिष्य होते थे। नागरीदास जी की आज्ञा से मैंने उसी आश्रम में रहकर स्वभाषा, संस्कृत, गान-ताल, काव्य आदि विद्याओं का अध्ययन किया। एक बार वहीं शाहजहाँ का आगमन हुआ और राग-रागनी सुनकर बादशाह ने मुझको आगरा बुलाया। काव्य-प्रणयन करते हुए आगरा के दुर्ग में बहुत काल तक रहे। बादशाह रात को बहुत देर तक फ़ारसी की गज़ल, सेर, गीत और गान सुनते थे। बादशाह के पुत्रोत्सव में आए ५२ नृपतियों को बादशाह के कहने से मैंने कविता सुनायी जिससे सभी राजा प्रसन्न हुए बादशाह ने स्वयं सबसे सनद दिलवाई सभी ने यथाशक्ति

वर्षासन दी। मिर्जा राजा जयसिंह के यहाँ वर्षासन लेने आगरे गए। वहाँ दो मास तक किसी ने कोई बात न पूछी। नवोढ़ा रानी के फन्दे में काम पीड़ित राजा कली पर मँडराने वाले भौंरे की भाँति बेसुध होकर राज-काज भूल गये थे। रङ्गमहल में राजा की सेज पर पासवान से एक दोहा रखवाया, जिससे प्रसन्न होकर जयसिंह ने कविता करने की आज्ञा प्रदान की। राजा की भावना का विचार करके अन्य रसों पर भी कविताएँ रची गई, लेकिन शृङ्गार रस में अधिक काव्य-प्रणयन हुआ। फलस्वरूप एक-एक दोहे पर मोहर मिली। चार पक्षों में यह काव्य रचा गया। जयशाह की आज्ञा से वृन्दावन में पुनः स्वामी के स्थान पर वापस आए। लाल बिहारी से दास बिहारी हो गये। सोमवार शुक्ल पक्ष सप्तमी संवत १७२१ में मृत्यु हो गई।"[१९]

रत्नाकर जी ने 'बिहारी बिहार' के सम्बन्ध में निर्णय लेते हुए लिखा है कि "उनकी भाषा ऐसी अप्रौढ़ तथा छन्द ऐसे अनगढ़ है कि वह बिहारी रचित कदापि नहीं हो सकता। दूसरे यह कि उसमें बिहारी का जन्म विक्रमीय संवत् १६५२ अथवा १६५४ की कार्तिक शुक्ल अष्टमी बुधवार का बतलाया गया है और संसार-त्याग संवत् १७२१ के चैत्र मास की शुक्ल सप्तमी, सोमवार का, पर गणित से संवत् १६५२ की कार्तिक शुक्ल अष्टमी, गुरुवार को पड़ती है, संवत् १६५४ को उक्त अष्टमी शनिवार को और संवत् १७२१ की चैत्र शुक्ला सप्तमी बुधवार को, जिनसे वह निबन्ध किसी विशेष जानकार का भी लिखा नहीं प्रतीत होता। दूसरे, उसकी कई एक घटनाएँ यदि असम्भव नहीं तो दुर्घट अवश्य है, जैसे चार पक्षों में सतसई का रचा जाना तथा ११ वर्ष की अवस्था से बिहारी का वृन्दावन में रहना इत्यादि।"[२०]

यह सब लिखने के बाद भी रत्नाकर जी ने पुनः लिखा है कि "इस निबन्ध की अधिकांश बातें सच्ची जान पड़ती हैं, क्योंकि उनका प्रमाण अन्य ग्रन्थों अथवा किंवदन्तियों से भी मिलता है, जैसे बिहारी के कुल, जाति, पिता, पुत्र इत्यादि का कथन, उनका वृन्दावन जाना, श्री स्वामी हरिदास जी के सम्प्रदाय का अनुयायी होना, अन्तिम अवस्था में विरक्त होकर वृन्दावन में रहना, उनके जन्म तथा संसार-त्याग के वर्ष इत्यादि।"[२१]

रत्नाकर जी को कुल, जाति, पिता, पुत्र इत्यादि कथन सच्चे जान पड़े। वास्तव में कुछ कथन 'बिहारी बिहार' के कवि ने कृष्ण कवि के कथन से लिया है, यथा—

बसत मधुपुरी मधुपुरी, केसव देव सुदेव।
नाम छहधरा गाइयतु, चौबे माथुर देव॥

तथा

नाम बिहारी जानियतु, मम सुत कृष्णा जान। (कृष्ण कवि)

श्री बनारसीदास चतुर्वेदी ने लिखा है कि 'बिहारी-बिहारी' में भी बिहारी का ककोर ही लिखा हुआ है। बिहारी को ककोर चौबे सिद्ध करने के लिए उस छन्द का पाठ इस प्रकार रखा गया है

माथुर वंश ककोर कुल बसत मधुपुरी गाँव।
चौबे केशव को तनय, दास बिहारी नाव॥

कृष्ण कवि का कथन इस प्रकार है—

माथुर विप्र ककोर कुल, कह्यो कृष्ण कवि नाँव।
सेवक हौं सब कविन सौं, बसत मधुपुरी गाँव॥

पिता का नाम बिहारी के दोहे में ही स्पष्ट है :—

प्रगट भए द्विजराज कुल, सुजस बसे ब्रज आइ।
मेरे हरहु कलेश सब, केसौ केसौ राइ॥

'केशव' ही नहीं, सतसई की शब्दावली भी 'बिहारी-विहार' में स्वाभाविकता लाने के लिए रखी गई है, यथा :—

(१) अ—राधा भव बाधा हरौ राधा तिनके पास। (बिहारी-विहार)
आ—मेरी भव बाधा हरौ राधा नागरि सोई। (बिहारी सतसई)

(२) अ—हुकुम पाइ जय शाहि कौं नगर पयानो कीन्ह। (बिहारी-विहार)
आ—हुकुम पाइ जइसाहि कौ हरि राधिका प्रसाद। (बिहारी सतसई)

'बिहारी-विहार' में सुप्रसिद्ध दोहा 'नहिं पराग नहिं मधुर-मधु' से सम्बन्धित सुप्रसिद्ध कथानक को जोड़ दिया गया है। यथा :—

भूपति इक रानी बरी, शुठि सुंदर शुभ बाम।
रही नवोढ़ा आयु की, भूपति पीड़ित काम॥३७
फँसे तासु के फंद में, अलि गति ज्यों मँडरात।
राज काज सब बिसरिगो, बात न कछु कहि जात॥३८

रेखाङ्कित भाग में 'नहिं पराग नहिं मधुर मधु' वाले दोहे का स्पष्ट प्रभाव है।

'बिहारी-विहार' में कृष्ण को बिहारी का पुत्र कहा गया है। कृष्णदत्त कवि भी 'माथुर विप्र' और 'मधुपुरी' वासी थे। 'बिहारी-विहार' के रचयिता ने इसी आधार पर कृष्ण कवि से बिहारी का पिता-पुत्र सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया है। कृष्णदत्त कवि ने अपने आश्रयदाताओं का विशद वर्णन किया है। यदि यह कवि बिहारी का पुत्र होता तो सतसई का पल्लवन करते समय वह कवि से अपने सम्बन्ध की चर्चा अवश्य करता। किन्तु ऐसा कोई उल्लेख उसने नहीं किया है।

'बिहारी-विहार' के ऐतिहासिक तथ्यों की तोड़-मरोड़ के ऊपर श्री अमृतलाल शील ने 'सरस्वती' के फरवरी सन् १९२७ के अङ्क में प्रकाशित 'कविवर बिहारी कौन थे' शीर्षक लेख में विचार किया है। श्री शील ने यह लेख श्री बनारसीदास चतुर्वेदी के 'कविवर बिहारी कौन थे' (सरस्वती, अक्टूबर १९२६, पृ० ४१९-४२३) के उत्तर में लिखा था। श्री शील ने लिखा है कि "शाहजहाँ के बादशाह होने के बाद केवल एक बेटा दौलत अफजा उत्पन्न हुआ था। उस समय अभिषेक (के उत्सव) में आए हुए बहुत नृपतियों में कुछ आगरे में अवश्य

होगे। परन्तु इस समय शाहजहाँ को वृन्दावन अथवा किसी और स्थान को जाने का अवसर नहीं मिला।...शाहजहाँ को इन ८४ दिनों में बहु काल तक 'गान सुनत सो रात को दिवस भए बहुतेर' का अवसर नहीं मिला और न मिलना सम्भव था, क्योंकि इस समय शाहजहाँ ने......तमाम राज्य के सूबेदारों को बदल दिया था।... ...इन कामों में वह इतना फँसा था कि संगीत सुनकर रात बिताने का अवसर उस समय नहीं मिल सकता था।...... अभिषेक के बाद पहले पहल जब शाहजहाँ को आगरा छोड़ने का अवसर हुआ, तब वह २३ रबीउल औव्वल १०३८ हिजरी (१० नवम्बर, १६२८) अर्थात् बेटे के जन्म के ६ महीना १२ दिन उपरान्त फतेहपुर (वृन्दावन आगरे से पश्चिम ओर है और फतेहपुर पूर्व ओर) सीकरी को गया। वहाँ ३०वीं को (१७-११-१६२८) तुलादान दिया और ८वीं रबी उस्सानी १०३८ (२५-११-१६२८) को बारी नाम के गाँव में पहुँच कर पाँच दिन रहा। फिर गोपाचल (ग्वालियर) चला गया। अतएव शाहजहाँ का वृन्दावन जाना, बिहारी को साथ लिवा लाना, उसके बहुकाल बाद पुत्र उत्पन्न होने पर बावन नृपतियों से सनद और वर्षासन दिलाना, ये सब कल्पित और झूठी बातें है।"

बिहारी की मृत्यु-तिथि चैत शुक्ल सप्तमी, सोमवार, सं० १७२१ जो 'बिहारी विहार' में है, वह भी हिसाब से गलत है। एक विद्वान् का विचार है कि उस दिन बुधवार था। इस तिथि को 'बिहारी भगवान कृष्ण के हो गये थे' जिससे यह सिद्ध होता है कि वह तिथि बिहारी के मरण की है, न कि 'बिहारी-विहार' के रचना काल की। यह बात भी स्पष्ट कर देनी है कि यह बिहारी की रचना नही है। वास्तविकता तो यह है कि महाकवि बिहारी को चतुर्वेदी सिद्ध करने का अनेक बार प्रयास किया गया। चतुर्वेदी-समाज में भी दो मत प्रचलित रहे। एक मत के अनुसार बिहारी ककोर चौबे थे और उनके पुत्र कृष्ण थे और दूसरे मत के अनुसार बिहारी घरबारी थे और उनके पुत्र का नाम निरंजन था।

बिहारी को घरबारी चौबे सिद्ध करने का प्रयास श्री अमरकृष्ण ने किया था, क्योंकि उनके पिता बालकृष्ण का स्वागत 'वंश भास्कर' ग्रन्थ में बूँदी के चारण सूर्यमल्ल ने यह कहकर किया है:—

कवि विप्र बिहारी वंश-जात। कवि बालकृष्ण प्रभु अन्नपात॥

इसी भाँति सोरों के गङ्गा गुरुओं के यहाँ से प्राप्त वंशावली के आधार पर अमर कृष्ण ने एक छप्पय बनाया था। रत्नाकर जी ने उस छप्पय का रचयिता अमरकृष्ण के पिता बालकृष्ण को लिखा है। किन्तु श्री बनारसीदास चतुर्वेदी के लेख की पाद टिप्पणी मे लिखा है कि "आज से ३० वर्ष पहले जब मुंशी देवीप्रसाद जी मुंसिफ, जोधपुर ने श्री अमरकृष्ण जी से उनकी वंशावली माँगी थी, तब उन्होंने यह छप्पय उन्हें भेजा था। फर्क इतना ही है कि पहले भेजे छप्पय में निरंजन का नाम नहीं था और द्वितीय पंक्ति इस प्रकार थी—'ज्ञान के धाम कहूँ लवलेश न दुरमत।' अमरकृष्ण जी से पूछने पर उन्होंने कहा— "सोरों में गंगा गुरू से जाँचने पर हमें निरंजन नाम का पता लगा।" अमरकृष्ण का बनाया हुआ छप्पय इस प्रकार है—

प्रथम बिहारी दास प्रगट जिन सतसती कृत
तनय निरंजन तासु भयउ विज्ञान विशद मत ॥
तिनके गोकुल दास तनय तिन खेम करन गति ।
दया राम सुत जासु बहुरि तिनके मानिक मनि ॥
पुनि गणेश तिनके तनय बालकृष्ण जिनके भयउ ।
गुण निगुण चतुरता सप्त सों कविता तिय नायक कहेऊ ॥

रेखांकित स्थलों पर रत्नाकर जी का पाठ भिन्न है। 'विज्ञान विशद मत' के स्थान पर 'विख्यात सुहृद' तथा अंतिम पंक्ति का पाठ है 'गुन निपुन चतुर जन-भाल-मति कविता तिय नायक कह्यौ'। चतुर्वेदी जी के लेख में छप्पय के अतिरिक्त एक दोहा और भी जो इस प्रकार है—

तिनके भा अति मंद मति कवि जन किंकर जानि।
विद्या रहित विवेक बिन अमरकृष्ण पहिचान ॥

अमरकृष्ण के इस प्रकार छन्दबद्ध वंशावली प्रस्तुत करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रतिभाशाली कवि यथावसर इस प्रकार की कविता कर लेते थे। 'बिहारी विहार' भी इसी प्रकार की सुनी सुनाई बातों पर अधारित कृति है और यह बिहारी के ककोर माथुर चौबे सिद्ध करने के लिए ही लिखी गई है। बिहारी को चौबे घोषित करने का कितना उत्साह था, इसका पता इसी से लग जाता है, जब कि श्री बनारसीदास चतुर्वेदी लिखते हैं—"यह बात तो अब प्राय: निर्विवाद सिद्ध हो चुकी है कि बिहारी जाति के चौबे ब्राह्मण थे, पर अभी तक यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि उनकी उपाधि क्या थी ? वे ककोर चौबे थे या घरबारी।"[२२]

बिहारी की जाति के सम्बन्ध में दो और मत भी प्रचलित थे। श्री राधाचरण गोस्वामी के अनुसार बिहारी, राय और श्री राधाकृष्ण दास जी के अनुसार बिहारी सनाढ्य मिश्र थे। जहाँ तक राधाचरण गोस्वामी का अनुमान है, उसका कारण है पाठ सम्बन्धी साधारण भूल। सुप्रसिद्ध दोहे की एक अर्धाली के पाठ 'प्रगट भए द्विजराज कुल' के स्थान पर 'जनम लियो मथुरा नगर' लिखकर गोस्वामी जी ने बिहारी की जाति का निर्णय किया है। उनका कथन है कि "बिहारी ब्राह्मण-क्षत्रिय से उत्पन्न 'राय' थे, क्योंकि इसमें 'केशव राय' शब्द से यही बोध होता है कि उनके पिता राय थे। यदि 'केशव राय' शब्द से मथुरा के देवता केशवदेव जी का अभिप्राय होता तो देव शब्द होता, न कि राय। यदि कोई पाठान्तर (लाल चंद्रिका का भी यही मत है) 'जनम लियो द्विज कुल विसै' से बिहारी को ब्राह्मण माने तो सन्देहास्पद है। क्योंकि ब्राह्मण कुल के लिए केवल द्विज शब्द अनर्ह है द्विजराज, भूसुर, भूमिसुर, विप्र आदि लिखते। यदि कहो कि राय द्विज नहीं तो हम न माने, पर राय अपने को ब्राह्मण-क्षत्रिय से उत्पन्न मानते हैं, और इसीसे अनुलोमों में अपनी प्रथम गणना करते है और अपने को द्विज मानते हैं।"[२३] गोस्वामी जी ने 'द्विजराज' शब्द ब्राह्मण के लिए उपयुक्त माना है और वास्तविक पाठ भी है 'प्रगट भए द्विजराज कुल'। इस प्रकार गोस्वामी जी का अनुमान स्वत खण्डित हो जाता है।

केशव और बिहारी

केशव और बिहारी के पिता-पुत्र सम्बन्ध की चर्चा सर्वप्रथम बाबू राधाकृष्ण दास ने अपने लेख 'कविवर बिहारी लाल' में की थी। तदुपरान्त रत्नाकर जी को भी इस मत के समर्थन में अनेक सम्भावनाओं का आभास मिला। उन्होंने नागरी प्रचारिणी पत्रिका में 'महाकवि बिहारीदास जी की जीवनी' शीर्षक से एक निबंध प्रकाशित करवाया था। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि केशव और बिहारी के पिता-पुत्र सम्बन्ध का तत्कालीन साहित्यिकों द्वारा विरोध हुआ। फलस्वरूप 'महाकवि बिहारीदास की जीवनी' में केशव और बिहारी के काव्य में प्राप्त भाव-साम्य आदि का निदर्शन करते हुए रत्नाकर जी को लिखना पड़ा कि "ऊपर जो बातें लिखी गई हैं, उनसे सुप्रसिद्ध कवि केशवदास जी ही को बिहारी का पिता मानना सङ्गत प्रतीत होता है। पर इस समय विद्वान् मण्डली की धारणा इसके विरुद्ध है। अतः जब तक इस बात के और कुछ पुष्ट प्रमाण हाथ न आयें, तब तक हम भी बिहारी के पिता को अन्य ही केशव मान कर यह जीवनी लिखते हैं।"[२४]

केशव और बिहारी के पिता-पुत्र सम्बन्ध पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है और विद्वानों ने इस समस्या पर अनेक प्रकार से विचार विमर्श किया है। कुलपति मिश्र ने 'संग्राम सार' में लिखा है :—

> **कविवर मातामह सुमिरि, केसौ केसौराइ।**
> **कहौ कथा भारत्थ की, भाषा छंद बनाइ॥**

इस पर टीका करते हुए रत्नाकर जी ने लिखा है—"उससे उनके मातामह तथा बिहारी के पिता का कविवर होना सिद्ध होता है। पर जहाँ तक ज्ञात है, उस समय ओड़छे वाले केशवदास जी को छोड़कर और कोई ऐसा केशव नामक प्रसिद्ध कवि नहीं था जो कुलपति जी का मातामह होता और जिसकी वन्दना कुलपति ऐसा पण्डित और कवि ऐसी श्रद्धा से करता। अतः कुलपति जी के दोहे से भी केशव से प्रसिद्ध कवि केशवदास जी ही का लक्ष्य करना अधिक संगत प्रतीत होता है।"[२५]

कुलपति मिश्र ने 'युक्ति तरंगिणी' में केशवदास जी के बाद बिहारीदास जी का स्मरण इस प्रकार किया है :—

> **जो भाषा जान्यौ चहत रसमय सरस सुभाइ।**
> **कविता केसौराय की तो साँचौ चितुलाई॥**
> **भाँति-भाँति रचना सरस देव गिरा ज्यौं व्यास।**
> **तौ भाषा सब कविनु में विमल बिहारी दास॥**

केशव और कुलपति दोनों अपने नाम के आगे 'मिश्र' जोड़ते थे। बिहारी कुलपति मिश्र के मामा थे, यह बात भी विद्वानों ने कही है।[२६]

श्री मथुराप्रसाद 'मधुरेश' से प्राप्त केशवदास जी का जो वंश-वृक्ष मिला है, उसके अनुसार केशवदास जी के भाई बलभद्र मिश्र एवं कल्याणदास मिश्र थे तथा केशव के पुत्रों

के नाम हैं बिहारीदास, श्री प्रसाद, विश्वेश्वर दयाल, जहदेव और अनन्तराम। इस वंश-वृक्ष को डॉ० विजयपाल सिंह ने अपने शोध-प्रबन्ध में पूर्ण रूपेण प्रकाशित किया है।

बिहारी के काव्य में बुन्देलखण्डी शब्दावली का प्रचुर प्रयोग मिलता है। इस तथ्य की ओर भी विद्वानों ने ध्यान आकृष्ट किया है। लाला भगवानदीन ने लिखा है कि "हमारा यह अनुमान है कि बिहारी बहुत दिनों तक अपने लड़कपन में कहीं बुन्देलखण्ड में रहे हैं। कारण यह है कि इनकी कविता में ठेठ बुन्देलखण्डी शब्दों का ऐसा ठीक प्रयोग पाया जाता है, जैसा अन्य प्रान्त का निवासी कर ही नही सकता। उदाहरण लीजिये :—स्यों—सहित (बिहारी बोधिनी, दो० न० २५१, ५०८)। कई टीकाकारों ने इस शब्द का अर्थ न समझ कर इसका रूप 'सौं' कर डाला है और अर्थ करना उड़ा गए हैं।.........यह सर्वमान्य बात है कि केशवदास जी बुन्देलखण्डी थे। केशव कृत 'रामचन्द्रिका' में इस 'स्यों' शब्द का प्रयोग बहुतायत से पाया जाता है। अन्य प्रान्त निवासी कवियो की कविताओं में इस शब्द का प्रयोग देखा ही नहीं जाता।"[२७]

राधाकृष्णदास जी तथा आचार्य चन्द्रबली पाण्डेय ने भी सतसई में बुन्देली शब्दो के प्रयोग को देखकर बिहारी के बुन्देलखण्ड निवासी और केशव के पुत्र होने की सम्भावना पर विश्वास प्रकट किया है।

केशव के काव्य का प्रभाव

बिहारी ने केशव के काव्य का, विशेष रूप से 'कविप्रिया' का अध्ययन किया था और उनके कवि-मानस पर उसका कई रूपों में प्रभाव पड़ा था। ये प्रत्यक्ष प्रभाव, भाव और शब्दावली दोनों पर पड़े हैं। भावसाम्य तो आकस्मिक भी हो सकता है, किन्तु शब्दावली के प्रयोग—साम्य का कारण संस्कारगत् ही है। यदि दो चार स्थलों पर इस प्रकार का साम्य हो तो वह भी आकस्मिक कहा जा सकता था, किन्तु 'कविप्रिया' में अनेक ऐसे छन्द है जिनमें केशव और बिहारी ने समान शब्दावली का प्रयोग किया है। बिहारी के प्रथम दोहे में ही भाव एवं शब्द-प्रयोग का साम्य प्रत्यक्ष परिलक्षित होता है :—

बिहारी :—मेरी भौ बाधा हरौ, राधा नागरि सोइ।
जा तन की झाईं परैं, स्याम हरित दुति होइ॥१

केशव :—राधा केशव कुँवर की, बाधा हरहु प्रवीन।
नेकु सुनावहु करि कृपा, शोभत बीन प्रवीन॥१५।७

रत्नाकर जी ने भी बिहारी और केशव के कतिपय छन्दों के भाव-साम्य का मिलान किया है।[२८] शब्दावली साम्य के भी कुछ उदाहरण है जिनमें शब्द-योजना कुछ अंशों में समान मिलती है। इस सन्दर्भ में निम्नलिखित उदाहरण द्रष्टव्य है—

(१) **अभिराम सचिक्कन स्याम सुगंध के धामहु तें जे सुभाइक के (कविप्रिया, प्रकाश ५ छन्द १४- पंक्ति १)**

सहज सचिक्कन स्याम रुचि सुचि सुगध सुकुमार बिहारी सतसई)

(२) ऊख महूख पियूख मानि केशव साँचो इष्ट। (क० प्रि० ६।४८ १)

ऊख, महूख पियूख की तौ लगि भूँख न जाति। (बि० स०)

(३) गोरी गोरी भोरी भोरी, थोरी थोरी बैस फिरै। (क० प्रि०, ६।२८–३)

ढोरी लाई सुनन की, लखि गोरी मुसिकात।

थोरी थोरी सकुचि सों भोरी भोरी बात॥ (बि० स०)

(४) तेल, तूल, तामोर, तिय, ताप, तपन, रतिवंत। (क० प्रि०, ७।३५-१)

तपन तेज तापन तपन तूल तुलाई माह। (बि० स०)

(५) नहीं उरबसी उर बसी मदन मद न वश भक्त॥ (क० प्रि० १५।१०६-१)

तू मोहन के उर बसी ह्वै उर बसी समान। (बि० स०)

इसी भाँति अनेक शब्द 'कविप्रिया' और 'सतसई' में समान रूप से व्यवहृत मिलते है। इस प्रकार बिहारी पर केशव का अत्यधिक प्रभाव लक्षित किया जा सकता है और उनका पिता-पुत्र सम्बन्ध की पुष्टि की जा सकती है।

नरहरि का तात्पर्य

'बिहारी-सतसई' के एक दोहे में 'नरहरि' शब्द मिलता है जिसके सम्बन्ध में रत्नाकर जी ने भ्रम उत्पन्न कर दिया है। रत्नाकर जी ने लिखा है कि बिहारी श्री स्वामी हरिदास जी के सम्प्रदाय के अनुयायी और कदाचित् श्री स्वामी नरहरि दास जी के शिष्य थे। दोहा इस प्रकार है :—

जम करि मुँह तरहरि परयौ, इहिं धर हरि चितु लाउ।

विषय तृषा परिहरि अजौं, नरहरि के गुन गाउ॥

नरहरि दास का परिचयात्मक विवरण भी 'कविवर बिहारी' के पृष्ठ ३२५ की पाद-टिप्पणी में रत्नाकर जी ने दिया है। अपनी बचत के लिए रत्नाकर जी ने 'बिहारी-रत्नाकर' मे नृसिंह अर्थ भी स्वीकार किया है, किन्तु नरहरिदास को कवि का दीक्षा गुरु भी माना है। यहाँ यह स्पष्ट है कि यम रूपी हाथी की तुलना में नृसिंह की कल्पना ही सार्थक है और हाथी को पराजित करने की सामर्थ्य सिंह में ही मानी गयी है। केशव ने भी नृसिंह का उल्लेख अपने काव्य में किया है। यथा :—

दीन्हो ताहि नृसिंह जू, तन मन रन जय सिद्धि।

हित करि लच्छन-राम ज्यों, भई राज की वृद्धि। (रसिक प्रिया, १।९)

'ताहि' का अर्थ यहाँ इन्द्रजीत सिंह से है जो केशव के आश्रयदाता है। 'कवि प्रिया' में भी नृसिंह का वर्णन मिलता है। यथा :—

धरत धरनि, ईश शीश चरणोदकनि,

गावत चतुरमुख सब सुखभाषिये

कोमल कमल कर कमल
कलित, बलित, गुण क्यों न उर आनिये।
हिरण्यकशिपु दानकारी प्रह्लाद हित,
द्विजपद उरधारी वेदन बखानिये।
'केशोदास' दारिद दुरद के बिदारबे को,
एकै नरसिंह के अमर सिंह जानिये॥

यहाँ 'अमर सिंह' और 'नर सिंह' में दो अर्थ का श्लेष है। आचार्य चन्द्रबली पाण्डेय ने लिखा है कि वीरसिंह देव को मुगल इतिहास-लेखक सदा नरसिंह ही लिखते थे।[२९] वास्तव में नृसिंह ओड़छा राज्य के इष्ट थे। इस सम्बन्ध में 'बुन्देलखण्ड का संक्षिप्त इतिहास' में गोरे लाल तिवारी ने लिखा है—"मधुकर शाह नृसिंह के उपासक थे। एक दिन अकबर ने इन्हें भी आखेट में चलने के लिए कहा, पर महाराज मधुकर शाह ने निर्भीकतापूर्वक उत्तर दिया कि मैं अपने इष्ट को मारने नहीं जा सकता।"[३०]

बिहारी ने केशव की भाँति ही एक छन्द में नृसिंह का स्मरण किया है। यहाँ नरहरिदास से सम्बन्धित होने की बात रत्नाकर जी की कल्पना की उपज है। इसका कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता।

पातुर राय का उल्लेख

'बिहारी सतसई' में पातुर राय प्रवीण का नाम दो छन्दों में किसी न किसी रूप में आया है :—

पूस मास सुनि सखिनु पैं, साईं चलत सवारु।
गहि कर बीन प्रबीन तिय, राग्यौ रागु मलारु॥ (बिहारी रत्नाकर, १४६)
सब अंग करि राखी सुघर, नाइक नेह सिखाइ।
रस जुत लेति अनंत गति, पुतरी पातुर राइ॥ (बि० र०, २८४)

केशवदास जी ने इसी राय प्रवीण के लिये 'कवि प्रिया' की रचना की थी, जिसका उल्लेख 'कविप्रिया' में केशवदास ने इस प्रकार किया है :—

सबिता जू कविता दई, जाकहँ परम प्रकाश।
ताके कारज कविप्रिया, कीन्हीं केसवदास॥ १।६१

राय प्रवीण का उल्लेख 'कविप्रिया' में कई स्थलों पर मिलता है। इस सन्दर्भ में कतिपय स्थल द्रष्टव्य है :—

(१) नाचत गावत पढ़त सब, सबै बजावत बीन।
तिन में करत कवित्त यक, राय प्रवीण प्रवीण॥ १।५६

(२) राय प्रवीण प्रवीण अति, नवरंग राई सुवेश।
अति बिचित्र नैना निपुण, लोचन नलिन सुदेश॥ १।४६

(३) राय प्रवीरण प्रवीरण सों परवीरणन मन सुक्ख।
अपरवीरण 'केशव' कहा, परवीननि मन दुःख ॥१।५७

(४) देव को दिवान सों प्रर्वरण राय जू को बाग,
इन्द्र के समान तहाँ इन्द्रजीत जानिये ॥ ७।१५-४

(५) सुनि बाजत बीन प्रवीन नवीन सुराग हिये उपजावति सी। ११।४१-२

बिहारी के प्रथम दोहे में 'बीन प्रवीन' शब्द उसी भाँति आया है, जिस भांति केशव के 'सुनि बाजत बीन प्रवीन नवीन, सुराग हिये उपजावती सी' में आया है। छन्द १।५६ में राय प्रवीरण के नाचने-गाने के अतिरिक्त उसकी काव्य-प्रतिभा का उल्लेख केशव ने किया है। मानसिंह बिजैगढ़ ने 'सब अंग करि' वाले छन्द का अर्थ इस प्रकार किया है—

"श्री दरसन विषै श्री राधाजु के नैन कों। नृत्य करी राय पातुर समान कहे है। सब सर्बनारारंभ के। अंक आब विषै सुकर चतुर कत रापी है। नाय०। श्री कृष्ण सनेह०॥ नायक नृत्यकार। तिन सिखाइ कै। रस०। पैमरस संजुक्त। अनंत चाल लेत है। पुन०। नैन की पुतरी राज पातुर जैसी है।"

इसमें 'राय पातुर' व्यक्ति विशेष के लिए ही प्रतीत होता है। यह उल्लेख भी बिहारी और केशव के नैकट्य और प्रभाव को द्योतित करता है। 'कविप्रिया' की रचना संवत् १६५८ में राय प्रवीरण की काव्य-दीक्षा के लिए हुई थी। उस समय वह नायिका भेद की मुग्धा नायिका ही रही होगी। बिहारी को नृत्य आदि में उसका प्रगल्भ रूप देखने को अवश्य मिला था जिससे उपमान के रूप में वह 'बिहारी सतसई' में अनायास आ गई। यदि केशव बिहारी के पिता न होते तो इन्द्रजीत सिंह के दरबार की इस पातुर की नृत्य-निपुणता का ध्वनित करने वाला छन्द इतने सजीव ढङ्ग से न लिख पाते।

मैना जाति का उल्लेख

बिहारी ने मैना जाति का उल्लेख सतसई में किया है। दोहा है :—

चलत न पावत निगम मग, जग उपज्यौ अति त्रास।
कुच उतुंग गिरिवर गह्यो, मैना मैन मवास॥

रत्नाकर जी ने 'मैना' के सम्बन्ध में 'बिहारी रत्नाकर' में लिखा है कि राजस्थान के जंगलों में एक जाति के मनुष्य रहते हैं जो कि मैना अथवा मीना कहलाते हैं। उनका काम प्राय: डाका डालना और लूटना है। बुन्देलखण्ड के इतिहास में महाराज वीरसिंह देव द्वारा मैना और जाटों को हराने का विवरण मिलता है।[३१] बिहारी ने इस जाति का परिचय बुन्देलखण्ड में पाया था, राजस्थान में नहीं; क्योंकि उनके जीवनकाल तक के अनेक सूत्र यह सिद्ध करते है कि वे बुन्देलखण्ड में रह चुके थे।

'सुबस बसे ब्रज आय' पर विचार

बिहारी द्वारा ओड़छा का राज्याश्रय छोड़कर मथुरा और तत्पश्चात् आमेर राज्य के संरक्षण में जाने के कई कारण हैं। केशवदास जी ने स्वतः जीवन की संध्या में गङ्गातट-वास की आकांक्षा की थी।[३२]

संवत् १६६२ में केशवदास राम शाह के कहने से वीरसिंह देव से सन्धि कराने गए थे किंतु कुछ कारणों से वे सफल न हुए। सं० १६६३ में ओड़छा पर मुगलों का आक्रमण हुआ जिसमें केशव के आश्रयदाता इन्द्रजीत घायल और मूर्छित हुए। सं० १६८४ मे बुन्देलखण्ड में अकाल पड़ा और उसी समय महाराज वीरसिंह देव की मृत्यु हो गई। केशवदास जी की मृत्यु सं० १६७४ में हो चुकी थी। सं० १६६१ से सं० १६६८ तक जुझार सिंह, देवी सिंह, पृथ्वीराज आदि सिंहासन पर बैठे। इस उथल पुथल में बिहारी को मथुरा जाकर बसना पड़ा और वहाँ भी केशवदेव जी का ही स्मरण करना पड़ा था :—

प्रगट भए द्विजराज कुल, सुबस बसे ब्रज आइ।
मेरे हरौ कलेस सब, केसौ केसौ राइ॥

उपर्युक्त पद में दो केशव का उल्लेख मिलता है। इस पर सूरति मिश्र ने लिखा है :—

श्लेष अर्थ केशव पिता, अरू हरि केशवराय।
वे द्विज कुल ये चन्द्र कुल, प्रगटै अर्थ जताय॥

प्राचीनतम टीकाकार वृन्दराय (रत्नाकर जी के अनुसार कृष्ण लाल) ने लिखा है— "ए जो ब्रज ते आनि कै आबैर के विषै सुबसु काहे है सो कौन कि केसो जो मेरो पिता अरू केसोराय जो श्री कृष्ण जू मेरे सबही क्लेश को हरौ।" इस टीकाकार ने बिहारी का ब्रज से आगरे पहुँचने का उल्लेख किया है। शेष टीकाकार ब्रज में बसने का ही उल्लेख करते है। सभी टीकाकारों ने पहले 'केशव' को पिता और दूसरे 'केशव' को भगवान केशव का स्मरण करना माना है जो कि अशुद्ध है। वास्तव में प्रथम 'केशव' आराध्य हैं और 'केशवराय' पिता है जिनका स्मरण, धार्मिक मान्यता के अनुसार बाद में किया गया है। हिन्दुओं में देवताओ के बाद पितरों का स्मरण होता है।

'केशव केशवराय' को एक ही नाम मानने मत का प्रतिपादन 'श्री माया शंकर याज्ञिक ने संवत् १९८७ वि० की 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में किया था, जिस पर आचार्य विश्वनाथ प्रसाद जी मिश्र ने भी ('बिहारी', पृ० १०१, विचार किया है। डॉ० विजयपाल सिंह का कथन है कि याज्ञिक जी द्वारा उद्धृत छन्द महाकवि केशवदास द्वारा ही विरचित है। केशव आचार्य थे, अतः उनके छन्दों का प्रयोग 'रस सुधा सागर' में होना कोई आश्चर्य की बात नहीं।[३३]

आचार्य चन्द्रबली पाण्डेय ने उदाहरण देकर सिद्ध किया है कि 'केशवराय' का प्रयोग अनेक स्थलों पर इस दृष्टि से हुआ है कि उसका अर्थ कवि और कृष्ण दोनों का द्योतक है[३४]

वास्तव में केशव केशवराय एक व्यक्ति का सूचक नहीं है पहले कवि ने अपने आराध्य की वंदना की है और यह वंदना केशवदेव जी की ही सम्भावित है जिनके मन्दिर का निर्माण मथुरा में संवत् १६७६ में ओड़छा नरेश वीर सिंह देव ने करवाया था और जिसे संवत् १७२६ में औरङ्गजेब ने तुड़वा दिया था। बिहारी ने अवश्य ही केशवदेव जी के विशाल मन्दिर को देखा होगा।

उपर्युक्त उदाहरणों तथा प्रमाणों से भी यही सिद्ध होता है कि बिहारी के पिता सुप्रसिद्ध आचार्य केशवदास ही थे।

मिर्जा राजा जयसिंह और बिहारी

बिहारी दास ने मिर्जा राजा जयसिंह का सतसई में उल्लेख किया है और एक छन्द के अनुसार बिहारी ने जयसिंह (जयसाहि) की आज्ञा से ही सतसई का प्रणयन किया था। छन्द इस प्रकार है : –

हुकुम पाइ जयसाहि को, हरि राधिका प्रसाद।
करी बिहारी सतसई, भरी अनेक सवादि ॥ (बि० र० ७१३)

सतसई के लिखे जाने के सम्बन्ध में एक कथा प्रचलित है जिसके अनुसार एक समय महाराज जयसिंह (रत्नाकर जी के अनुसार संवत् १६९१-९२ में)[३५] किसी नवोढ़ा रानी के प्रेम में निमग्न होने के कारण राज्य-शासन से उदासीन होकर राजमहल में ही रहने लगे थे। राजा जयसिंह की चौहानी रानी अनन्त कुमारी अपने पति के इस व्यवहार से दुःखी थी। बिहारी जब वर्षासन लेने के निमित्त आगरे गए, तो उन्होंने चौहानी रानी के कहने पर जयसिंह को प्रबोध कराने के लिए वहाँ से एक दोहा महाराज जयसिंह के पास भेजा, जिसमें लिखा था :—

नहिं परागु नहिं मधुर मधु, नहिं बिकासु इहिं काल।
अली कली ही सौं बँध्यौ, आगे कौन हवाल ॥

इस अन्योक्ति गर्भित उपदेश से मिर्जा जयसिंह को प्रबोध हुआ और उनका प्रेमोन्माद उतर गया। चौहानी रानी ने प्रसन्न होकर 'काली पहाड़ी' ग्राम बिहारी को प्रदान किया।[३६] रत्नाकर जी ने इस घटना का काल संवत् १६९२ माना है।

इस छन्द के सम्बन्ध में हरिचरण दास ने 'हरि प्रकाश टीका' में लिखा है कि "पहले बिहारी ने यही दोहा बनायो, पीछे महाराज जयसिंह कह्यो सतसई बनावो।" अन्य प्राचीन टीकाकारों ने इस बात का कोई उल्लेख नहीं किया है। प्राचीन टीकाओं में इसका अभिधेयार्थ ही मिलता है। वृन्दराय (रत्नाकर जी के अनुसार कृष्ण लाल) और मानसिंह विजेगढ़ ने अपनी-अपनी टीकाओं में भी इस घटना का उल्लेख नहीं किया है। पं० हरिनारायण जी (जो किसी समय जयपुर राज्य के अफसर ड्योढ़ी थे) के पत्र से जो विवरण रत्नाकर जी ने प्रस्तुत किया है, उसमें भी इस प्रणयगाथा का कोई उल्लेख नहीं है। उक्त पत्र द्वारा यह तो ज्ञात होता है कि बिहारी दास प्रथम इनकी (रामसिंह की) माता चौहानी

जी की सरकार में थे और फिर महाराजा के भी कृपापात्र हो गए थे। रामसिंह जी ने काव्य विषयक बहुत सी बातें बिहारी जी से आगरे में सीखी थीं।

'जयपुर का इतिहास' के लेखक श्री हनुमान शर्मा ने लिखा है कि "कहा जाता है कि महाराज से परिचय करने के लिए बिहारी दास जी ने 'नहिं पराग नहिं मधुर मधु' वाला दोहा महाराज के पास भेजा, तब उन्होंने उनको आदरपूर्वक रख लिया।" (पृ० १४३)

बाबू राधाकृष्ण दास ने इस घटना के सम्बन्ध में लिखा है कि "हमें इसमें विश्वास नही होता, क्योंकि महाराज जयसिंह ऐसे स्त्रैण न थे, वह बड़े गम्भीर, धीर और वीर थे।" जयसिंह के सङ्घर्षमय जीवन के साथ इस प्रकार की कल्पित प्रणय-कथा जोड़कर उनके जैसे महान राजनीतिक पुरुष के साथ न्याय नहीं किया जा सकता। मिर्जा राजा जयसिंह के महत्त्व को आँकते हुए यदुनाथ सरकार ने लिखा है कि "मुगलशाही सेना के साथ रहकर मध्य एशिया मे स्थित बलख से लेकर पूर्व में मुँगेर तक साम्राज्य के हर एक भाग में जयसिंह ने युद्ध किया था। शाहजहाँ के दीर्घकालीन शासनकाल मे कदाचित् ही ऐसा कोई वर्ष बीता था जब कि इस राजपूत राजा ने किसी युद्ध या चढ़ाई में भाग न लिया हो और अपनी मशहूर सेवाओ के पुरस्कार स्वरूप उसे कोई न कोई पदोन्नति न मिली हो। रणभूमि में प्राप्त विजयों से भी कहीं अधिक सफलताएँ उसे राजनीतिक क्षेत्र में मिल चुकी थीं। जहाँ कहीं भी कोई कठिन या चतुराईपूर्ण गूढ़ काम करना होता था, वहाँ बादशाह जयसिंह का मुँह ताकता था।"

विद्याभूषण प० रामनाथ जी द्वारा प्रेषित विवरण १५ के अनुसार जब बिहारी के दोहे के प्रभाव से महाराज जयसिंह नवोढ़ा रानी के फंदे से मुक्त होकर बाहर निकल आए तो चौहानी रानी को बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होने उनको बहुत कुछ पारितोषिक दिया और उस घटना का ज्यों का त्यों चित्र खिचवाकर अपने महल में लगवा लिया। उस चित्र के निम्न भाग में वाम पार्श्व पर १६ और दक्षिण पार्श्व पर ६२ के अङ्क हैं। इन दोनों अङ्कों को मिलाने से १६६२ होता है। अतः यह अनुमान सङ्गत प्रतीत होता है कि यह १६६२ उक्त घटना का संवत् हैं।[३७]

'बिहारी रत्नाकर' के प्राक्कथन में इस चित्र के सम्बन्ध में रत्नाकर जी ने लिखा है कि "उसमें (चित्र में) उस समय का दृश्य दिखलाया गया है, जब बिहारी ने 'नहिं पराग नहिं मधुर मधु' इत्यादि दोहा लिखकर महाराज जयसिंह के पास भेजा था। आमेरगढ़ के विनायक पौरि तथा उसके सामने के प्रशस्त चबूतरे का दृश्य उसमें दिखाया गया है। बिहारी के चित्र उसमें दो जगह है। एक तो बिहारी के जाते समय का चित्र है, जिसके पीछे लाल ढाल वाला एक मिरदहा जो बिहारी को बुलाने गया था, खड़ा है और सामने कोई कर्मचारी बिहारी का स्वागत कर रहा है। दूसरे स्थान पर कतिपय और कर्मचारियों के साथ बिहारी का बैठा हुआ चित्र है। इसमें बिहारी उक्त दोहा लिखकर एक वर्षवर (खोजे) को देते हुए दिखलाए गए हैं और वह वर्षवर वह दोहा ले जाकर किसी दासी को दे रहा है।" आगे रत्नाकर जी ने प्रचलित कथा से तालमेल बैठाने के लिए लिखा है—"इस चित्र के विषय मे जयपुर में यह कहा जाता है कि जब बिहारी के दोहे के प्रभाव से राजा नवोढ़ा रानी के प्रेमपाश से मुक्त होकर बाहर निकल आए और अपना काम-काज करने लगे तो चौहानी रानी

ने प्रसन्न होकर आज्ञा दी कि उस समय की घटना का ज्यों का त्यों चित्र बनाया जाय । बस, उसी आज्ञा के अनुसार उक्त चित्र तैयार किया गया । उसके नीचे के भाग में दोनों पार्श्वों पर दो-दो अङ्क लिखे हुए हैं, अर्थात् बाम पार्श्व पर १६ तथा दक्षिण पार्श्व पर ६२ । इन चारों अङ्कों को मिलाकर हम इसको विक्रम संवत् १६६२ अनुमानित करते हैं।"[३८] बिहारी रत्नाकर में उपलब्ध बिहारी का चित्र इसी विशाल चित्र की अनुकृति के आधार पर बनाया गया था। रत्नाकर जी ने इस घटना को संवत् १६६२ में घटित होना अनुमानित किया है, किन्तु ऐतिहासिक तथ्यों से ज्ञात होता है कि उस समय जयसिंह आमेर में उपस्थित ही नहीं थे। 'मआसिरूल उमरा' के अनुसार ८ वें वर्ष (सन् १६३४, वि० स० १६६१) बालाघाट की सूबेदारी (जो दौलताबाद और अहमदनगर आदि सरकारों में विभक्त है) खानेजमा को मिली तो ये (जयसिंह) भी उनके साथ नियुक्त किए गए। उसी वर्ष एक हजारी मन्सब बढ़ने से इनका मन्सब पाँच हजारी सवार का हो गया। इसके अनन्तर ये दरबार आए। ९ वें वर्ष (संवत् १६६२ वि०) खाने दौरा के साथ साहू भोंसला को दण्ड देने पर नियत हुए। १० वें वर्ष यह दरबार आए। दक्षिण में इन्होंने अच्छा काम किया था, इसलिए बादशाह ने प्रसन्न होकर अच्छी खिलअत देकर अपने देश आमेर जाने की छुट्टी दी कि वहाँ कुछ दिन आराम करें।[३९]

ऊपर के विवरण से सिद्ध है कि जयसिंह संवत् १६६२ में आमेर में नहीं थे। संवत् १६६३ में वे अवकाश पाकर आमेर गए थे और एक वर्ष बाद ही उन्हें शुजा के साथ कन्धार जाना पड़ा था।

'शिवाजी' में भी सर यदुनाथ सरकार ने लिखा है कि "वे (जयसिंह) बारह वर्ष की उम्र में ही पितृहीन होकर मुगलों की सेना में (सन् १६१६ ई०) भर्ती हो गए। उसके बाद जहाँगीर की अन्तिम अमलदारी और शाहजहाँ के सम्पूर्ण शासन का इतिहास इनकी कीर्ति से उज्ज्वल है। इधर पश्चिम में अफगानिस्तान के कन्धार से लेकर उधर पूरब की ओर मुंगेर और उत्तर में आवस् नदी के किनारे से दक्षिण में बीजापुर तक सब स्थानों में मुग़ल फौज को सङ्ग लेकर लड़े थे और सभी जगह उन्होंने नाम कमाया था। वे राजनीतिक चालें चलने में भी कुछ कम चालाक न थे। सब विपत्तिजनक और कठिन से कठिन कामों में बादशाह जयसिंह के ऊपर भरोसा करते थे।"[४०]

जयसिंह के प्रतापी और सङ्घर्षरत जीवन के साथ मधुर, रसिकता से युक्त इस दोहे और घटना की कोई सङ्गति नहीं दीखती। वास्तव में इस दोहा (नहिं पराग नहीं मधुर मधु) के भाव बिहारी को संस्कृत और प्राकृत काव्य-परम्परा से मिले थे। इस भाव के छन्द पूर्व और परवर्ती संस्कृत-काव्य में विविध रूपों में मिलते है। विकटनितम्बा, गोवर्धनाचार्य, पण्डितराज जगन्नाथ तथा बिहारी सभी 'गाहा सतसई' के इस भाव के छन्द से प्रभावित रहे है या परस्पर भावों का आदान-प्रदान किया है। 'गाहा सतसई' का छन्द इस प्रकार है:—

जावण कोस विकास पावइ ईसो स मालई कलिआ।
मअरन्द पाण लोहिल्ल भमर ताव च्चिअ मलेसि ॥ ५४४

अर्थात् जब तक मालती-कलिका का कोष कुछ बढ नहीं जाता तब तक हे रसपान लोलुप भौंरे, तुम मर्दन मात्र से ही सन्तोष कर रहे हो ।'

'गाहा सतसई' का दूसरा छन्द यों है :—

अविहत्तसंधिबन्धं पढमसुब्भेअपाणलोहिल्लो ।
उव्वेलिउं ण जाणइ कलिआं मुहं भमरो ॥ (७।१३)

अर्थात् 'कली के प्रथम मकरन्द रस का लोभी भ्रमर उसका अविकसित सन्धि-बन्ध (मुँह का जोड़) खण्डित कर रहा है, उसे विकसित होने देना वह नहीं जानता ।'

गोवर्धनाचार्य ने भी इसी भाव को आर्या में लिखा है :—

पिब मधुप ! बकुल कलिकां दूरे रसनाग्रमात्रमाधाय ।
अधर विलेपसाध्ये मधुनि मुधा वदनमर्पयसि ॥ ३६७

अर्थात् 'हे मधुप ! दूर से जिह्वाग्र भाग मात्र रख कर बकुल कली का रस पान करो । अधर-सम्पर्क से ही समाप्त हो जाने योग्य (अल्प) मकरन्द पर व्यर्थ मुँह न लगाओ (यह नायिका अत्यन्त सुरत क्लेश को न सह सकेगी) ।'

विकटनितंबा का मुक्तक भी इसी प्रकार के भाव का आस्वादन कराता है । मुक्तक इस प्रकार है :—

अन्यासु तावदुपमर्दसहासु भृङ्ग लोलं विनोदय मनः सुमनोलतासु ।
मुग्धाम जातरजसं कलिकामकाले व्यर्थं कदर्थयसि किं नवमल्लिकायाः ॥

अर्थात् 'हे भ्रमर ! अपने चपल मन को उपमर्दन (मसलना) सहने में समर्थ फूलों वाली लताओं में वहलाओ । नव मल्लिका की मुग्धा कली को जिसमें अभी पराग नहीं आया है, क्यों कष्ट दे रहे हो ?'

बिहारी का उक्त छन्द भी इसी परम्परागत कथन की भित्ति पर आधारित है । इस आधार पर यह स्वतः सिद्ध है कि लोक-प्रचलित सतसई प्रणयन की प्रेरक कथा कपोल-कल्पित एवं सारहीन है । यह हो सकता है कि अपने काव्य का प्रथम परिचय बिहारी ने महाराज जयसिंह को इसी छन्द के माध्यम से दिया हो । वास्तव में बिहारी ने पूर्ववर्ती रसिक काव्यकारों की कथन-परम्परा में अपना भी कथन जोड़ा था । लोक-मानस प्रणय-कथाओं में विशेष आस्वाद भी लेता है । राजा और रानी के प्रणय-केलि के प्रति उत्कण्ठा के कारण ही वह कथा प्रचलित हो गई और उसे हिन्दी के विद्वानों ने सत्य मान लिया जिसका कोई भी सामञ्जस्य जयसिंह जैसे प्रतापी राजा के जीवन के साथ सम्भव नहीं है ।

बलख की घटना

'बिहारी सतसई' के अन्तिम तीन दोहों में मिर्जा जयसिंह के पराक्रम पर कविवर बिहारीदास ने प्रकाश डाला है । जयसिंह ने औरङ्गजेब के साथ बलख (मध्य एशिया) की चढ़ाई में भाग लिया था ।[४] बिहारी ने जयसिंह द्वारा सेना को बलख से निकाल लाने की सराहना विशेष रूप से की है इस घटना से सम्बन्धित बिहारी के तीन दोहे इस प्रकार हैं

सामा सेन सयान की सबै साहि कै साथ।
बाहुबली जयसाहि जू, फते तिहारैं हाथ ॥७१०

यौं दल काढ़े बलक तें, तैं जयसिंह भुवाल।
उदर अघासुर के परैं, ज्यौं हरि गाइ गुवाल ॥७११

घर घर तुरकिनि हिंदुनी, देति असीस सराहि।
पतिनु राखि चादर चुरी, तै राखि जयसाहि ॥७१२

छन्द ७१२ के सम्बन्ध में 'बुन्देलखण्ड वैभव' में श्री गौरीशङ्कर द्विवेदी ने लिखा है कि इस दोहे का सम्बन्ध सं० १७११ वाली दक्षिण की लड़ाई से है, तथा रायकृष्ण दास ने लिखा है कि जयसिंह ने संवत् १७११ (१६६५ ई०) में दक्षिण में युद्ध को रोककर शिवाजी और औरङ्गजेब के बीच जो सन्धि कराई थी, उस समय बिहारी दास ने यह दोहा कहा था। किन्तु यह दोनों विद्वानों का भ्रम है। वास्तव में यह दोहा भी बलख की घटना से सम्बन्धित है जैसा कि टीकाकार मानसिंह विजैगढ़ के अर्थ से ज्ञात होता है। टीकाकार ने लिखा है:—

दल्ली (दिल्ली) तथा आगरे तथा आंबेर के सिपाइन कै। घर घर प्रति। तुरकनी तथा हिंदुनी त्रीं जस बषानु कर कर आसीस देति हैं।...अहो राजा जयसिंघजु हम्हारे घनी तुम्ह बुलष बषारा की मुहम तै जीद तै राष हम्हारी चादर चुरी सोहाग तुम्ह दीया है।"[४२]

सतसई का रचना-काल

रत्नाकर जी ने बलख की घटना के वर्णन के आधार पर सतसई का रचनाकाल संवत् १७०४ के जाड़े की ऋतु माना है।[४३] किन्तु अब्दुर्रज्जाक लिखित 'मआसिरूल उमरा' मे जयसिंह का जो वृत्त मिलता है, उसके अनुसार मिर्जा राजा की पदवी पाने के बाद जयसिंह को सतत अनेक जिम्मेदारियाँ दी गईं, जिनका विवरण इस प्रकार है:—"१४वें वर्ष (सन् १६४० ई०, संवत् १६९७) मुरादबख्श के साथ काबुल में नियुक्त हुए। १५वें वर्ष मऊ दुर्ग विजय और कंधार में नियुक्त हुए। १६ वें वर्ष देश चले गए। १६४४ ई० में पुनः दक्षिण गए और २०वें वर्ष लौटे। इसी वर्ष औरङ्गजेब के साथ बलख की चढ़ाई पर गए। २२वें वर्ष कंधार की लड़ाई में सम्मिलित हुए। २३वें वर्ष दरबार में आए और वर्ष के अंत में देश जाने का अवकाश लेकर चले और मार्ग में कामा पहाड़ियों के विद्रोहियों को दंड देने के लिए नियुक्त हुए और २५ वें वर्ष अर्थात् १७०८ में औरङ्गजेब के साथ कंधार की चढ़ाई में हरावल के अध्यक्ष बनाए गये।"

इस विवरण के अनुसार संवत् १७०६ के अन्त तथा सं० १७०७ में जयसिंह आमेर मे रहे और बलष के युद्ध का विशेष विवरण उसी समय वहाँ के लोगों को मिला होगा। इस आधार पर बिहारी द्वारा इसी समय सतसई को पूर्ण करने की संभावना युक्तिसंगत है। सवत् १७ ४ के जाड़ों में सतसई पूरी करने की जो बात रत्नाकर जी ने कही है, वह शुद्ध नही है वास्तव में संवत् १७०७ में ही सतसई की रचना पूर्ण हुई थी।

मृत्यु-काल

जिस प्रकार बिहारी की जन्म-तिथि अज्ञात है, उसी भाँति मृत्यु-तिथि भी। जो तिथियाँ अब तक घोषित की गई हैं, उनकी प्रामाणिकता पर प्रारम्भ में ही अविश्वास किया जा चुका है। बिहारी अन्त समय तक आमेर में रहे अथवा जोधपुर में, इसका कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। अनेक भारतीय-कवियों की भाँति ही बिहारी ने भी अपने निजत्व को कृतित्व की गरिमा से ढँक दिया था।

सन्दर्भ-सङ्केत

(१) कविवर बिहारी, पृ० ३८२ (२) वही, पृ० ३४५ (३) वही, पृ० ३४६ (४) वही, पृ० ३४६ (५) बिहारी विहार, भूमिका पृ० ७ (६) भारतेन्दु, २० जनवरी सन् १८८६, पृ० १४६ (७) बिहारी विहार, भूमिका, पृ० ७ (८) बिहारी दर्शन (लोकनाथ द्विवेदी सिलाकारी, पृ० १५ (९) कृष्णादत्त कवि की 'बिहारी की सतसई', पृ० १९४ (१०) हरिहर निवास द्विवेदी द्वारा लिखित पुस्तक 'मध्यदेशीय भाषा ग्वालियरी' की भूमिका, पृ० १३ (११) मान-कुतूहल, पृ० ९१ (१२) मध्यदेशीय भाषा ग्वालियरी, पृ० १ (१३) वही, पृ० २६ (१४) सूर-पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य, पृ० १५१ (१५) वही, पृ० १५२ (१६) ब्रजभाषा, पृ० २१-२२ (१७) रीतिकाव्य संग्रह, पृ० २८१ (१८) सरस्वती, अक्तूबर सन् १९२६, पृ० ४१९-२०, ४२२ (१९) नागरी प्रचारणी पत्रिका, जनवरी सन् १९१९ (२०) कविवर बिहारी, पृ० ३२१ (२१) वही, पृ० ३२२ (२२) सरस्वती, अक्तूबर १९२६, पृ० ४१९ (२३) भारतेन्दु, सन् १८८६ (२४) कविवर बिहारी पाद टिप्पणी, पृ० ३५६ (२५) वही, पृ० ३५६ (२६) वही, पृ० ३२९; हिन्दी साहित्य का इतिहास (आ० रामचन्द्र शुक्ल) पृष्ठ २४८ तथा हिन्दी काव्य में शृंगार-परम्परा और महाकवि बिहारी (लि० डॉ० गणपतिचंद्र गुप्त), पृष्ठ ४०१ (२७) देखिये, टीकाकार का वक्तव्य—बिहारी बोधिनी, अष्टम संस्करण सं० २०१३, पृष्ठ ४ (२८) कविवर बिहारी, पृ० ३३६ से ३४० (२९) महाकवि केशवदास, पृष्ठ १० (३०) बुन्देलखण्ड का संक्षिप्त इतिहास, (लि० गोरे लाल तिवारी) पृ० १२६-१२७ (३१) वही, पृ० १३०

(३२) वृत्ति दई पुरुखानि की, देऊ बालनि आसु।
मोहि आपनो जानि कै, गंगा तट देनु बासु॥

(३३) केशव और उनका साहित्य, पृष्ठ ५३ (३४) महाकवि केशवदास, पृ० १४ (३५) कविवर बिहारी, पृ० ३२९ (३६) वही (३७ बिहारी रत्नाकर, प्राक्कथन, चतुर्थावृत्ति (संवत् २०००) पृ० ३२-३३ (३८) कविवर बिहारी, पृ० ३७६ (३९) मआसिरुल उमरा, अनु० ब्रजरत्नदास, प्रथम भाग, पृष्ठ १९७ (४०) सर यदुनाथ सरकार : शिवाजी, पृ० १५४ (४१) मध्य एशिया का इतिहास, भाग २, पृ० १८९ (४२) बिहारी सतसई—टीका, मानसिंह बिजेगढ़ श्रीमती कमला सघी की प्रति) ४३ कविवर बिहारी पृ० ३७८।

भारतीय नृत्यकला : एक सौन्दर्यपरक दृष्टि

• लक्ष्मीकान्त वर्मा

जीवन में व्याप्त हर्ष, उल्लास, राग, विराग, क्रोध, मोह, दुःख, संताप आदि की अनुभूतियों की अभिव्यक्ति प्रायः मुद्राओं और संकेतों द्वारा होती है। हमारे मुख पर, हमारे अंगों पर, हमारी गति पर, हमारी दृष्टि पर आन्तरिक अनुभूतियों की प्रतिक्रियाएं स्वतः अंकित हो जाती हैं। साधारण जीवन में शोकमग्न और प्रसन्नचित्त मुद्राओं को हम सहज ही स्पष्ट रूप में पढ़कर, देखकर जान लेते हैं। इन मुद्राओं को कभी-कभी हम इतना अधिक जान और समझ लेते हैं कि उसके अनुसार व्यावहारिक जीवन में आचरण और मर्यादाओं का भी नियंत्रण कर लेते हैं। इन मनोभावों की अभिव्यक्ति काव्य में तो केवल शब्दों के माध्यम से होती है, किन्तु जहाँ शब्द प्रतीक प्रधान होने के नाते केवल संकेत देकर अमूर्त का वर्णन कर देते है, वहाँ नाटक, नृत्य, अभिनय और रागों में हम उसी मुद्रा को दूसरे रूप मे अर्थात् क्रियाशील रूप में व्यक्त करते हैं। निश्चय ही नृत्य और अभिनय में भावभंगिमाओं और भंगिमाओं के माध्यम से जीवन की अभिव्यक्ति, शब्द की अपेक्षा अधिक सजीवता से होती है। अभिव्यक्ति की दृष्टि से नृत्य अपेक्षाकृत कठिन और जटिल कला है।

अभिव्यक्ति की दृष्टि से यदि देखा जाय तो भारतीय नृत्यकला की उत्पत्ति तो मनोरंजन के लिये हुई है, किन्तु यह मनोरंजन मात्र आमोद-प्रमोद के स्तर का नहीं है, वरन् इसमें रस और भाव की सिद्धि द्वारा देवताओं को प्रसन्न करने का धार्मिक उद्देश्य भी निहित है।[1] भरत के 'नाट्य-शास्त्र' में आदर्श नर्तकी की परिभाषा देते समय जहाँ उसकी तीव्र बुद्धि, आत्मशक्ति, शारीरिक सौन्दर्य तथा ताल-लय-बद्ध-गति का उल्लेख किया गया है, वहीं उसके लिये रस-मर्मज्ञ और भाव-निपुण होना भी आवश्यक माना गया है। 'अभिनय-दर्पण' में तो यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि प्रत्येक नर्तकी में आन्तरिक और वाह्य गुणों का होना आवश्यक है। आन्तरिक गुणों की व्याख्या में यह स्पष्ट है कि प्रत्येक नर्तकी को कला में अभिरुचि और उसके तत्त्वों के प्रति तीक्ष्ण दृष्टि रखनी चाहिये। साथ ही स्मरण शक्ति और तितीक्षा का होना भी परम आवश्यक है। प्रत्येक नृत्यकार रस और भाव की जिज्ञासा, उसकी खोज और उसमें निहित जीवन के सत्यों का साक्षात्कार अनुभूति के स्तर पर वहन करता है और अभिव्यक्ति के स्तर पर उसे मुद्राओं और भंगिमाओं द्वारा दर्शक तक पहुँचाता है इस रस और भाव को नृत्यकार स्वयं

तो अनुभव करता ही है, दर्शक के मन में भी वही रस और भाव पैदा करने की चेष्टा करता है।

पाश्चात्य विद्वानों एवं नृत्यशास्त्रियों ने नृत्य को भाव एवं रस के सूक्ष्म स्तरो पर देखने की चेष्टा नहीं की है। उन्होंने उसे मात्र मनोरंजन अथवा प्रशिक्षण अथवा सामाजिक आचरण अथवा खेल-तमाशों के रूप में ही परिभाषित करने की चेष्टा की है। इस दृष्टि से नृत्य का मुख्य उद्देश्य 'मुद्रा और व्यंजना' है। पाश्चात्य देशों में नृत्य, स्त्री-पुरुष के रागात्मक एवं काम-प्रधान भावनाओं के आदान-प्रदान का माध्यम माना गया है।[२] इसमे सन्देह नहीं कि पाश्चात्य देशों के बहुत से ऐसे नृत्य हैं जिनमें इन भावनाओं को उद्दीप्त करने की संभावनाएं अधिक हैं, लेकिन ये संभावनाएँ मानवीय हैं, इसलिये किसी भी प्रकार की वर्जना आरोपित न करके पाश्चात्य समाज में इन नृत्यों का अधिक प्रचलन है। यह सत्य है कि सामूहिक नृत्यों में हमें उस उदात्त एवं सूक्ष्म तत्व के दर्शन नहीं होते जो प्रायः भारतीय नृत्यों में होते हैं, किन्तु इन सब के होते हुए भी पाश्चात्य नृत्यों में जीवन के प्रति आकर्षण, मोह, स्फूर्ति और उसे सजीव रूप में भोगने की क्षमता अधिक मिलती है। अकेले बॉल डांस के वाल्ट्ज़ (Waltz), टैंगो (Tango) और फ़ॉक्स ट्राट (Fox Trot) के प्रारूपों में मादक यौवन के स्फूर्तिदायक तत्व इतने मांसल और सजीव हैं कि उनकी एक अपनी विशिष्टता है। एकदम नितान्त पार्थिव सत्य को इतने निकट से अनुभव करना और उसके संसर्ग में जीवन के प्रदीप्त तत्वों को ले जाना स्वयं में एक अनुभूति है। प्रसिद्ध नर्तक इसाडोर डन्कन का कथन है कि नृत्य की सम्पूर्ण शिक्षा उसने इस पार्थिव, स्थूल जगत् के नैकट्य से ग्रहण की है, किन्तु इसकी मांसलता और पार्थिवता को उसने एक जागरूक की भाँति आजीवन ग्रहण किया।

जहाँ तक नृत्य का काम-तत्व से संबंध है, वहाँ स्वयं भारतीय चिन्तन, उसे वर्जनागत नही मान सका है। वात्स्यायन ने 'कामसूत्र' में नायिका को मात्र कामपूर्ति के लिये चौसठ कलाओं से भिज्ञ होना आवश्यक बताया है। यद्यपि इन कलाओं के सम्बन्ध में उसने यह भी कहा है कि नृत्य में निपुण केवल तीन ही वर्ग के सदस्य हो सकते हैं—(१) राजकुमारियाँ, (२) वैभवशाली या शक्तिशाली व्यक्तियों की पुत्रियाँ तथा (३) गणिकाएँ।[३] भारतीय सभ्यता के प्रारम्भिक काल (ई० पू० चौथी शताब्दी) में भी इस प्रकार के आभिजात्य अभिरुचि की रमणियाँ सभ्यता के महत्वपूर्ण अंग की परिचायक हैं। ऐसा नहीं है कि इन नर्तकियो ने नितान्त स्थूल और मांसल स्तर पर होते हुए भी जीवन के उदात्त और कोमल भावों को न छुआ हो। वासवदत्ता, आम्रपाली तथा श्यामा और देवव्रत की कथाओं से यह स्पष्ट पता चलता है कि ये नर्तकियाँ समाज के परिष्कृत संस्कार की वाहक थीं और इन्होंने अपने रूप, सौन्दर्य, माधुर्य और आकर्षण से एक नहीं, अनेक महापुरुषों को प्रभावित किया था। इसलिये, यद्यपि हमारे भारतीय नाट्य-शास्त्र में विशुद्ध, उदात्त और परिष्कृत अनुभूतियों को ही शास्त्रोचित कहा गया है, फिर भी उसमें कहीं भी वर्जना की ध्वनि नहीं मिलती। यद्यपि हमारे समाज में समवेत या सामूहिक नृत्य नहीं था. फिर भी नृत्य-मुद्राओं, भाव-भंगिमाओं लास चेष्टाओं के माध्यम से काम प्रधान अनुभूतियो को तीव्रतम करने के प्रमाण संस्कृत

साहित्य एवं नाटकों में भरे पड़े हैं। कालिदास के कुमार सम्भव में जहां शिव पार्वती के लास-विलास में वात्स्यायन के कामसूत्रों का सजीव चित्रण मिलता है वहां मुद्रा और भाव-भंगिमा के चित्रण में भरतमुनि के नृत्य-मुद्राओं के आभिजात्य संस्कारों का भी समुचित समावेश मिलता है।

'भरत नाट्यम्' का मूलतत्त्व भावों को व्यंजित करना है। इन भावों का लक्ष्य मनोरंजन के साथ-साथ विभिन्न मनःस्थितियों के संवेग में जीवन के रस को प्राप्त करना है। वात्सायन ने जहाँ इस कला के मर्मज्ञों या उन व्यक्तियों का वर्णन किया है जो इसके वास्तविक अधिकारी है, वहीं भरत ने भी इस नाट्यकला के लोक-तत्व का उल्लेख करते हुए लिखा है कि सम्पन्न, अर्थजीवी आदि अनेक प्रकार के लोगों के मनोरंजनार्थ इस कला को विकसित किया गया है।[४]

सम्पूर्ण स्थितियों के विवेचन से ऐसा लगता है कि भारतीय नृत्यकला में तीन पक्ष बराबर एक-दूसरे के समानान्तर चलते रहे हैं—(१) मनोरंजन, (२) देव-स्तुति तथा (३) भाव एवं रस की अभिव्यक्ति।

इस कला का उद्गम तो निश्चय ही देवताओं के मनोरंजन के लिये हुआ था, किन्तु मात्र मनोरंजन या विलास ही इसका लक्ष्य नहीं था। इसका मुख्य उद्देश्य केवल कोमलतम भावनाओं और रसों को अभिव्यक्त करना है। मानव-मन की सुन्दर और शिव भावनाओं को अभिनय के माध्यम से एवं जीवन की वास्तविक रागात्मक अनुभूतियों को नृत्य-मुद्राओं के माध्यम से स्वयं साक्षात्कार करना और दर्शक को भी उसी रस का अनुभव करा देना ही इस कला का लक्ष्य है।

'अभिनय दर्पण' में अभिनय के चार प्रकार बताये गये हैं—(१) आंगिक, (२) वाचिक, (३) आहार्य तथा (४) सात्विक। आंगिक अभिनय में प्रायः शरीर के अङ्गों के माध्यम से किसी मर्मस्पर्शी अनुभूति को व्यक्त किया जाता है। इसके तीन वर्ग माने गये हैं—(१) अंग, (२) प्रत्यंग और (३) उपांग। अंग के अन्तर्गत मस्तक, हाथ, वक्ष, कटि और पद आदि आते है। वस्तुतः यह शरीर के मुख्य अंग हैं जिनके माध्यम से हम अपने जीवन में सहज ही अपने अन्तर्मन की भावनाओं को व्यक्त करते हैं। सुख में अंगों का फड़कना, दुख में मस्तक का झुक जाना, लास में वक्षों में स्फूर्ति और चिन्ता में सारे शरीर का बोझ-सा लगना आदि बातें हम अपने जीवन में सदैव भोगते हैं। इसलिये यह मात्र व्यापक संदर्भ में ही प्रयुक्त होता है। प्रत्यंग के अन्तर्गत कन्धे, बाहु, पीठ, पेट, जंघा आदि आते हैं। अधिक आभिजात्य संवेदना के लिये अभिनय में इन उपांगों का विशेष प्रयोग किया जाता है। वैसे प्रत्येक अभिनय में अंगों और प्रत्यंगों का संचालन साथ-साथ होता है, किन्तु जब किसी विशिष्ट भाव को सटीक रूप मे प्रेषित करना होता है, तब इनका उपयोग भिन्न प्रकार का हो जाता है। उपांग में नेत्रों, भौंहों, आँख की पुतलियों का संचालन और नासिका, अधर, दांत, जिह्वा, ठुड्डी और उंगलियों आदि का प्रयोग होता है। आंगिक अभिनय में इन समस्त मुद्राओं को मिलाकर सौ से अधिक भंगिमाएँ बन जाती हैं।

वाचिक अभिनय में स्वरप्रधान तत्वों का समावेश होता है। जो भी भाव अंग, प्रत्यंग, उपांग से व्यंजित होते हैं, उनको कभी-कभी शब्दों और स्वरों के माध्यम से भी व्यक्त किया जाता है। रस की उत्पत्ति के लिये शब्दों और वचनों का आधार लेना पड़ता है। 'अभिनय-दर्पण' में रसोत्पत्ति को विशेष रूप से प्रेषित करने के लिये हाथों, आँखों और वाणी को बहुत महत्व दिया गया है। वाणी को विचारों और प्रत्ययों की अभिव्यक्ति का विशेष माध्यम माना गया है। वस्तुतः अंगों, प्रत्यङ्गों और उपांगों के अभिनय से हम वाणी के अर्थ को और अधिक मार्मिक और महत्वपूर्ण बनाकर प्रस्तुत करते हैं। अभिनय करते-करते जब कलाकार का सम्पूर्ण व्यक्तित्व वाणी के अर्थों और भावों की लहरियों में डूब जाता है, तभी वह रस व्यंजित करने में पूर्णतया सफल होता है। आंगिक अभिनय वस्तुतः वाणी द्वारा प्रेषित रस की वृद्धि के लिये ही किया जाता है। इसके साथ देश-काल का भी प्रतिबन्ध रहता है और उसकी सीमाओं में ही प्रस्तुत किया हुआ भाव सफल होता है। आहार्य भी रस के संचार में सहायक होता है। अभिनय में आंगिक तीव्रता एवं प्रेषणीयता लाने के लिये उचित वस्त्रों का प्रयोग उतना ही महत्वपूर्ण माना गया है जितना कि मञ्च-सज्जा। करणों और अंगहार के साथ-साथ भावाभिव्यक्ति को सरल और सटीक बनाने में आहार्य का बड़ा महत्वपूर्ण योग रहता है। जैसे ताण्डव में कम वस्त्र की आवश्यकता है, उसी प्रकार लास्य में सहज आहार्य, रूप-सज्जा का विशिष्ट महत्व है। यही नहीं, 'भरत नाट्यशास्त्र' के व्याख्याकारों ने इस पक्ष पर काफी बल दिया है।

सात्विक अभिनय की व्याख्या करते हुए भरत ने स्वेद, स्तम्भ, कम्प, रोमांच, स्वर-भेद आदि को भावों के विभिन्न स्तर और अर्थबोधों से संयुक्त माना है। वास्तव में विशुद्ध भाव को प्रदर्शित करने में वाचिक, आंगिक और आहार्य के बिना भी केवल कम्प, रोमांच आदि से भी व्यंजित किया जा सकता है। यह विभाजन शायद इसलिये भी किया गया है कि प्रायः अनावश्यक रूप से अन्य माध्यमों का आधिक्य होने से भाव का सात्विक रूप विकृति में बदल जाता है।

प्रस्तुत अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आज से दो हज़ार वर्ष पूर्व मानवीय मनोभावों का जितना उपयुक्त वर्गीकरण और सजीव चित्रण समस्त सौन्दर्यानुभूति की वस्तुपरकता के साथ हमारे यहाँ किया गया था, उतना सम्भवतः अन्य देशों में नहीं। 'भरत-नाट्यशास्त्र' के अध्ययन से तो ऐसा भी प्रतीत होता है कि भरत ने स्वतः जो कुछ भी लिखा, अधिकांशतः परम्परागत अभिनय के नियमों के प्रचलित रूप को ही सूत्रबद्ध कर दिया। इसमें संदेह नहीं कि उन्हें सूत्रबद्ध करने में स्वयं भरत मुनि के व्यक्तित्व, दृष्टिकोण और सिद्धान्तों का उल्लेख भी हुआ है, किन्तु यह सब एक-दूसरे में इतना मिला हुआ है कि आज यह कहना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है कि प्रचलित नाट्य-शास्त्र में कितनी परम्परा का है और कितना स्वयं ग्रंथकर्ता का; क्योंकि भरत मुनि के पहले नृत्य-कला या अभिनय-कला का क्या स्वरूप रहा होगा, यह अनुमान लगाना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है।

भरत मुनि ने अभिनय की व्याख्या करते हुए कहा है कि अभिनय, मात्र चरित्र-चित्रण नहीं है, वरन् वह उन भावात्मक स्थितियों का चित्रण है जिसे अभिनीत करते समय

कलाकार व्यक्त करता है। यह अभिव्यक्ति पात्रों की मनोदशा की आन्तरिक ध्वनियाँ व्यंजित करता है। भरत ने आंगिक अभिनय को दो भागों में विभाजित किया है—(१) चितवृत्यर्पिका (२) बाह्यवस्त्वनुकरणी।

चित्तवृत्यर्पिका का स्पष्ट आशय है स्वाभाविक भावनाओं पर बल देना। मेरा अपना अनुमान है कि चित्तवृत्यर्पिका, सात्विक अभिनय के क्षेत्र की वस्तु है। प्रत्येक सात्विक अभिनय मे प्रायः स्वाभाविकता पर ही विशेष बल दिया जाता है। सात्विकता में नाटकीयता कम और स्वभाविकता अधिक होती है। किन्तु बाह्यवस्त्वनुकरणी अभिनय मे नाटकीयता पर विशेष बल दिया जाता है। नाटकीयता पर विशेष बल देने के कारण बाह्यवस्त्वनुकरणी में रूपों, मुद्राओं एवं उनकी अभिव्यक्ति पर विशेष आग्रह रहता है।

चित्तवृत्यर्पिका में चित्त की विभिन्न वृत्तियों के स्वाभाविक स्थितियों की गत्यात्मक व्यजना ही अधिक महत्वपूर्ण है। वास्तविक स्थिति में वाणी की व्यंजना गौण रहती है। वस्तुतः बिना वाणी के समस्त अंगों से एक ही मनोभाव और उसकी विभिन्न संघर्षमयी स्थितियों को सम्पूर्ण अंग के थिरकन और सिहरन, कम्पन से व्यक्त किया जाता है। वास्तव में हमारे मन की स्थितियों का प्रभाव शरीर पर पड़ता है। हम देखते हैं कि हर्ष, उल्लास, क्रोध या भय आदि की स्थितियों में उनका हमारे आंगिक स्फुरण, परिचालन आदि पर बडा प्रभाव पड़ता है। आन्तरिक द्वन्दों-प्रतिद्वन्दों में निहित जीवन-सत्य की मार्मिक पीड़ा, सवेदना इसीलिये अधिक आवश्यक है। इन चित्तवृत्तियों का अभिनय में इसीलिये मनोवैज्ञानिक महत्व भी अधिक है।

इसकी सापेक्षता में जब हम बाह्यवस्त्वनुकरणी आंगिक अभिनय का अध्ययन करते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि इसका मुख्य उद्देश्य आन्तरिक अनुभूति को बाह्य अभिव्यक्ति से सम्बद्ध करना है। बाह्याभिव्यक्ति में उपकरणों का एक विशेष महत्व है। संप्रेषणीयता की दृष्टि से जब तक बाह्याभिव्यक्ति का सम्बन्ध आन्तरिक भावों से नहीं होगा, तब तक न तो उसका लक्ष्य पूरा-पूरा व्यक्त होगा और न लक्ष्य की पूर्ति ही हो पायेगी। कहने का तात्पर्य यह कि जब तक अनुभूति को माध्यमों का आश्रय नहीं देंगे, तब तक सम्प्रेषणीयता का हो पाना कठिन हो जायेगा।

बाह्यवस्त्वनुकरणी आंगिक अभिनय को आभिजात्य शृङ्गार और शरीर के उपकरणों के बिना सफलता के साथ अभिनीत करना संभव नहीं है। यही कारण है कि मात्र रस शृङ्गारिकता के लिये और कार्य-कारण सम्बन्धों के माध्यम से अव्यस्तिता, उद्व्यस्तिता और व्यावृत्तिता एवं परिवर्तितता जैसे भावों को सफलतापूर्वक व्यक्त करने के लिये नर्तकियों और नर्तकों के चुनाव तथा उनके माध्यमों पर भी व्यावहारिक एवं यथार्थवादी ढंग से विचार किया गया है।

भरत ने 'नाट्य-शास्त्र' में जहाँ नर्तकी का वर्णन किया है और उसके व्यक्तित्व की वांछित आवश्यकताओं का उल्लेख किया है, वहाँ यह भी बताया है कि नर्तकी को कुशाग्र बुद्धि, जीवन की अनुभूतियों को ग्रहण करने में सक्षम, सुन्दर, संगीत के आरोह-अवरोह तथा तालसम के अनुकूल नृत्य और अभिनय आदि में प्रवीण होना चाहिये नर्तकी को

रस और भाव से परिचित ही नहीं, उसमें निपुण भी होना चाहिये। 'अभिनयदर्पण' में भी नर्तक एवं नर्तकियों की शारीरिक सुन्दरता एवं शृङ्गार पर बल दिया गया है और बताया गया है कि उनको नितान्त आत्मविश्वासी, बातचीत में निपुण, मन को लुभा लेने वाला और अपनी कला में निपुण होना चाहिये। शारीरिक सौन्दर्य की व्याख्या करते हुए स्पष्ट रूप से बताया गया है कि आकर्षक एवं सुन्दर आँख, अधर, ग्रीवा, कटि आदि के साथ-साथ बड़े ही सुन्दर और गोलाकार सुडौल उरोजों का होना नर्तकी के लिये परम आवश्यक है। वस्त्राभूषण भी नितान्त आकर्षक होने चाहिये। उसमें सदैव ऐसी मुस्कान होनी चाहिये जो आकर्षक होने के साथ-साथ मन को लुभाने वाली हो। संगीत और नृत्य के लयों में दक्ष होना भी नर्तकी के लिये परम आवश्यक है।

आहार्यशृङ्गार विधि का वर्णन करते हुए और नर्तकियों के आवश्यक गुणों का उल्लेख करते हुए बताया गया है कि नर्तकियों को छरहरे-सुडौल शरीर का तथा मधुभाषी होना चाहिये। उनके केश लम्बे, गुच्छेदार तथा कटि तक झुके हुए होने चाहिये। फूलों के आभूषणों से अपने को सुसज्जित कर, मोतियों का हार तथा कुंडल धारण कर, चन्दन से माथे को आलोकित कर, काजल की लकीरों से उभरी हुई बड़ी-बड़ी आँखे आकर्षणमय बनाकर, चूड़ियाँ पहनकर, कपोल एवं ग्रीवा को कस्तूरी-केसर से आलेपित कर, कढ़ाईदार वस्त्रों से उभरे उरोज को ढक कर, अँगुलियों में अँगूठियां एवं हाथ में कंकण पहनकर तथा श्वेत वस्त्र धारण कर नर्तकियों को मंच पर अवतरित होना चाहिये।

अभिनय एवं नर्तन में शृंगार पक्ष का इतना विवेचन और समर्थन मात्र इसलिये किया गया है कि भावों एवं अनुभूतियों की संवेदना को समझने में बाह्योपकरण दर्शक को सहायता दे सकें। 'अभिनयदर्पण' में तो ऐसी स्त्रियों को जो नितान्त क्षीणकाय हो, विकृत आँखों वाली हो, जिनके केश थोड़े और लम्बे न हों, जिनके ओठ मोटे हों तथा ढीले लटकते हुए उरोज हो, जो बहुत मोटी अथवा बहुत लम्बी हो अथवा कुबड़ी और नाटी हो, अभिनय के लिये अनुपयुक्त बताया गया है। इनके प्रवेश का निषेध भी किया गया है। 'अभिनय दर्पण' में आभिजात्य अभिरुचि वाली नर्तकियों को ही मंच पर अभिनय करने के लिये कहा गया है। इनका स्फूर्ति, स्थिरता, रेखा, मुद्रा तथा अंग-प्रत्यंग को लचाने में निपुण, कटाक्ष करने वाली, धीरज वाली, स्मृति वाली होना नितान्त आवश्यक बताया गया है। यही नहीं, संगीत नृत्य आदि समस्त कलाओं में उसकी भावना, भक्ति जैसी होनी चाहिए और स्वरों में स्पष्ट रूप से आरोह-अवरोह का गुण होना चाहिये।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि नृत्य और अभिनय में आन्तरिक अनुभूतियों के साथ-साथ शारीरिक सुन्दरता और अभिव्यक्ति में सहायक सिद्ध होने वाले समस्त बाह्य उपकरणों के प्रति हमारे कला-आचार्य जागरूक एवं सचेष्ट थे। यद्यपि उनका आग्रह भाव और रस के प्रति विशेष रूप से रहा है और आन्तरिक सौन्दर्य और अनुभूति की मर्मस्पर्शी व्यंजना के प्रति वह अत्यन्त आग्रहशील रहे हैं किन्तु इसके साथ ही साथ नृत्य के व ह्य उपकरणों तथा दर्शकों को रुचिकर लगने वाले समस्त शारीरिक आभूषणों को भी वह उसी

अनुपात में नितान्त आवश्यक मानते रहे हैं। अनुभूतियों के सूक्ष्म से सूक्ष्म तारों को झंकृत करने के इन स्थूल साधनों को उन्होंने सदैव ध्यान में रक्खा है।

यद्यपि अभिनय, स्वयं अनुभूतियों का यथार्थ चित्रण माना गया है, फिर भी यह यथार्थ अनुभूतियों की तीव्रता और उनकी व्यंजना के स्रोत से ही परिपक्व होता है। रस और ज्ञानेन्द्रियों के बोध तथा उनके मार्मिक तत्वों में एक नितान्त मानवीय करुणा और संवेदना ही अनुभूतियों को व्यंजना देने में समर्थ होती है। भाव, विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी, अथवा संचारी भाव और सात्विक भावों में जिन विभिन्न मानवीय संवेदनाओं की स्थितियों और व्यजनाओं को वर्गीकृत किया गया है, वे स्वयं इस बात के परिचायक है कि भारतीय नृत्य, शारीरिक प्रदर्शन और आंगिक अभिव्यक्ति के होते हुए भी मानवीय संवेदना के मनोवैज्ञानिक यथार्थ को सफलता के साथ अभिव्यक्त करता है। हमारे पुराने आचार्य, चाहे वह भरत मुनि हों अथवा अभिनव गुप्त अथवा शारंगदेव हों, इन सब के विवेचन और व्याख्या में हमें जिस गहन तत्व का बोध होता है, वह यही मनोवैज्ञानिक तत्व हैं। नन्दि मुनि ने शिव-ताण्डव नृत्य में केवल ६४ ही मुद्राओं, करणों और अंगहारों का पता भले ही लगाया हो, भरत मुनि ने उसके और सूक्ष्म वर्गीकरण करके उसको १०८ मुद्राओं एवं अंगहारों तक पहुंचा दिया। अभिनव गुप्त और उनके बाद के आचार्यों ने भरत मुनि के विश्लेषण को भी और परिमार्जित किया और आभिजात्य गुणों के आधार पर उनके नये प्रकरण प्रस्तुत किए। यहाँ उनके विभिन्न वर्गीकरणों का विवेचन न करके मैं केवल इतना ही कहना चाहूँगा कि मानवीय संवेदनाओ, अनुभूतियों और अभिरुचियों को देखने और विश्लेषण करने के गुण को हम उनमें इतने उच्चस्तर पर पाते हैं कि उसके सम्मुख अकस्मात् ही आदर भाव से माथा झुक जाता है।

इस दृष्टि से देखने पर अभिनय की विशेषता हमें और भी गहरे अर्थों के सन्दर्भ में स्पष्ट हो जाती है। अभिनय, नृत्य का उतना ही महत्वपूर्ण अंग है जितना कि नृत्य, नाट्य का। नृत्य और नाट्य दोनों में हमें भावाभिनय ही मुख्य जान पड़ता है। नाट्य में जिसे हम पात्र के चरित्र में पाते हैं, नृत्य में हमें वही नृत्यकार के भाव में मिलता है। नाट्य में किसी भी चरित का अभिनय करते समय उस चरित की अनुभूतियों में रम कर पात्र को उसकी अभिव्यक्ति देनी पड़ती है। नृत्य में यही भाव और भी सूक्ष्म स्तर का हो जाता है; क्योंकि उसमें भी स्थिति का भाव-बोध नर्तक या नर्तकी अपने हाव-भाव, गति-लय, अंग-स्फुरण और मुद्राओं द्वारा करते हैं। नाटक में भी पात्र, चरित्र की प्रकृति को व्यक्त करने के लिये उसी प्रकार की भाव-भंगिमाओं और मुद्राओं को स्वीकार करता है। किन्तु नृत्य-कला ग्रीक ट्रेजेडी या नाटक की भाँति अनुकरण-सिद्धान्त पर आधारित न होकर भाव और रस से प्रेरित होती है। जो लोग यह मानते हैं कि इतने बारीक विभाजनों में रस की हत्या हो जाती है और सारी नृत्य-कला केवल यांत्रिक रूप से अंग-परिचालन तक ही सीमित रहती है, वह शायद ग़लती करते है। आभिजात्य होने के नाते भारतीय नृत्य-कला किसी प्रकार के अभिनय को मात्र अनुकरण नहीं मानती वह रस निष्पत्ति को ही उसका लक्ष्य मानती है और स्वाभाविक अंगों की गति से मुद्राओं अंगहारों करणों और वीथिका का निर्माण करती है

इसी दृष्टिकोण से भरत मुनि के बाद आचार्य रत्नाकर ने नृत्य को दो भागों मे विभाजित किया है। प्रथम में तो उन्होंने नाट्य रक्खा है और द्वितीय में नृत्य। नाट्य मे उन्होंने कलाकार के व्यक्तिगत भावों को महत्वपूर्ण माना है, किन्तु नृत्य को केवल आंगिक अभिनय के रूप में ही स्वीकार किया है। वस्तुतः भरत मुनि जैसे प्रकाण्ड विद्वान् ने समस्त नृत्य मुद्राओं को १०८ अंगहारों में विभाजित करके ऐसी स्थिति पैदा कर दी थी कि नाट्य की उल्लिखित मुद्राओं अथवा अंगहारों के और कुछ भी मानना उन्हें स्वीकार नही हो सकता था। आचार्य शारंगधर ने इसका खण्डन किया है और उन्होंने नृत्य को भाव तथा नृत्त को रस-व्यंजना का प्रेषक माना है। उन्होंने नृत्य में शरीर के विभिन्न अंगो के परिचालन को प्रधानता दी है और नृत्त को रस-प्रधान तत्व मानते हुए वाचिक और शारीरिक मुद्राओं के माध्यम से अनुभूति की अभिव्यक्ति का प्रेषक माना है।[५]

व्यक्तिगत रूप से मुझे यह विभाजन उचित नहीं मालूम होता। भाव और रस को इस प्रकार दो विभिन्न वर्गों में बाँट कर देखना, गलत भी लगता है। बिना भाव के रस का बोध होगा कैसे ? रस, भाव की परिणति ही नहीं है, उसका प्रेषक भी है। रस के बिना तो भाव की कल्पना क्षण भर के लिये संभव भी है, किन्तु भाव के बिना रस का अनुभव मुझे गलत जान पड़ता है। हो सकता है यह स्थिति हो भी, किन्तु यह उचित नहीं है। आचार्य शारंगधर का यह विभाजन एकांगी है।

भारतीय आचार्यों ने दो प्रकार के नृत्यों को स्वीकार किया है—प्रथम मार्ग नृत्य तथा दूसरा देशी नृत्य। मार्ग नृत्य शास्त्रीय नृत्य है जो नियमबद्ध एवं आभिजात्य अभिरुचि का परिचायक है। देशी नृत्य का कोई शास्त्रीय रूप नहीं है। इसका स्रोत लोक-भावना है और यह लोकभावाभिव्यक्ति है। मार्ग नृत्य अथवा शास्त्रीय नृत्य के दो भेद बताये गये हैं—ताण्डव और लास्य। ताण्डव नृत्य पुरुष नृत्य है। इसके प्रणेता शिव माने जाते हैं। किंवदन्ती है कि शिव के इस नृत्य की व्याख्या ताण्डव मुनि ने की थी। लास्य नृत्य पार्वती का नृत्य है। इसमें अति कोमल एवं सृजन-प्रेरित भावनाएँ व्यक्त की जाती हैं।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, ताण्डव नृत्य पुरुष नृत्य है। इसके करण और अंगहार कठोर होते हैं। पौरुष, बल और पौरुषपूर्ण भाव-भंगिमाओं की अभिव्यक्ति ही ताण्डव नृत्य का लक्षण है। पुरुष-शक्ति के आह्वान या शक्ति को प्रसन्न करने के लिये अथवा शक्ति के साक्षात्कार के बाद आत्मोपलब्धि के लिये अथवा शक्ति के माध्यम से संसार में शिव की स्थापना के लिये और अशिव के विनाश के लिये वह नृत्य करता है। कोमल और कठोर, ललित एवं पौरुषेय, नारीगत एवं पुरुषगत प्रवृत्तियाँ अलग-अलग रूप में नर-नारी में विद्यमान रहती है। दोनों की अभिव्यक्तियाँ भी भिन्न होती हैं। पुरुष में ओज, साहस, आक्रोश, मेधा, युद्ध, संहार और उसके साथ-साथ सृजन की शक्ति होती है। वह इन स्तरों पर अपने पौरुष के आधार पर क्रियाशील होता है। ठीक इसी प्रकार नारी में शील, संकोच, लज्जा, संग्रह, लास्य, स्नेह आदि कोमल भावनाओं का प्राधान्य होता है। ऐसा नहीं है कि ये भावनाएँ रूढ़ि रूप मे स्त्री-पुरुष में एकदम अलग-अलग ही होती है। संहार, आक्रोश, ओज आदि की भावनाएँ स्त्रियो मे भी होती है लेकिन उनका रूप भिन्न होता है दुर्गा या काली में जो शक्ति की

भावना है उसमें ओज, आक्रोश आदि की कमी नहीं है किन्तु यह भी सत्य है कि उसकी अभिव्यक्ति नारीगत होने के नाते भिन्न है।

यों तो शिव-नृत्य अथवा नटराज-नृत्य के अनेक रूप हैं, किन्तु वास्तव में इस अनेकता में ताण्डव के ही विभिन्न रूप वर्तमान हैं। इस नृत्य का वर्णन हमें 'शैवागमों' में मिलता है। भरत ने इस नृत्य के १०८ रूप किये हैं। आगमों में केवल ६४ रूपों का ही उल्लेख है। भरत मुनि द्वारा किया हुआ विभाजन अधिक आभिजात्य और अभिरुचिपूर्ण प्रतीत होता है। दक्षिण भारत के चिदम्बरम् नामक मन्दिर में तो 'भरत नाट्यशास्त्र' के सूत्रों पर आधारित अनेक मूर्तियाँ हैं और प्रायः सम्पूर्ण १०८ मुद्राओं का समान रूप से चित्रण किया गया है। हमारी कलाओं, विशेषकर वस्तुकला और मूर्तिकला में तो न केवल ताण्डव-मुद्राओं का ही, वरन् सम्पूर्ण 'भरत नाट्यशास्त्र' की परिभाषित मुद्राओं का परिचय मिलता है। हमारे जीवन पर इसका इतना गहरा प्रभाव है कि कभी-कभी जाने-अनजाने रूप में ही वह हमारे संस्कारों के माध्यम से व्यक्त हो जाता है। ऐसा लगता है कि उनमें हमारी आत्मा और सम्पूर्ण जीवन-दृष्टि व्यक्त होती है।

ताण्डव के तीन प्रकार मुख्य रूप से वर्णित हैं। चण्ड उनमें से प्रथम है। चण्ड के अतिरिक्त प्रचण्ड और उचण्ड दो रूप और हैं। इस नृत्य के साथ पखावज का माध्यम मुख्य माना गया है। चण्ड ताण्डव की गति धीमी होती है और वह पखावज की गति के साथ उसके थापों पर चलता है। इस आधार को 'अतीत' कहकर वर्णित किया गया है। इसी प्रकार प्रचण्ड ताण्डव में मध्यम गति के साथ नर्तन होता है। इसके साथ समवर्ग के संगीतवाद्यों का प्रयोग बताया गया है। चण्ड की अपेक्षा इस नृत्य में गति तीव्र होती है और वह उत्कर्ष एवं पौरुष मुद्राओं और भावनाओं पर आधारित होता है। ताण्डव नृत्य की सम्पूर्ण गति उचण्ड नृत्य में अपने चरमोत्कर्ष पर होती है। इसमें गति अत्यन्त तीव्र, द्रुत और तेज होती है। इसमें अनुगत वर्ग के संगीत-वाद्यों की आवश्यकता होती है। भावात्मक अभिव्यक्ति में यह अधिक पौरुषपूर्ण होता है। इसकी गति अत्यन्त तीव्र होती है और इसके सम्पूर्ण करण और अंगहार कठोर होते हैं। संगीत की समस्त मात्राएँ, गति और आरोह-अवरोह भी उसी प्रकार का होता है।

मार्ग और देशी स्तरों पर ताण्डव के रूप मुख्यतः इन तीन सीमाओं में सीमित नहीं रह सके हैं। मार्ग अथवा शास्त्रीय स्तर पर इसके सात भेद और हैं—आनन्द ताण्डव, गौरी या उमा ताण्डव, संध्या ताण्डव, काली ताण्डव या ऊर्ध्व ताण्डव, त्रिपुरा ताण्डव, संहार ताण्डव और मौनी ताण्डव।

(१) आनन्द ताण्डव की मुख्य मुद्रा शाश्वत जीवन-चक्र के समकक्ष की मुद्रा है। आनन्द शब्द से ही प्रतीत होता है कि यह मुद्रा प्रगति, शान्ति और प्रवाह के स्वाभाविक गति की संपोषिका है। यह मुद्रा प्रायः नटराज की मुद्रा में पाई जाती है। इसकी सर्वाधिक प्रामाणिक मुद्रा चिदम्बरम् के मन्दिर में स्थापित मूर्ति है। इसे कभी-कभी गौरी मुद्रा भी कहते हैं, क्योंकि शिव के इस व्यास मुद्रा को ही पार्वती या गौरी सदा देखती रहती हैं। यही रूप नका स्थायी रूप है

(२) **गौरी-ताण्डव** का जो उल्लेख रुद्र-संहिता में मिलता है, उससे यह स्पष्ट पता चलता है कि यह शिव और पार्वती की प्रणय-लीला से सम्बन्धित नृत्य है। 'कुमारसंभव' में स्पष्टतया इस प्रकार के नृत्य का वर्णन तो नहीं मिलता, किन्तु ऐसा लगता है कि इस नृत्य की मुद्रा और इसकी मनःस्थितियों का प्रभाव कवि कालिदास पर काफ़ी रहा है। 'गौरी ताण्डव' पुरुष और प्रकृति, नर और नारी के प्रणय को व्यक्त करने के लिये ही किया गया होगा। गौरी के समक्ष शंकर का नृत्य इसी भाव का परिचायक है।

(३) **सन्ध्या-ताण्डव** की मुद्रा शिव की उस समय की मुद्रा है, जब सन्ध्या के चार युग तक कठिन तपस्या करने के बाद शिव ने प्रकट होकर उसे दर्शन दिया था। संध्या से प्रसन्न होकर शंकर ने जिस रूप में अपने को प्रकट किया था, उसका वर्णन 'शिव पुराण' में इस प्रकार दिया गया है—"उस तप से संतुष्ट होकर महादेव जी प्रसन्न हुए। बाहर-भीतर और आकाश में अपना शरीर दिखाकर जिस रूप में संध्या शिव का ध्यान कर रही थी, उसी रूप में प्रकट हो गये। मन से चिन्तित, प्रसन्न मुख, शांत चित्त शंकर जी को आगे देख संध्या बड़ी प्रसन्न हुई।"—(शिवपुराण, रुद्र संहिता, सृष्टि खण्ड ५, ६, ७, ८, ६)। इस वर्णन से ही स्पष्ट हो जाता है कि यदि गौरीताण्डव में पार्वती उस आनन्द मुद्रा के साथ थी, तो सध्याताण्डव में चिन्तित मन संध्या उस मुद्रा को देख रही थी। जिस रूप को धारण करके शंकर प्रकट हुए थे, वह समष्टि रूप में व्याप्त एक प्रकार का विराट् रूप था।

(४) **काली ताण्डव अथवा** ऊर्ध्व ताण्डव शिव की आक्रोशपूर्ण मुद्रा है। प्रायः लोग इसी मुद्रा को संहार-मुद्रा के रूप में स्वीकार करते हैं जो ग़लत लगता है। डॉ० राघवन ने इस मुद्रा को ही संहार-मुद्रा मान लिया है, किन्तु ललाट, तिलक एवं कर्ण के उपभेद से ऐसा लगता है कि शिव की यह मुद्रा संहार-मुद्रा न होकर एक प्रकार से आक्रोश की मुद्रा है। ऐसा कहा जाता है कि एक बार काली और शिव में नृत्य की प्रतिद्वन्द्विता हो गई थी। फलस्वरूप शिव ने नृत्य करके काली को परास्त कर दिया था। यह मुद्रा उसी का परिचायक है।

(५) **त्रिपुरा-ताण्डव** त्रिपुरासुर के वध के समय शिव के क्रोध, तत्परता, लाघव और अभिमान की मुद्रा है। यह नृत्य उसी भाव की अभिव्यक्ति का प्रमाण है।

(६) **संहार-ताण्डव** नृत्य से कई पौराणिक कथाएँ सम्बद्ध हैं। विद्वानों का मत है कि सती के यक्ष-यज्ञ में आत्मविसर्जन कर देने के बाद शंकर उनके शव को लेकर संहार-नृत्य करने लगे थे। उस समय सारी सृष्टि में प्रलय मच गया था। कुछ विद्वानों का कहना है कि सृष्टि के प्रलय के समय शिव ने इसी नृत्य को प्रस्तुत किया था और सारी पृथ्वी, सारा वातावरण, सारी सृष्टि क्षार-क्षार हो गई थी।

(७) **मौनी ताण्डव** का उल्लेख कहीं भी विस्तृत रूप में नहीं मिलता; किन्तु जैसा कि मुद्रा के नाम से स्पष्ट है, यह मुद्रा एक प्रकार की मौन-मुद्रा है। यह चिन्तन की भी मुद्रा हो सकती है।

ताण्डव के इतने भेदों के सम्बन्ध में सबसे महत्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय बात यह है कि यदि हम मुद्राओं को इनसे सम्बन्धित किंवदंतियों से थोड़ा हटाकर देखें, तो हम पायेंगे कि

इनकी पृष्ठभूमि म उन समस्त भावो का सटीक और सफल अभिव्यक्ति ... है ... सब समय समय पर जीवन के व्यावहारिक क्षेत्रो म भागते है ये मुद्राएं इतना म ... सहज एवं प्राणमय हैं कि देवत्व के बावजूद इनका प्रभाव हमारे जीवन म स्पष्ट ही देखा जा सकता है। स्पन्दन, लास्य और भावात्मक संश्लिष्टता में ये सभी माध्यम इतने ... और कलात्मक हैं कि उनकी प्रामाणिकता बिना, इन पौराणिक किंवदंतियों के भी स्वयं-सिद्ध है।

लास्य नृत्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भी एक कथा है। पार्वती से विवाह करने के पश्चात् शंकर ने पार्वती से नृत्य करने के लिए कहा। उन्होंने पार्वती को बताया कि चूं... ताण्डव नृत्य कठोरतम और शुष्क है, इसलिये वह कोमलतम जीवन की रागात्मक स्थितियों की अभिव्यक्ति भी देखना चाहते हैं। शिव की इस प्रार्थना को स्वीकार करके पार्वती ने जो नृत्य किया, वही लास्य नृत्य के नाम के प्रसिद्ध हुआ। यह बड़ा ही कोमल, रागात्मक और मधुर भावनाओं का द्योतक है। कहते हैं, पार्वती से इस नृत्य को उषा ने सीखा और उषा से द्वारिका की गणिकाओं और अप्सराओं ने सीखा। और फिर, स्त्रियों के नृत्य के रूप में यह विकसित हुआ।

लास्य नृत्य की मुख्य विशेषता यह है कि यह नारी-सुलभ प्रकृति के अनुकूल लज्जा, शील, संकोच, उन्माद आदि भावों के साथ मधुर एवं नितान्त कोमल भावनाओं एवं रागात्मक प्रवृत्तियों का प्रतिनिधि नृत्य है। आभिजात्य मानव-भावनाओं के प्रतीक इस नृत्य में ... मानवीय संवेदनाओं, प्रणय, वियोग एवं संयोग के करुण एवं लास्य प्रधान अभिव्यक्तियों को महत्वपूर्ण ढंग से रखने की चेष्टा की गई है। यह चेष्टा आरोपित न होकर उन मानवीय संवेदनाओं की स्वाभाविक अभिव्यक्ति है जो हमारे अन्तर्मन और बाह्य जगत् में उत्पन्न होती हैं और शरीर-मुद्राओं के माध्यम से अभिव्यक्ति पाती है। निष्कपट किन्तु आभिजात्य, ... किन्तु मानवीय, उदात्त किन्तु आतंकरहित सौन्दर्य की आंशिक अभिव्यक्ति ही लास्य नृत्य की विशेषता है।

लास्य नृत्य के चार भेद माने गये है लता, पिण्डी, वेध्यक और श्रृंखला। लास्य के इन सभी नृत्यों में नारी-सुलभ कोमलता पर विशेष आग्रह है। सौन्दर्य और सुषमा के साथ स्त्री का पुरुष-प्रणय भी इसका उद्देश्य है। प्रणय-भावनाओं के साथ ही नारी-सुलभ मनोभावों जैसे संकोच, लज्जा आदि का नितान्त शीलपूर्ण अभिनय इस नृत्य में बड़ी सफलता के साथ व्यक्त किया जाता है। पार्वती के इस लास्य नृत्य को चित्रों या मूर्तियों में बाँधने का प्रयत्न लगभग नहीं के बराबर किया गया। पार्वती द्वारा नृत्य-मुद्रा की केवल एक कांस-प्रतिमा कुछ वर्ष पूर्व मिली है।

लास्य नृत्य अन्य देशों में भी नारी-नृत्य के रूप में है, किन्तु जिस शान्ति और शील का वातावरण इस भारतीय नृत्य में है, शायद वह और कहीं नहीं है। इसका एक मुख्य कारण यह रहा है कि भारतीय परम्परा में अधिकांशतः स्त्री द्वारा पुरुष-प्रेम को महत्व दिया गया है। प्रणय का वह रूप भारत में नहीं रहा जो कि पाश्चात्य देशों में पाया जाता है। सीता पार्वती उर्वशी दमयंती आदि की कथाएँ इसकी ज्वलन्त उदाहरण हैं

पुरुष म चेतना जागृत करने को उसकी चेष्टाओं और क्रियाओं को जागरूक बना की क्षमता प्रकृति में रही है। प्रकृति ने सदैव पुरुष शक्ति को विकसित करके उसे सक्रिय बनाने में योग दिया है। लास्य नृत्य, शक्ति के उसी आत्मनिश्चय का परिचायक है। उदात्त सौन्दर्य इस लास्य का मुख अंग है। राग और कोमल भाव इसके मुख्य तत्व हैं। जीवन के संघर्ष, उत्कर्ष, आक्रोश और संहार के बीच पुरुष की कल्पना, सृजन-शक्ति, संग्रह-प्रवृत्ति आदि को विकसित करने में प्रकृति उत्तेजना का नहीं, मधुर संचार का काम करती है। सौन्दर्य की स्फूर्ति और रसानुकूल स्पन्दन के लिये, सृजनोपलब्धि और पुरुष के पौरुष की उद्भावना के लिये, सौन्दर्य, सृजन और काम के लिये स्त्री का यह नृत्य न केवल मनोवैज्ञानिक दृष्टि से पूर्ण है, वरन् सृष्टि में व्याप्त नारी-तत्व का उदात्त रूप है।

भारतीय दृष्टि से अनन्तता, नित्यता, निरन्तर सृजनशीलता आदि सौन्दर्य के ऐसे पक्ष हैं जो मनुष्य की संवेदनावाहक चेतना को नित्यप्रति अपनी उस अनन्त लय और गति का परिचय देते हैं जो समस्त सृष्टि में समान रूप से व्याप्त हैं। शिव-ताण्डव की पीठिका नटराज की मूर्ति की पृष्ठभूमि में चक्र उसी अनन्त गति, प्रवाह, नित्य-निरन्तर सृजन की कल्पना का प्रतीक है। सृष्टि की क्रियाशील शक्तियाँ जिस प्रकार सृजन और संहार में अनन्त है, उसी प्रकार हमारी चेतना भी नित्य, निरन्तर और अनन्त है। भारतीय नृत्य में ताण्डव और लास्य के जितने भी रूप और प्रारूप हैं, वह हमारे भारतीय जीवन की इसी दृष्टि का समर्थन करते हैं तथा हमें उस उदात्त तत्त्व की ओर प्रेरित करते हैं, जिसके विराट् रूप मे एक साथ अनन्त निर्माण और संहार के चित्र बनते-बिगड़ते रहते हैं। इस महान्, व्यापक सृष्टि को देख कर हमें सदैव उस गति का भास होता रहता है।

लय, विलय, परिवर्तन और प्रलय की कल्पना तथा आंतरिक और बाह्य जीवन का अनुभव ही नृत्य की आत्मा है। नृत्य, गति और स्फूर्ति, लास्य और संहार की मूल भावना का साक्षात्कार कराता है। एक ओर वह यथार्थ, कटु, पार्थिव जीवन से सम्बद्ध है और दूसरी ओर वह उस सौन्दर्य से सम्बद्ध है जो हमारे होने और उत्कर्ष के साथ-साथ चिर प्रवाहमय है। इन दोनों का साक्षात्कार हम साथ-साथ करते हैं। जीवन की इन दोनो स्थितियों के बीच वह तमाम गतियाँ प्रवाहित हैं जिनसे हमारा विवेक, हमारी भावना, हमारी सृजन-कामना, हमारी दृष्टि पलती-पनपती है। भारतीय नृत्य में जीवन के उन सभी तत्त्वों का समान रूप से समावेश और अंकन हुआ है।

गरिमा, महिमा, गति, संगति और सापेक्ष संतुलन, सौन्दर्य के बाह्य और आन्तरिक गठन के मूल तत्व हैं। सौन्दर्य में जो सौम्य है, वह उत्कर्ष का भी स्रोत है, जो शान्त है, वही अनन्त गतियों को जन्म भी देता है, जो अखण्ड है, वही संगति की प्यास और अपने सापेक्ष संतुलन की जिज्ञासा में गतिमान् भी होता है। अखण्ड शिव, अखण्ड शक्ति दोनों एक-दूसरे की गरिमा, महिमा, गति, संगति और सापेक्ष संतुलन की जिज्ञासा बन कर उद्भूत होते है। शिव की कल्पना के साथ संहार की कल्पना और उस कल्पना मे उसके आन्तरिक दर्शन और बाह्य आंगिक अभिनय में नृत्य करना केवल मनोरंजन नहीं रह जाता और यदि मनोरजन होता भी है तो यह मनोरजन विशि॰ है, वह मात्र सतही और आमोद प्रम द के

सौन्दर्य में आनन्द की कल्पना जो आन्तरिक है, वह उसके सूक्ष्म दर्शन, अनुभव और अभिव्यक्ति में परिलक्षित होती है। शरीर में स्वेद, कम्प आदि उस आनन्द की स्थिति की मूक व्यंजनाएँ हैं। भारतीय नृत्य में मन की स्थिति का विश्लेषण अंगहार और करणों के माध्यम एवं मुद्राओं के आधार पर बड़े सफल ढंग से किया गया है। भारतीय नृत्यकला में उन समस्त रागात्मक स्थितियों को सौन्दर्यात्मक ढंग से व्यक्त किया गया है जिनकी अभिव्यक्ति हमारे स्नायु और स्थूल शरीर के स्फुरण, कम्पन और स्पन्दनों के माध्यम से होती है।

भारतीय नृत्य जितना ही स्थूल है, उतना ही सूक्ष्म भी। माया और आनन्द इन दोनों के विरोध में या सम्पर्क में, हमारी रसग्राही चेतना जिस झिलमिली का अनुभव करती है या जिस निरन्तर आलोक की धूप-छाँह झेलती है, वह स्वयं एक महान् नृत्य है जिसमें सघर्षरत मानव-चेतना का प्रत्येक स्पन्दन भाषा बन कर मुखर होता है। यह भाषा अंगों की भाषा होती है, यह भाषा स्पन्दनों की भाषा होती है, यह भाषा मुद्राओं की भाषा होती है। नृत्य में इन मुद्राओं और स्पन्दनों को सार्थक और सजीव रूप में प्रेषणीय बनाने की समस्त विधियाँ और उनका सफल अभिनय हमारी चिन्तन-परम्परा और सौन्दर्य-दृष्टि की परिचायक ही नहीं, जागरूक परिचायक है। इसमें संदेह नहीं कि जिस रस और भाव के सिद्धान्त पर 'भरत नाट्यशास्त्र' और उसी से प्रेरित अन्य देशी नृत्यों की उत्पत्ति हुई है, उनमें बाह्य रूप-भेद भले ही हो, आत्मा का अन्तर नहीं है।

भारतीय नृत्यकला को सौन्दर्यपरक दृष्टि से देखने पर हमें लगता है कि उसमें भाव, अनुभूति, रस, अभिव्यक्ति और अभिनय सभी एकीकृत हो गये हैं। यद्यपि भारतीय नृत्यकला में कहीं न कहीं उस आदिस्रोत धार्मिक प्रवृत्ति का लक्षण मिलता है, किन्तु जहाँ तक इनके अभिनय और प्रस्तुतीकरण का सम्बन्ध है, उसमें वे नितान्त धार्मिक तत्व भी अधिक परिष्कृत और उदात्त रूप में प्रस्तुत होते दीख पड़ते हैं। जीवन में व्याप्त सौन्दर्य, अनुराग, अनुभूति और अभिव्यक्ति में हमारी किंवदंतियाँ उतनी महत्वपूर्ण नहीं लगतीं, जितनी कि अभिनय और अभिव्यक्ति की दृष्टि से इन नृत्यों की सजीव गतिमय मुद्राओं द्वारा स्पष्ट और हृदयग्राही मानवीय संवेदना के तत्व उनमें स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित होते हैं। ऐसा मैं इसलिये कहता हूँ, क्योंकि यह स्पष्ट देखा जा सकता है कि प्रायः भारतीय कला के प्रत्येक अंग में, किंवदंती की इस रूढ़िवादिता से मुक्ति लेने का सहज प्रयास दीखता है। इसीलिये उसमें धार्मिकता के साथ-साथ वह मानवीय पक्ष अधिक सबल और सचेष्ट होकर उभरता है और वहाँ उसका उदात्तीकरण, संवर्धन और संतुलन बिना किसी अतिरेक या वासना उद्दीप्त किये सौन्दर्य-सृजन करने में सफल हो जाता है।

किसी भी शास्त्रीय कला में सौम्य और उदात्त बनाने की प्रवृत्ति मानवीय संवेदना की गहराई से आती है। शास्त्रीय कला में चंचल, अमर्यादित और उद्विग्न बनाने की प्रवृत्ति नहीं होती। वह गहराई में जीवन की चेतना को छूती है और हमारी संवेदनाओं को एक ऐसा सस्पर्श देती है कि स्वतः वह स्थिति ही आत्मोपलब्धि सी लगने लगती है। यद्यपि कहा गया है कि नृत्य की उत्पत्ति स्वत देवताओं की क्रिया से हुई है और वे क्रियाएँ सृष्टि स्थिति

सचार, तिरोभाव और अनुग्रह से विकसित हुई हैं। किवदन्ती जो भी हो, यह इतनी मानवीय है और इसे हम लोग इसे नित्यप्रति के जीवन में इतना भोगते और सहते हैं कि हम स्वयं इन्हीं पाँच वर्गों में बँधे हुए से लगते हैं।

जीवन का यह रसानुभव, सह-अनुभूति और सहभोग की कामना, हमारी अनुभूतियों का हस्तान्तरण करने में बड़ा योग देती है। इसमें सन्देह नहीं कि अन्य माध्यमों से कहीं अधिक सशक्त परम्परा भारतीय नृत्य और नाट्य में निहित हैं।

सन्दर्भ-सङ्केत

(१) क्वचिद् धर्मः क्वचित् क्रीड़ा क्वचिदर्थः क्वचिद्दमः।
क्वचिद्धास्यम् क्वचिद्युद्धं क्वचित्कामः क्वचिद्वधः॥

(२) The art of dancing may be defined apart from the conception of beauty as an activity arising even in the animal kingdom springing from a saxual desire and accompanied by a pleasurable excitment of nervous system.—Grant Allen.

(३) देखिये, वात्स्यान कामसूत्र : आदिमोऽध्याय ३, पृ० ३४।

(४) नाना भावोपसम्पन्नम् नानावस्थान्तरात्मकम्।
लोकवृत्तानुकरणं नाट्य मे तन्मया कृतम्॥

(५) "Sarangdhar writes in his work Bhava Prakash: Nirtya eminates from expression of Bhava or mood, while Nritta is an expression of Ras or emotion. Mood is expressed through the vehicles of body and its several limbs and Ras through a continued speech or dialogue, normal voice or through physical indication"- The Art of Hindu dance.

एक

वैज्ञानिक पाठ-सम्पादन और अर्थ-समस्या

कन्हैया सिंह

हिन्दुस्तानी भाग २६, अंक १-२ में श्री किशोरीलाल का 'प्राचीन हिन्दी काव्य की अर्थ-समस्या' शीर्षक लेख छपा है। प्रसङ्गतः उसमें पाठ-सम्पादन के बारे में लिखा गया है— "शब्द और अर्थ को दृष्टि में रखकर सम्प्रति प्राचीन हिन्दी काव्य-ग्रन्थों का सम्पादन दो दृष्टियों से हो रहा है—(१) वैज्ञानिक सम्पादन तथा (२) साहित्यिक सम्पादन। वैज्ञानिक पाठ-शोध में प्रधानता शब्द की होती है और साहित्यिक सम्पादन में अर्थ की। वैज्ञानिक पाठ-शोधन का कार्य श्लाघ्य होते हुए भी मूल अर्थोपलब्धि में प्रायः सहायक नहीं हो सका है।" आगे पुनः आप लिखते है—"वास्तव में वैज्ञानिक पाठ-शोध की निर्जीव प्रणाली प्राचीन-काव्य की अर्थ-गुत्थियों को खोलने में अधिक सफल नहीं हुई।" हिन्दुस्तानी के इसी अङ्क में श्री सुधाकर पाण्डेय द्वारा सम्पादित 'हिततरंगिनी' की समीक्षा लिखते हुए श्री हरिमोहन मालवीय ने लिखा है कि "श्री सुधाकर पाण्डेय द्वारा सम्पादित 'हिततरंगिनी' का सम्पादन पाठानुसन्धान की विधियों के आधार पर नहीं हुआ है जिसके कारण इस प्रयत्न को सन्तोष-जनक नहीं कहा जा सकता।" अतः इस प्रश्न पर कुछ विचार करना आवश्यक है।

हिन्दी में सम्पादन की दो विधियाँ हैं—(१) वैज्ञानिक सम्पादन-विधि (२) निरंकुश सम्पादन-विधि। साहित्यिक सम्पादन का तात्पर्य यदि अर्थ के आधार पर पाठ-निर्णय करना है तो अर्थ के आधार पर पाठ-निर्णय आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र भी चाहते हैं, पं० जवाहरलाल चतुर्वेदी और पं० किशोरीलाल वाजपेयी भी। पर सबकी अपनी-अपनी शैली है। इस सम्बन्ध मे साहित्यिक-संपादन के आचार्य श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र द्वारा सम्पादित रामचरित मानस के काशिराज संस्करण पर आचार्य किशोरीदास वाजपेयी का लेख रामचरित मानस

का 'काशिराज संस्करण' द्रष्टव्य है।[१] वाजपेयी जी के लेख पर मेरा प्रत्युत्तर भी देखा जाय तो अच्छा है।[२] समझ में आ सकेगा कि साहित्यिक सम्पादन (?) से अर्थ की समस्या निष्कण्टक हो जाएगी अथवा नहीं। विशेप रूप से निम्नलिखित प्रसङ्गों के पाठ और अर्थ पर वाजपेयी जी की आपत्तियाँ देखें।[3]

(१) पायस पालिअहि अति अनुरागा। होइ निरामिष कबहुँ कि कागा॥
(२) चले मत्त गज घटा विराजी। मनहु सुभग सावन घनराजी॥

वैज्ञानिक सम्पादन की शास्त्रीय विधि के अतिरिक्त जो भी सम्पादन की प्रणालियाँ है, उनमें रचयिता के मूलपाठ की प्राप्ति में बाधा रहती है। तथाकथित साहित्यिक सम्पादन-प्रणाली में अनेक उपलब्ध पाठों में जिस पाठ का सर्वोत्तम अर्थ हो, उसे स्वीकार किया जाता रहा है। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र की साहित्यिक सम्पादन विधि क्या है, यह उन्हीं के शब्दों में—"हिन्दी में प्राचीन ग्रन्थों के सम्पादन की साहित्यिक सरणि के प्रवर्तक काशी विश्वविद्यालय के दिवङ्गत प्राध्यापक लाला भगवान दीन, पं० रामचन्द्र शुक्ल और बाबू श्यामसुन्दर दास थे।"[४] इन सभी विद्वानों ने इच्छित अर्थ-प्राप्ति के लिए हस्तलेखों की उपेक्षा करके अपना मनगढ़न्त पाठ स्थान-स्थान पर प्रस्तुत किया। जायसी-ग्रन्थावली में 'पद्मावत' के पाठ में शुक्ल जी ने बहुधा ऐसा किया। 'चिरहँटा' और 'छरहटा' आदि शब्दों को लेकर इस सम्बन्ध में विवादों का एक इतिहास ही बन गया। वैज्ञानिक सम्पादन की आधार-शिला है हस्तलिखित ग्रन्थों का साक्ष्य-ग्रहण और पाठचयन में निरंकुशता का परित्याग। इस दृष्टि से हिन्दी मे वैज्ञानिक सम्पादन के प्रवर्तक स्व० जगन्नाथ दास 'रत्नाकर' थे। इसी अर्थ में डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने इनके द्वारा सम्पादित 'विहारी-रत्नाकर' को हिन्दी का प्रथम वैज्ञानिक सम्पादन कहा है। अब प्रश्न यह है कि 'मूल अर्थोपलब्धि' में साहित्यिक सरणि के सम्पादक लाला भगवान दीन की 'बिहारी-बोधिनी' अधिक समर्थ है या रत्नाकर जी का 'बिहारी-रत्नाकर'। यही प्रश्न शुक्ल जी सम्पादित 'पद्मावत' और डॉ० माताप्रसाद गुप्त सम्पादित 'पद्मावत' तथा डॉ० श्यामसुन्दर दास सम्पादित 'कबीर-ग्रन्थावली' और डॉ० पारसनाथ तिवारी सम्पादित 'कबीर-ग्रन्थावली' के सम्बन्ध में किया जा सकता है।

वैज्ञानिक विधि के सम्पादनों से अर्थोपलब्धि में कितनी सहायता प्राप्त हुई है, इसे 'पद्मावत' के पाठ से ही समझा जा सकता है। 'पद्मावत' के श्रेष्ठ भाष्यकार डॉ० वासुदेव शरण जी अग्रवाल ने जब 'पद्मावत' की अर्थोपलब्धि का प्रयत्न किया तो उन्होंने पूर्ववर्ती सभी सम्पादनों को देखकर उसके वैज्ञानिक सम्पादन के सम्बन्ध में यह मत व्यक्त किया कि "जायसी के काव्य और अर्थों का इस प्रकार विचार करते हुए मेरा यह सौभाग्य था कि मेरे कार्यारम्भ करने के एक वर्ष पूर्व सन् १९५२ में श्री माताप्रसाद गुप्त ने 'पद्मावत' के मूलपाठ का एक संशोधित संस्करण हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद द्वारा प्रकाशित कराया था। मुझे यह कहते हुए प्रसन्नता है कि गुप्त जी ने इस संस्करण के तैयार करने में बहुत ही परिश्रम किया है। यदि यह संस्करण मुझे उपलब्ध न होता तो जायसी के मूल अर्थों तक पहुँचने का मार्ग मुझे कभी मिल सकता इसमें सन्देह है 'पद्मावत' की इस टीका में कवि के मूल अर्थों

तक पहुँचने में जो थोड़ी बहुत सफलता मुझे मिली है, उस श्रेय में श्री माताप्रसाद गुप्त के उक्त जायसी-संस्करण को मैं भाग देना चाहता हूँ। 'पद्मावत' के मूलपाठ पर जमी हुई काई को पाठ-संशोधन की वैज्ञानिक युक्ति से हटाकर श्री माताप्रसाद जी गुप्त ने हिन्दी के क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य किया है।''[५] उनका यह भी कहना है कि "मेरी मान्यता है कि मध्यकालीन हिन्दी के प्रायः सभी ग्रन्थों को इसी पद्धति से सम्पादित करने के बाद ही हम उनका पूरा साहित्यिक फल प्राप्त हो सकेगा। चन्द बरदायी, विद्यापति, सूर आदि महाकवियों के ग्रन्थ ऐसे ही संशोधित संस्करणों में अपना वास्तविक साहित्यिक तेज प्राप्त कर सकेंगे।''[६]

'मूल अर्थोपलब्धि' के प्रयासी एक विद्वान् का कथन तो इस प्रकार है और श्री किशोरी लाल जी के लिए 'मूल अर्थोपलब्धि' में यह विधि सहायक नहीं है। नवीन लेख में कहा गया है कि "अभी वैज्ञानिक प्रणाली से सुसम्पादित जायसीकृत 'पद्मावत' की टीका लिखते समय कई शब्दों के पाठ पर पुनर्विचार किया गया और अर्थ-सङ्गति की दृष्टि से अन्य पाठों को स्वीकार किया गया।" संकेत डॉ० माताप्रसाद गुप्त द्वारा सम्पादित 'पद्मावत' के सटीक संस्करण की ओर है। वैज्ञानिक सम्पादन पुनर्विचार के लिए सदैव मार्ग उन्मुक्त रखता है। पुनर्विचार को ही वैज्ञानिक प्रामाणिकता कहते हैं। वैज्ञानिक विधि से 'पद्मावत' (जायसी ग्रन्थावली के अङ्ग रूप में) सन् १९५२ में सम्पादित हुआ था। उसके ११ वर्ष बाद सन् १९६३ में उसका नया सम्पादन हुआ। इन वर्षों में उपलब्ध सामग्रियों और सुझावों के आधार पर पुनर्विचार ही वैज्ञानिक है। अपनी अहमन्यता से असत्य पर भी दृढ़ रहना सर्वथा अवैज्ञानिक होता। पर यह पुनर्विचार केवल अर्थ की दृष्टि से नहीं हुआ है, वरन् पाठ और अर्थ दोनों ही दृष्टियों से हुआ है। वैज्ञानिक पाठ-सम्पादन, रचयिता के मूलपाठ के सर्वाधिक निकट पहुँचने का दावा करता है। यह कोई छूमन्तर नहीं है जो मूलपाठ ही प्रस्तुत करा देता है।

यह कहना कि "वैज्ञानिक पाठ-शोध में प्रधानता शब्द की होती है और साहित्यिक सम्पादन में अर्थ की" इन दोनों ही शैलियों के अज्ञान का द्योतक है। यह शब्द और अर्थ का जाल भी आचार्य विश्वनाथप्रसाद जी का भ्रम-जाल है। उनका कहना है कि "वैज्ञानिक प्रक्रिया शब्द पर अधिक ध्यान देती है और साहित्यिक प्रक्रिया शब्द पर ध्यान देते हुए भी अर्थ पर विशेष दृष्टि रखती है। साहित्य, शब्द और अर्थ का सम्पृक्त रूप होता है, अतः शब्द और अर्थ दोनों पर समान दृष्टि ही प्राचीन ग्रन्थों के सम्पादन में उपयोगी होती है।''[७] इस सम्बन्ध में सन् १९६२ में ही मैं अपने ग्रन्थ 'पाठ-सम्पादन के सिद्धान्त' के 'दृष्टिकोण' में लिख चुका हूँ कि "इस सम्बन्ध में इतना ही निवेदन पर्याप्त है कि वैज्ञानिक सरणि में 'पाठ-चयन' और 'पाठ-सुधार' दोनों ही दशाओं में लेखानुसंगति (शब्द) और विषयानुसंगति (अर्थ) पर पूरा-पूरा बल दिया जाता है। निरर्थक पाठ तो पाठ-भ्रष्टता का प्रथम प्रमाण माना जाता है, पर उस निरर्थकता का कारण पाठ के अन्तर्गत ही ढूँढ़कर उसका परिहार किया जाता है।''[८]

पाठ-निर्णय के समय वैज्ञानिक पाठ-शोधकर्त्ता उसके अर्थ के सम्बन्ध में पूर्ण जागरूक रहता है। प्रतियों में प्राप्त पाठ और उनके अर्थ के जिस समन्वय की बात मिश्र जी कहते हैं, वह वैज्ञानिक सम्पादन का मेरुदण्ड है। वैज्ञानिक सम्पादन की विधि से पाठ-चयन करते समय को दो सङ्गतियों का ध्यान रखना होता है पाठानुसगति और

अर्थानुसङ्गति। यह वैज्ञानिक विधि इस सम्बन्ध में क्या कहती है, इसे देखिए—"इस विधि के प्रयोग के समय हमें विभिन्न शाखाओं में प्राप्त होने वाले पाठों की समानता मात्र का ही ध्यान नहीं देना होता है, प्रत्युत् उस पाठ की सङ्गति के साथ उसकी सङ्गति, अर्थ और प्रसग आदि की दृष्टि से भी ठीक बैठनी चाहिए।"[९]

किसी भी प्रकार प्रतियों के साक्ष्य पर सार्थक और प्रसङ्गानुकूल पाठ न मिलने पर सम्पादक 'पाठ-सुधार' करने को बाध्य होता है। इस सम्बन्ध में वैज्ञानिक पद्धति में सुधार के दो आधार माने जाते हैं— अन्तरङ्ग सम्भावनाएँ (Intrinsic Probabilities) और वहिरङ्ग सम्भावनाएँ (Extrinsic Probabilities)। वहिरङ्ग सम्भावनाएँ पाठ-लेखन और पाठ-विकृति सम्बन्धी सम्भावनाओं पर विचार करके विकृत पाठ के सुधार का निर्देश करती हैं और जहाँ इस प्रकार की कोई सम्भावना न हो, फिर भी पाठ अशुद्ध लगे वहाँ अन्तरङ्ग सम्भावनाओं (प्रसङ्ग, अर्थ आदि) की दृष्टि से पाठ-सुधार किया जा सकता है। वैज्ञानिक पाठ के एक अधिकारी विद्वान् श्री जे० पी० पोस्टगेट का कहना है—

"Many times in the course of investigations, the critic will be confronted with the problems which cannot be resolved by consideration of transcriptional or documental probabilities. This leads us to consider intrinsic probabilities. By this is meant the likelihood that the writer of our text would at a time of writing have written, or not even written, a particular thing....A reading may be impugned on a number of grounds : that it gives no sense : that it involves usages or an idiom not current at the assumed time of writing or foreign to a reputed author......"[१०]

पोस्टगेट का कथन है कि किसी विदेशी या अपरिचित भाषा का पाठ-सम्पादन करते समय उसकी टीकाओं की भी सहायता ली जानी चाहिए। इस सम्बन्ध में 'कम्पैनियन टू कलैसिकल स्टडीज़' के लेखक हॉल तथा 'इन्ट्रोडक्शन टू इण्डियन टेक्सचुवल क्रिटिसिज़्म' के लेखक डॉ० एस० एम० कत्रे भी एकमत है और अर्थानुसंगति के लिये पाठ-सुधार की स्वीकृति देते हैं। एक अच्छे सम्पादक को लिपि-शास्त्री ही नहीं होना चाहिए बल्कि उसे अन्तरङ्ग और वहिरङ्ग दोनों सम्भावनाओं का किस प्रकार ध्यान रखना चाहिए और कैसे दोनो का सयोजन करना चाहिए, यह कत्रे महोदय के ही शब्दों में देखें :—

"An emendation that violates documentary probability while it satisfies intrinsic probability, may possibly be true, though we have no right to presume its truth ; an emendation on the otherhanc which satisfies documentary probability and yet violates intrinsic probability, is wholly valueless. Hence the dictum that a good critic must be something more than a mere palaeographer."[११]

मैं समझता हूँ कि इस विषय का भ्रम दूर हो जाना चाहिए कि वैज्ञानिक संपादन शब्द पर विशेष बल देता है अर्थ पर नहीं हाँ, अर्थ की दौड़ में कभी-कभी हस्तलेखों की मर्यादा का अतिक्रमण करके कुछ का कुछ कर देते हैं की दिशा

अनुभव रखने वाले इसे जानते है इनमे सावधान रहना आवश्यक होता है पोस्ट ने इस सम्बन्ध मे कहा है

"But this method of representation is very imperfect one, we may easily impose ourselves and others by strained and ambiguous renderings. A more subtle danger is in the case of dead languages, is that of taking a sense which satisfies us but not the ancient people"

पाठानुसन्धान, पाठ के अर्थ पर ध्यान देता है, पर मनमाने अर्थ के लिए पाठ को विकृत करने की स्वीकृति नहीं देता। योरोप में सम्पादकों का एक रूढ़िवादी वर्ग है जो प्राचीन परम्परा से उपलब्ध पाठ को, चाहे वह प्रतिलिपियों की एक शाखा का ही पाठ क्यों न हो, सही मानता है और खींच तान कर उसी में से अपना अभीप्सित अर्थ निकालता है। ऐसे लोगों का जिक्र करते हुए 'ओल्ड टेस्टामेण्ट' के सम्पादकों ने कहा है कि ओल्ड टेस्टामेण्ट का जब आलोचनात्मक संस्करण निकला तो प्राचीन अवैज्ञानिक पाठ ने प्रतिक्रिया की और इस प्रतिक्रिया को अतर्कपूर्ण और अशक्त अर्थ-परम्पराओं से बल मिला।[१५] हिन्दी में ऐसे लोगों की भी कमी नहीं है। पर साथ ही ऐसे लोग भी हैं जो 'परकाय-प्रवेश विद्या' जानते हे और मृत मूल लेखक की काया में प्रविष्ट होकर उसके मनोभाव को समझ जाते है कि वह क्या लिखना चाहता था।

अब एक प्रश्न और उठता है कि साहित्यिक प्रणाली से सम्पादक प्रक्षेपों का निराकरण कैसे करेंगे? वैज्ञानिक विधि ने तो अनुभव के आधार पर खरा उतरा हुआ एक शास्त्र दिया है जिससे हम प्रक्षेपों का निराकरण कर लेते हैं। साहित्यिक पद्धति यदि स्वरुचिप्रेरित ढङ्ग से अर्थोपलब्धि के इन्द्रजाल में फँसी धोखा खाती रही तो उसे प्रक्षेप में भी प्रसङ्ग-पूर्ति और सुन्दर अर्थ मिलेंगे। प्रक्षेपकर्त्ता का उद्देश्य भी यही होता है कि मूल पाठ को अधिक सुगठित और उत्कृष्ट रूप दिया जाय। जहाँ उपलब्ध पाठ अर्थ न देता हो वहाँ तो सम्भाव्य पाठ का ग्रहण समझ में आ सकता है, पर जहाँ उपलब्ध पाठों से अर्थ निकल आ रहा हो, वहाँ उससे अच्छे पाठ की सुखद कल्पना निरंकुशता है। 'नूत' को 'चूत' समझना श्री किशोरी लाल जी और 'कुछ विद्वानो' का अधिकार क्षेत्र है जिन्हें 'न' का 'च' होना आश्चर्यजनक न लगे, पर पाठ सम्पादक तो 'नूत' जो हस्तलेखों में बराबर उपलब्ध है, उसे तभी त्याज्य समझेगा जब वह अर्थाभिव्यक्ति में एकदम असमर्थ हो। उत्कृष्ट संशोधन हम जीवित लेखकों की मुद्रित रचनाओं में भी कभी-कभी करने के लिये लालायित होते हैं कि 'यदि इस पंक्ति में ऐसा न होकर ऐसा होता हो तो क्या अच्छा था?'

श्री किशोरी लाल जी ने अपने इस कथन को पुष्ट करने के लिए कि वैज्ञानिक सम्पादन से मूल अर्थोपलब्धि में सहायता नहीं मिली है, जो उदाहरण चुना है, वह पण्डित विश्वनाथप्रसाद मिश्र के घनानन्द की एक पंक्ति से पाला पड़ने की बात का है और पण्डितजी की वह समस्या 'मैग्नीफाइंग ग्लास' से सुलझ गई। निवेदन है कि 'मैग्नीफाइंग ग्लास' से पाण्डुलिपियों का पढ़ना वैज्ञानिक पाठ-सम्पादक के लिए वर्जित है, ऐसा कहाँ लिखा है और

यह 'मैग्नीफाइंग ग्लास' विज्ञान की उपलब्धि है या साहित्य की? इससे पढ़कर यदि पण्डित जी मूल पाठ न पाते जो पाठालोचक का प्रयत्न है, तो मूल अर्थोपलब्धि होती कैसे?

आपने आगे कहा है कि 'अर्थ के आधार पर न जाने कितने पाठों का शुद्ध रूप कल्पित किया गया और मूल हस्तलेख मिल जाने पर वह अनुमान सत्य प्रमाणित हुआ।' अनुमान तो अनुमान ही है, वह सत्य भी हो सकता है और असत्य भी। इसकी जानकारी और ऐसे पाठ की स्थिति वैज्ञानिक विधि को भी है। कत्रे महोदय का इस सम्बन्ध में स्पष्ट कथन है—

"If the faulty reading have been in possession of the text in the period anterior to our 'archetype' dating from the period very near to autograph, it may not be possible to have recourse to transcriptional probability in the ordinary course......Emendation in his case shall be little more than a fortunate guess."

जहाँ तक इस कथन का प्रश्न है कि "वास्तव में वैज्ञानिक पाठ-शोध की निर्जीव प्रणाली प्राचीन पाठ की अर्थ-गुत्थियों के खोलने में अधिक सफल नहीं हुई है," इस विषय में अब कुछ और कहने की आवश्यकता नहीं है। पर इसके उदाहरण में प्रस्तुत 'सुखसागर तरग' के पाठ—'बन्दक शिवा के चोली बन्दुक शिवा के' का प्रश्न है इसमें निश्चेष्ट विकृति 'भ्रमपूर्ण निर्देशण' का परिहार न हो सकने से अर्थ नही खुला। वैज्ञानिक विधि ऐसे निराकरणों का स्पष्ट संकेत करती है।

अन्त में निवेदन है कि वैज्ञानिक प्रणाली के विज्ञान (शास्त्र) का ज्ञान भी आवश्यक है। इस प्रणाली का ज्ञान न होने पर इसे कोसना युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता। यह शास्त्र नये नियमों, नयी मान्यताओं, नये सुझाओं को आत्मसात् करने वाला है, क्योंकि यह निगमन-शैली से विकसित शास्त्र है। 'महाभारत' के आदि पर्व के सम्पादक डॉ० सुकथंकर ने भी इसमें कुछ रचनात्मक योगदान दिया और हिन्दी में डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने भी। मेरी दृष्टि में किसी शास्त्र पर विचार करते समय सम्यक् अनुशीलन, विवेक और संयम का सम्बल अपेक्षित है।

सन्दर्भ-सङ्केत

(१) सरस्वती, १९६२ दिसम्बर, १९६३ जनवरी, फरवरी, मार्च (२) सरस्वती, १९६३ मई (३) सरस्वती, १९६३ मार्च, पृ० २४५-२४६ (४) रामचरितमानस (काशिराज संस्करण), आत्मनिवेदन, पृ० २६ (५) पद्मावत (सं० डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल), प्राक्कथन, पृ० १३ (६) वही, पृ० ७२ (७) रामचरितमानस (काशिराज संस्करण), आत्मनिवेदन, पृ० २६ (८) पाठ-सम्पादन के सिद्धान्त, दृष्टिकोण, पृ० ९ (९) वही, पृ० ६२ (10) Principles of Textual Criticism by J. P. Postgate (Encyclopaedia Britannica Vol 22)- (११) पाठ-संपादन के सिद्धान्त (पाद-टिप्पणी) पृ० ६१ (12 Encyclopaedia Britannica, Vol. 3 Page 506

दो

डफालियों और मुजाविरों के गीत : सोहले

मज़्हर अली फ़ारूक़ी

भारतीय मुसलमानों में उद्योग-धंधों के आधार पर जो जातियां बनीं, उन्हीं में से ये दो जातियाँ—डफाली और मुजाविर भी हैं।

डफालियों के सम्बन्ध में बड़ी सरलता से यह अनुमान किया जा सकता है कि किसी न किसी प्रकार इनका रिश्ता 'डफ़' से होना चाहिये। 'डफ़' अथवा 'दफ़' एक अरबी बाजा है जिसका शुद्ध उच्चारण 'दुफ़' है। किसी हलकी लकड़ी के एक गोल घेरे पर खाल चढ़ी होती है और खाल ताँत के सहारे लकड़ी के घेरे पर मजबूती से चढ़ा दी जाती है। अपने यहां भी खँजड़ी की तरह ही यह होता है। अन्तर केवल इतना होता है कि खँजड़ी छोटी होती है और दफ (डफ) का घेरा कम से कम १२ इंच व्यास का होता है। घेरे की लकड़ी की चौड़ाई चार-पाँच इंच होती है। इसी को बजाने वाले दफ़ाली (डफाली) कहे गये। इनका धंधा डफ बजाने से ज्यादा डफ, ढोलक और छलनी बना-बना कर बेचना रहा है। वर्तमान काल में प्रत्येक ऐसे व्यक्ति को जो छलनी आदि का धंधा करता हो, डफाली न समझ लेना चाहिये।

यही 'दफ़' थोड़े परिवर्तन के साथ हमारे यहाँ 'डफ' हो गया। आज से बीस-पचीस वर्ष पहले डफले भंगी बजाया करते थे। 'दफ' से ही दफ़ली, डफली और ढफली नाम आये और यह कहावत भी बन गयी कि 'अपनी-अपनी ढफली और अपनी-अपनी तान' जो 'अपनी-अपनी किंगरी और अपना-अपना राग' की पर्यायवाची है। इसी 'दफ़' (डफ) के घेरे में जगह करके एक या दो स्थान पर लोहे या पीतल की पतली सलाख़ में पीतल के गोल-गोल पत्तर, टुकड़े या घुँघरू लगा दिये जाते हैं तो उसे 'चँग' कहते हैं। चंग दाहिने हाथ और बायें हाथ की अँगूठे के पास वाली उँगली में लोहे का छल्ला पहनकर या यों ही बजाया जाता है। मुजाविर लोग इसी को 'रबाना' कहते है। अपनी व्याख्यानुसार इसको वे एक दैवी बाजा समझते हैं। ऐसा अनुमान है कि स्वतंत्र विचार रखने वाले सूफियों और दरवेशों की खानकाहों (आश्रमों) में महफ़िल-सिमा (भजन-कीर्तन) के अवसरों पर इनका प्रचलन रहा होगा। अब उनका स्थान ढोलक और हारमोनियम ने ले लिया है। यह भी प्रतीत होता है कि दिल्ली सल्तनत के स्थापन-काल से मुगल-राज्य के पतन-काल तक इनका सम्बन्ध किसी न किसी प्रकार से उन खानकाहों तकियों दायरों आदि से रहा है जहाँ महफ़िल सिमा का

एक धार्मिक संस्कार समझा जाता था। जब ऐसी खानक़ाहों (आश्रमों) का पतन होने लगा तो उनकी दशा भी दयनीय होने लगी और अन्त में दरिद्रता तक पहुँच गयी। डफ़ाली ये तो शहरों में भी रहते हैं, किन्तु उनकी अधिक संख्या उन कस्बों और बड़े-बड़े गाँवों में मिलेगी जहाँ कोई मज़ार पाया जाता हो, चाहे वह किसी दशा में हो और मज़ार पर उर्स (वार्षिक मृत्यु-उत्सव) या उसी के समान कोई अन्य पर्व होता रहता हो।

'मुजाविर' भी एक अरबी शब्द है जो ज-आ-र धातु से बना है जिसका अर्थ है पास रहना। इसीलिए अरबी में 'जार' और 'जीरान' का प्रयोग पड़ोसी के अर्थ में होता है। जन-साधारण में मुजाविर उसे कहते हैं जो किसी मज़ार से सम्बद्ध हों और उसकी देख-रेख तथा प्रबन्ध में शरीक रहते हों तथा ज़ायरीन दार्शनिको की सहायता करते रहते हों और उन्हे हर प्रकार की सुविधाएँ देते हों। आप इनको मंदिरों के पुरोहितो का एक रूप समझिये। इनका यह क्रम पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलता रहा, जिसका परिणाम यह निकला कि मुसलमानो में मुजाविरों की एक स्थायी जाति बन गयी। अब उनकी भी वही दशा है जो डफालियों की है।

इन दोनों ही जातियों की गणना निम्नश्रेणी एवं पिछड़ी जातियों में की जाती है। मुजाविर भी अधिकतर ऐसे ही स्थानों में रहते हैं जिनका वर्णन डफालियों के विषय मे हो चुका है।

अन्य औलिया और पीरों की अपेक्षा इन दोनों जातियों के लोग 'सैयद सालार मसऊद ग़ाज़ी' (गाज़ी मियाँ) से अधिक श्रद्धा रखते हैं और इन्हीं के उपासक हैं। यही कारण है कि ये गाज़ी मियाँ के जन्म, विवाह, सौंदर्य, आचरण, वीरता, नम्रता, दयालुता और उनके चमत्कारों एवं अन्य गुणों के सम्बन्ध में गीत बना-बना कर चंग (रबाना) पर गाते हैं। इन गीतों को 'सोहला' कहते है। ये सोहले उन सोहलू-गीतों से सर्वथा भिन्न हैं जिनका वर्णन प० रामनरेश त्रिपाठी ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'कविता कौमुदी' के भाग ३ में सोहर-गीतो के अन्तर्गत किया है। सोहले अधिकांशतः सुखान्त तथा हास्यपूर्ण होते हैं और जब उनके साथ किसी प्रकार के युद्ध तथा वीर रस का समावेश हो जाता है तो उन्हें 'पचरा' कहा जाता है। वे गीत जिनमें गाज़ी मियाँ की वीरता, साहस और उनके युद्धों का वर्णन रहता है, 'झगडा' या 'मारूड़ा' कहे जाते हैं। इनके गाने की शैली 'आल्हा' के समान होती है।

मुजाविरों का जीवन मन्दिरों के पुरोहितों के जीवन से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। इनकी यजमानी होती है अर्थात् मुजाविरों के केन्द्र और हलक़े विशेष होते हैं जहाँ कोई दूसरा मुजाविर नहीं जा सकता और उस क्षेत्र के निवासी एक विशेष मुजाविर से ही सम्बन्धित होते है। यजमानों में अधिकांश पिछड़ी जातियों के मुसलमान, धोबी, गद्दी, नाई, कुँजड़े, कसाई, बिहने, भठियारे आदि होते हैं। इसके अतिरिक्त हिन्दू जातियों में भी निम्न और पिछड़े लोग जैसे कुम्हार (कहार), चमार, पासी, काछी, मोची, कोयरी, कुर्मी, अहीर, गड़रिए आदि होते हैं। मुजाविरों का कहना है कि उनके यजमानों और उपासकों में कुछ वैश्य, लाला और ठाकुर भी हैं। इसमें तो संदेह नहीं कि अजमेर के ख्वाजा मुइनउद्दीन चिश्ती, मकनपुर (कानपुर) के कुत्बुलमदार सैयद बदीउद्दीन (मदार शाह) और सैयद सालार मसऊद गाज़ी गाज़ी मियाँ जन-साधारण में बड़े प्रिय और आदरणीय रहे हैं और इनका व्यक्तित्व ए-

अवतार के समान समझा जाता है। इन सब में गाजी मियाँ की लोकप्रियता सर्वत्र [illegible] है। यह कहीं घुड़वा शहीद के नाम से, कहीं मियाँ या गुर्ज पीर के नाम से, कहीं लाल पीर के रूप में किसी न किसी प्रकार से मौजूद हैं। गाजी मियाँ की ख्याति एवं लोकप्रियता का अनुमान निम्नलिखित पहेली से लगाया जा सकता है जिसकी बूझ है सुई-तागा—

अच्छे से गाजी मियाँ बड़ा सा शिमला,
झुक गये गाजी मियाँ लटक गया शिमला।

इसी पहेली का भोजपुरी रूप इस प्रकार है :—

हती चुकी गाजी मियाँ हतबत पोंछि,
इहे जाले गाजी मियाँ धरीहे पोंछि।"

गाजी मियाँ के उपासक मुसलमान और हिन्दू नियाज़ दिलाकर और मज़ार पर प्रसाद चढ़ाकर अपनी भक्ति एवं श्रद्धा अर्पित करते है। वे सामान्यतः प्रत्येक रविवार को मज़ार पर जमा होते हैं। मज़ार का मुजाविर उनका पेशवा (अगुवा) और रहनुमा बनता है।

नियाज़ दो प्रकार की होती है—पहली छूँछी नियाज़ जिसमें गट्टे, बताशे अथवा गुड़, कुछ फूल, हार और अगरबत्ती रक्खी जाती हैं और जिसका नज़राना (भेंट) १०, २० और १२५ पैसे होता है। दूसरी भरी नियाज़ है जिसमें २५० ग्राम (सवा पाव) से १२०० ग्राम (सवा सेर) तक पक्की मिठाई, एक प्रकार की या पँच-मेल, फूल, हार, लोबान और अगरबत्ती रक्खी जाती है। नज़राने में सवा रूपये से पाँच रुपया तक मुजाविर लेता है।

विशेष नियाज़ें साल में तीन बार होती हैं—प्रथम, बसंत पंचमी के दिन जिसमें नियाज़ के थाल में कुआरी चावल, गुड़, डली (सुपारी), आम का बौर, हल्दी, हार, फूल, इत्र का फाहा, लाल कलावा और पान का बीड़ा रक्खा जाता है। घरों में कढ़ी, फुलकी या [illegible] माश (उर्द), रोटी, दहीबड़ा और गुड़ में मीठे चावल पकते हैं। परिवार-सम्बन्धियों और मित्रों के घर मिठाई या गुड़ भेजा जाता है। दूसरी नियाज़ अग्रहण बदी में किसी रविवार को होती है। नियाज़ के थाल में चावल, नया गुड़, चने का साग, ऊख (गन्ना), सींक, बेर (बइर), दूब, हार, फूल, इत्र का फाहा, लोबान, अगरबत्ती और पान का बीड़ा रक्खा जाता है। घरों में वही सब कुछ पकता है जो बसन्त वाली नियाज़ के दिन। तीसरी नियाज गाजी मियाँ के मेले से आठ दिन पहले ज्येष्ठ में रविवार के दिन होती है। उस दिन को 'गाजी मियाँ की बारात' कहते हैं। सर्वसाधारण का विश्वास है कि उस दिन आँधी अवश्य आनी चाहिए। उसी दिन से लोग बहराइच के लिए पैदल चल देते हैं। दृश्य बिलकुल वैसा ही होता है, जैसा कुछ महावीर के मेले में जानेवालों का होता है। जो लोग किसी अधिक संकट में होते हैं अथवा पहले से मन्नत मान चुके होते हैं, वे लेट-लेट कर जाते हैं और एक ईंट रखते जाते हैं। जहाँ तक ईंट पहुँचती है, वहीं से फिर लेटते हैं और यह क्रम चलता रहता है। इस टोली को 'मेदनी' नाम दिया जाता है। उस दिन कच्चा आम डाल कर चने की दाल पकायी जाती है और तनूरी (तंदूरी) रोटी. या तवे पर पकी हुई मोटी-मोटी रोटियाँ

पर नियाज़ होती है। इसके साथ सत्तू भी रखा जाता है। मेले से दो-तीन दिन पहले कंदूरी-नियाज़ होती है। यह दो प्रकार की होती है—छोटी कंदूरी तथा बड़ी कन्दूरी। छोटी कन्दूरी में थाल में चावल, पान, चीनी, काला तिल, दूब, हार, फूल, इत्र का फाहा रक्खा जाता है तथा अगरबत्ती, लोहबान और धूप लकड़ी से सुगंधित किया जाता है। घरों में आलूबरी या गुलौड़ी, रोटी और गुड़ में मीठे चावल पकते हैं। इस नियाज़ के थाल में चावल के स्थान पर चूड़े भी रक्खे जा सकते हैं। बड़ी कंदूरी के थाल में तो वही सब कुछ होता है जो छोटी कन्दूरी के थाल में, पर नियाज़ होती है मुर्गे के मांस, शीरमाल और पुलाव ज़र्दे पर।[२]

एक सोहले में एक ऐसे ही थाल का वर्णन है। आप देखिये तो कि उसमें क्या-क्या चीज़ें हैं? सोहला इस प्रकार है :—

मियाँ का पूजन चला सेवकिया गढ़ बहराइच नागरी,
छाड़ि-छाड़ि के बाल-बच्चे, तजि के घरू और बाखरी।
सेवक के घर नउबति बाजइ सुरू भई नई रीति,
पहिली पूजनी बसन्त पंचिमी, आधा माघु गया बीति। मियाँ का पूजन···
कुआरी चाउर, हरदी, गुड़ धरिके सजाया सेवकिया थाल,
आम बउरू, सुपारी ओहि पर धरा कलावा लाल। मियाँ का पूजन···
हार-फूल से थाल सजाया, ओहि पर फाहा अतर जमाया,
लोबान, अगरबत्ती, धूप बारि के थलवा महकाया। मियाँ का पूजन···

[गाज़ी मियाँ का उपासक बहराइच नगर अपनी श्रद्धा दिखाने चला। उसने अपना घर-बार और बाल-बच्चे छोड़ दिये। उपासक भक्त के घर इसी खुशी में नौबत बज रही है कि उसे उपासना का अवसर मिल गया। आधा माघ बीत गया। बसन्त पंचमी है और वह नियाज़ का थाल सजा लाया है जिसमें कुआरी चावल, हल्दी, गुड़, आम का बौर, डली और लाल कलावा (कच्चा धागा) रक्खा है। हार, फूल और इत्र का फाहा भी है। अगरबत्ती, धूप और लोहबान सुलगाकर उसे सुगंधित किया है। इस प्रकार गाज़ी मियाँ का भक्त और सेवक अपनी श्रद्धा दिखाने बहराइच चला है।]

यह सब कुछ किया क्यों जाता है? कारण यह है कि भक्तों का विश्वास है कि गाज़ी मियाँ एक मनुष्य के रूप में अवतार हैं, वली-अल्लाह हैं। निम्नलिखित सोहले में गाज़ी मियाँ के जन्म का वर्णन इस प्रकार किया गया है :—

जबही जनमुआ भये गाजी मियाँ तोहार,
चउ तरफा हुई गई सारी नगरिया उजियार।
मामुल मइया की कोखिया हुइ गइ उजियार रे॥
मामुल मइया बम्हना बुलाइन औ बुलाइन जोतसिया,
अरज करईं बिरना मोरे कहउ हालु पतरा विचार॥ मामुल मइया की

गुनिया श्रोसतिया पतरा विचारि कहिनि मोरि बहिना
नाँउ धरउ तुम सैयद मसूद सलार।
जिनके जनमे हुई गई नगरिया उजियार॥ मामुल मइया को…

सइयद मसूद सलार जिन कइ नाउ परई गाजिन मियाँ,
कोखिया से तोहरी लीना अवतार।
जब बाँधि फिरहिं कमरिया से तरवार॥ मामुल मइया को…

[जिस दिन गाजी मियाँ का जन्म हुआ, उस दिन चारों दिशाएँ प्रकाशित हो गयीं। मामुल माँ ने ब्राह्मण और ज्योतिषी बुलाकर उनसे प्रार्थना की कि मेरे वीरन, पत्रा देखकर सब हाल बताओ। ज्ञानी ज्योतिषी ने पत्रा देखकर बताया—बहिन, नाम तो सैयद मसऊद सालार रखना। यह मनुष्य नहीं है, वरन् तुम्हारी कोख से एक अवतार ने जन्म लिया है जिसका नाम गाजी मियाँ पड़ जायेगा, जो कमर से तलवार बाँधे फिरेगा।]

इससे स्पष्ट है कि सैयद मसऊद सालार गाजी इंसान के रूप में एक अवतार थे और उनमें वे सब गुण विद्यमान थे जो एक अतिमानव में होना चाहिए। उनके सेवकों एवं उपासकों को पूर्ण विश्वास था कि उनके सम्मुख जाने पर—

अंधा जावई आँखी पावइ, कोढ़िया सुबरन होइ,
गयी बंझिनिया बेटा पावइ, मददि मियाँ की होइ।

यह सोहला कई ऐसी बातें प्रस्तुत करता है जिन पर ध्यान देना आवश्यक है। पहली बात यह कि सोहलों और पचरों में गाजी मियाँ की माता का नाम मामुल, मामुलाँ और मामुलिया माँ आता है। यह नाम बिल्कुल अमुस्लिम है। प्रश्न उठता है कि सोहला बनाने वाले मुजाविरों के दिमाग में यह नाम आया कहाँ से? इस नाम के लिए कोई ऐतिहासिक प्रमाण तो नहीं मिलता पर ऐसा अनुमान होता है कि बुंदेली लोकगीतों के मामुलिया[३] गीत से यह नाम ले लिया गया है। बुन्देली लोकगीतों में किसी मामुलिया नामक स्त्री की चर्चा इस प्रकार की गयी है :—

मामुलिया के आये लेवउआ,
झमकि चली, झमकि चली, मोरी मामुलिया।

बहुत सम्भव है कि मुजाविरों ने यह नाम यहीं से लिया हो। दूसरी बात यह कि एक मुसलमान-परिवार में एक वली जन्म लेता है और उसकी माँ मुसलमान होने के बावजूद अजाँ और तकबीर[४] के लिए न तो किसी मुल्ला को बुलाती है और न किसी हाफ़िज़ को। यहाँ तक कि वह किसी साईं[५] को भी नहीं बुलाती ताकि इस मुस्लिम संस्कार को वह पूर्ण करे। वह इस संस्कार के लिये बुलाती है एक ब्राह्मण और ज्योतिषी को। तीसरी बात यह कि वह ज्योतिषि को 'मोरे बिरना' कह कर उसी प्रकार सम्बोधित करती है, जिस प्रकार हिन्दू स्त्रियाँ अपने कौटुम्बिक भाइयों को सम्बोधित किया करती हैं इस प्रकार के सोहले यहाँ

एक ओर हिन्दू-मुस्लिम एकता और आपसी मेल-जोल की घोषणा करते हैं, वहाँ दूसरी ओर यह भी संकेत करते हैं कि भारतीय मुसलमानों ने हिन्दू-संस्कृति एवं परम्पराओं को किस प्रकार अपना लिया है।

उपर्युक्त गीत के आगे की निम्न पंक्तियों में बीबी मामुल गाजी मियाँ के विवाह की तिथि पंडित से पूछती हैं और पंडित वेद-पुरान गिनकर तिथि बताते हैं।

खोलउ भइया बाम्हन, बतावउ वेद का हाल,
सोचि, समुझि कह बोलियो नीकी नीकी फाल।
बाम्हन बिरना कउनए दिन सूधइ मियाँ बिअहुवा॥
खोलो जो पोथिया, वेद पुरान।
बाम्हन गिनि गिनि का धरायी लगनिया।
एकादसी, द्वादसी, तेरसि का रचावत मियाँ का बिअहुवा॥

[ब्राह्मण भाई, वेद खोल कर पढ़ो और सोच समझकर शुभ मुहूर्त बताओ कि गाजी मियाँ के विवाह की तिथि क्या निश्चित की जाये। ब्राह्मण ने वेद-पुराण खोला और गिन कर इस प्रकार तिथि बतायी – एकादशी, द्वादशी और त्रयोदशी विवाह के लिए शुभ मुहूर्त है।]

अब ब्राह्मण दक्षिणा माँगता है और बीबी मामुल पियरी धोती, मूँग की खिचड़ी, मोती और सोने का जनेउ दक्षिणा में देती हैं। इतना कुछ पाकर ब्राह्मण देवता आशीष इस प्रकार देते है :—

जुग-जुग जीवइ भइया तोहरा दुलरवा,
इतना कइ दनवां पायो पीर का बम्हनवा।

इसी विवाह-क्रम में एक-दो चित्र और देखें। एक सोहला है, जिसकी टेक के बोल है **'मड़वा छवायो बीबी मामुला'** जिसमें गाजी मियाँ के विवाह-मंडप के छाये जाने का वर्णन है। उक्त सोहल का भाव इस प्रकार है:—"बीबी मामुलाँ ने बसँवारी से बाँस कटाये और मंडप का ठाट बँधवाया। अशोक के पत्तों से उसका छाजन किया गया। बीच-बीच में पान रक्खे गये। आम के पत्तों के वंदनवार बाँधे गये। वह ऐसा सुन्दर बना कि गुजरियाँ और ग्वालिनें देखती रह गयीं। गेंदा, चमेली के फूल और चम्पा की कलियाँ लगाई गयीं। झाड़-फानूस और हंडे टँग गये और जला दिये गये।"

एक सोहला और देखें जिसकी टेक के बोल है—**'जोड़ा सखियाँ लिए चली डलरियाँ'**[६]। डलियों में रखकर सखियाँ क्या-क्या कपड़े ला रही है, इसका विस्तृत विवरण इस सोहला मे है। डालियों में कुरता है, जामा है, सिर के लिए पगड़ी है, कमरपेच और पटुका भी है। हाथ में बाँधने के लिए कंकण और कुछ आभूषण भी है। हाथ मे कंगन बँधाते समय शायद वर ने कुछ संकोच किया तो एक सखी ने हाथ खींचकर कंकण बाँध दिया और दूसरी ने तो और भी गजब कर दिया कि गले में हँसुली और हुमेल भी डाल दी

गाजी मियाँ दूल्हा बने खड़े हैं कि अकस्मात् एक घटना घट जाती है जिसका विस्तृत वर्णन एक सोहला करता है। सोहले की टेक है :—

गाजी मियाँ मोर दरदिया उनाउँ[७]

बात यह हुई कि किसी राजा सूरजमल को दिल्ली के किसी मुसलमान सुल्तान ने बन्दी बना लिया। उसकी नव-विवाहित स्त्री गाजी मियाँ के पास आती है और कहती है :— "गाजी मियाँ, मेरा दुख-दर्द दूर करो। मेरे पति को सुल्तान बन्दी बना लिया गया है। मेरे गौने का अभी इतना कम समय बीता है कि—

मइँ अबहीं न देखेउँ राजा साँवर हइ कि गोर।

मेरे पति तो बन्दी हो गये और—

मइँ बाँधेऊँ तोहरा हुजूर।

इसलिए कि आप न्यायी और सत्य के पुजारी हैं। यदि आपने मेरी सहायता की तो—

या हजरत जलमा की चेरिया मइँ हइहऊँ तोहार।

और, जब वह—

रोइ रोई बतिया कहइ ठकुराइन,
गाजी मियाँ मोर दरदिया उनाउँ।

तो—

गाजिन मियाँ तोरि डारो कँगनवाँ,

और कहन लगे :—

बहिनाया, ना तोरउ आस, लावउ लिल्ली मोरे पास।
ना रोवउ, धीरज धरइ, अल्लाह से राखउ आस।
कमर से तेगा खईंच लीनि, अउ लइ लीनि आपुन हाथ।
खाली रहि गौ मियनवाँ, गाजी मियाँ तोरि डारा कँगनवाँ।

वे इस मोहिम पर चल दिये और—

सखियाँ रहि गयी मंगल गाती,
ठिठिकि गये सब बराती अउर जनाती।[८]

उपर्युक्त सोहल में दो बातें ध्यान देने योग्य हैं। प्रथम, राजा सूर्यमल की नव-विवाहिता धर्म-पत्नी के साथ गाजी मियाँ की अत्यधिक सहानुभूति और ठीक विवाह के दिन लिल्ली पर सवार होकर, हाथ में नंगी तलवार लिये मुसलमान सुल्तान से युद्ध करके सूर्यमल को छुड़ाने के प्रयास में चल पड़ना। यह बड़ी असाधारण बात है। मैंने इस सोहला-पचरा लिखाने वाले मुजाविर से जब पूछा कि भाई सिकन्दरा, जिला इलाहाबाद के पाँचू मुजाविर ने तो कहा है कि "हिन्द में आये थे सालार दीन इस्लाम जमाने वाले।" तो फिर गाजी मियाँ सूयमल को छुड़ाने क्यों गये? इसका जो उत्तर उसने दिया वह मननीय है उसका कहना है

कि "राजा सूरजमल गाजी मियाँ के पड़ोसी मित्र थे। राजा सोहलदत्त से गाजी मियाँ की मुठभेड़ में सूरजमल ने गाजी मियाँ का ही साथ दिया। इस प्रकार दोनों में और भी मित्रता बढ़ गयी। अब रही यह बात कि पड़ोसी का अधिकार मुसलमानों के यहाँ क्या है, यह तो आप मुझसे अधिक जानते होंगे।"

अब, यदि हम इस घटना को इतिहास के पलड़ों पर तौलना चाहें तो निराशा ही होगी। कारण यह कि गाजी मियाँ का समय (१०१४-१०३३ ई०) है[९] और उस समय तक दिल्ली सल्तनत की स्थापना ही नहीं हुई थी। सम्भव है कि इस घटना का सम्बन्ध महमूद गज़नवी के आक्रमण से हो। वस्तुतः पचरों में ऐसी अनेक घटनाएँ वर्णित रहती हैं जिनका इतिहास से दूर का भी सम्बन्ध नहीं रहता है। जार्ज लारेन्स गोमे का यह कथन सही ही है कि "लोकगीतों एवं लोकगाथाओं में जो ऐतिहासिक घटनाएँ कहकर बतायी जाती है, उनके लिए आवश्यक नहीं है कि वास्तव में वे ऐतिहासिक हों। तिथि एवं विषय की तुलना भी ऐतिहासिक घटनाओं एवं तिथियों से आवश्यक नहीं है...।"[१०]

दूसरी बात जो उपर्युक्त सोहल में ध्यान देने योग्य है, वह है लिल्ली घोड़ी जिसके सम्बन्ध में आगे चलकर हम विस्तार से विचार करेंगे।

सोहलों में गाजी मियाँ के रौजे की प्रशंसा और दर्शनों की आकांक्षा का वर्णन बड़े ज़ोरों से किया जाता है। जिन सोहलों में गाजी मियाँ के रौजे की प्रशंसा मिलती है, उनमे कुछ के टेंक के बोल है :—

(१) मियाँ का रौजा बना नगीना, गजब रंग भीना।[११]
(२) फूलइ कली रे गुलाब कली मियाँ तोरी बगिया माँ फूले कली।[१२]
(३) चंदन-दूध से रौजा बनाया तेरा गाजी मियाँ।[१३]
(४) रउजे ऊपर कलिस बिराजई, छत्तर मोतीचूर का।[१४]
(५) रउजे उप्पर नूर बरसता अल्लाह फिरयादि का।[१५]
(६) अपनी जुलफन से बहोरइ तेरा रउजा जन्नत की हूरें रे।[१६]
(७) ऊँचा रउजवा का निहुला मोहरवा।[१७]
(८) अल्लाह, तेरे रउजे पे बरसइ नूर।[१८]
(९) तेरे रउजे का ऊँचा चउतरा मोसे चढ़ा ना जाइ, हे गाजना।[१९]

ऐसा रौजा जिसमें दूध और चन्दन का गारा लगा हो, सोने का कलस हो, मोतियों का छत्र हो, उसके ऊपर प्रकाश ही प्रकाश बरसता हो, जिससे गुलाब की सुगंध आती हो, जिसे जन्नत की हूरें, स्वर्ग की अप्सराएँ अपनी जुल्फों (केश) से बहारती हों, जो नगीनों की भाँति चमकता हो उसके दर्शनों की अभिलाषा गाजी मियाँ का सेवक एवं इस प्रकार करता है

आगे चलकर वह अपनी दरिद्रता और मजबूरी बताता है कि "हे गाजी मियाँ ! न तो मेरी गाँठ में पैसा है और न किसी ने मुझे खर्च ही दिया है। मेरी टाँगें भी जवाब दे चुकी हैं और चलने को शक्ति भी नहीं हैं। फिर भी, मेरा मन रौजे के दर्शनों के लिये बेचैन है।" अन्त में गाजी मियाँ की कृपा और चमत्कार से अल्लाह मियाँ उसे सब कुछ दे देते हैं और वह पैदल लेट-लेट कर रौजे के दर्शनों को जाता है।

इस सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि बहराइच में जब गाजी मियाँ का मेला लगता है तो मेले में भाग लेने के लिए लोग बहुत पहले से ही पैदल चल देते हैं। इस काफिले को 'मेदिनी' कहते हैं। ये लोग जहाँ-जहाँ से गुजरते है, पास-पड़ोस के मुसाफिर और फकीर इनके स्वागत का बड़ा उत्तम प्रबन्ध करते हैं। दृश्य सर्वथा वही होता है जो महावीर जी के मेले में जानेवालों का होता है। पंखे झले जाते हैं, फूलों की वर्षा की जाती है, हार पहनाये जाते हैं, दूध, शरबत और मिठाई से आदर-सत्कार किया जाता है। 'मेदिनी' की भाषा-वैज्ञानिक-व्याख्या क्या हो सकती है अथवा यह परम्परा किन भावनाओं से उत्पन्न हुई है, यह प्रश्न विचारणीय हैं।

अब आइये लिल्ली घोड़ी की ओर ! इस सम्बन्ध में एक किंवदन्ती है कि आल्हा-ऊदल के समय में किसी जागीरदार राजपूत की घोड़ी का नाम लिल्ली था। उसने आल्हा-ऊदल का साथ नहीं दिया और उनसे विश्वासघात किया। उस जागीरदार को अपमानित करने के लिए प्रत्येक ऐसी घोड़ी को जो सेवड़ी, कुबड़ी और कुडौल हो, लिल्ली घोड़ी कहा जाने लगा। बुन्देलखंड और राजस्थान के दक्षिणी-पूर्वी भाग में लिल्ली घोड़ी का लोक-नृत्य भी होता है। इसमें भी हास्य एवं व्यंग का संस्पर्श रहता है।

सामान्य लोकगीतों में लिल्ली इसके नितांत विपरीत है। वह एक स्वस्थ, सुडौल, सुन्दर और तीव्र चालवाली है, जिस पर चढ़कर बड़ी शान से भाई अपनी बहिन को लेने जाता है—

लिल्ली सी घोड़िया, पतर असवारा,
चले हैं कौन लाला बहिन लेने द्वारा।

सास की उपमा लिल्ली से देना भी उसकी तीव्रता और तेजी-तर्रारी की ओर संकेत करता है—

सासु लिल्ली घोड़ी, सइयाँ असवार, तबहूँ न हियाबई रे।

गाजी मियाँ की लिल्ली घोड़ी तो इन सबसे भिन्न है। वह उर्दू कसीदों और कथाओं के घोड़ों से भी बहुत आगे है। वह पवन-पुत्री है और दौड़ने में उससे भी आगे रहती है। यथा—

लिल्ली घोड़ी पवन-पुत्री, चलइ पवन के आगे,
कूदि सवार भये मियाँ लिली के उप्पर, बैरी सब भागे।
झुकि-झुकि करवे को सीस नवायें रे

इतना ही नहीं, मियाँ की घोड़ी कीमती भी है—

चौदह करोड़ की मियाँ की बाँकी लिल्ली, साढ़े सात लाख का जीन।
पूँजी पत्ता सोहइ लिली को, जिनिकई लगी सोने की रकाब हो।।

१४ करोड़ के मूल्य की और साढ़े-सात लाख की जीन और सोने की रकाब वाली लिल्ली गाजी मियाँ को कैसे मिली ? इसके उत्तर में मुजाविर का कहना है कि "यह लिल्ली महमूद ग़जनवी के अधिकार में थी, जो सात तहखानों के भीतर रहती थी। वाराणसी के धरमू और करमू मोची १२ वर्ष तक इसके लिए जीन सीते-सीते अंधे हो गये। जब गाजी मियाँ को ज्ञात हुआ कि लिल्ली के लिए उसी जीन की आवश्यकता है तो उन्होंने अपने चमत्कार से करमू और धरमू की आँखों को ठीक कर दिया।"

आश्चर्य है कि मुजाविरों द्वारा गाजी मियाँ महमूद ग़जनवी के भाँजे बताये जाते हैं। मुजाविरों का कथन है कि गाजी मियाँ को लिल्ली प्राप्त करने के लिए अपनी माता जी को इस बात पर राजी करना पड़ा कि वे उनके साथ अपने भाई के यहाँ चलकर लिल्ली दिला दें। ऐसा करने के लिए उन्हें अपनी माता की कई शर्तें पूरी करनी पड़ीं। एक साधारण-सी शर्त यह थी कि जिला बहराइच के किसी ग्राम गौरा गाँठ, जिसका अब कोई नाम-निशान नहीं है, से दिल्ली तक मखमल का फर्श बिछ जाये और दिल्ली से गजनी तक की भूमि चाँदी की हो जाय। गाजी मियाँ को लिल्ली पर अधिकार पाने के लिए आकाश-पाताल एक करना पड़ा और वह सब कुछ करना पड़ा, जो ईरानी-साहित्य में अस्फंदियार और रूस्तम की 'हफ्तख्वानियों' के नाम से प्रसिद्ध हैं।

आज से ४०-४२ वर्ष पूर्व इसी लिल्ली का स्वांग बनाये हुए मुजाविर द्वार-द्वार घूमा करते थे और बड़ी सरलता और सुविधा से यह लिल्ली देखने में आ जाती थी। इतनी बात अवश्य थी कि इस पर न धरमू-करमू की बनायी साढ़े-सात लाख की जीन होती थी और न सोने की रक़ाब, अपितु किसी भंगी के बनाये हुए दो सूप किसी रेशमी ओढ़नी से ढँके होते थे। एक मुजाविर गाजी मियाँ की ओर से बोलता था और स्वांग बनाया हुआ मुजाविर लिल्ली की ओर से उत्तर देता था। इसी कथोपकथन के बीच कभी-कभी रवाने के घुँघरुओं के साथ उसके पैर भी पड़ने लगते थे। जिस दरवाज़े पर यह लिल्ली जाती, वहाँ से उसे आटा, दाल, चावल और एक टका अक्षत के रूप में मिलता था।

लिल्ली बनने का अधिकार पुश्तैनी होता है। जिस परिवार से एक मुजाविर को लिल्ली बनने का अधिकार प्राप्त हो गया, उसके पश्चात् उसका पुत्र ही लिल्ली बन सकता है। लिल्ली बनाने-सँवारने का अधिकार भी इसी प्रकार होता है और यह भी पुश्तैनी हुआ करता है। जिन परिवारों को यह अधिकार प्राप्त होता है, वे ऊँचे तो समझे जाते ही हैं, साथ ही गाजी मियाँ के अच्छे सेवक भी। इन अधिकारों का परवाना देने या न देने का अधिकार 'परिहार' को प्राप्त है और वही इसका निर्णायक होता है।

मुजाविरों और डफालियों के गीतों के उपर्युक्त अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि एक ओर तो ये गीत उस समाज का प्रतिनिधित्व करते हैं जिसको हमारे आपसी मेल

जोल, प्रेम-व्यवहार एवं निजी सहानुभूतियों और प्रेम-भावनाओं ने धीरे-धीरे सैकड़ों वर्षों में बनाया था और जो सही मानों में भारतीय समाज कहा जा सकता है। दूसरी ओर, ये गीत वह मार्ग दिखाते हैं जिसे हमारे देश के सूफियों एवं संतों ने अपने अथक प्रयासों से निर्मित किया था और जिसको बनाते समय महात्मा कबीर ने सिर ऊँचा करके बड़े साहस से कहा था :—

हिन्दू तुरुक कहाँ से आये, किन यह राह चलायी ?

सन्दर्भ-सङ्केत

(१) डॉक्टर सत्यव्रत सिन्हा : भोजपुरी लोक गाथा, भूमिका, पृ० घ (२) उक्त तथ्य सत्तार मुजाविर, रौजा सोहबतियाबाग, इलाहाबाद द्वारा प्राप्त हुआ है (३) उत्तरप्रदेश के लोकगीत, सूचना विभाग, उ० प्र० (४) दाहिने कान में अजाँ और बाएँ में तकबीर पहनना प्रथम मुस्लिम जन्म-संस्कार है (५) अनपढ़ फ़क़ीर जो देहातों में धार्मिक संस्कारों की पूर्ति करते हैं (६) वली मुहम्मद उर्फ बल्ली (साकिन देहलिया, जि० हरदोई) से प्राप्त (७) अब्दुर सत्तार (सराय इदरीस, खागा, जि० फतेहपुर, द्वारा प्राप्त (८) वली मुहम्मद उर्फ बल्ली (सा० देहलिया, जि० हरदोई) से प्राप्त (९) सफीनतुल-औलिया, पृ० १६० (१०) डॉ० सत्यव्रत सिन्हा की पुस्तक 'भोजपुरी लोकगाथा' पृ० ३९ से उद्धृत (११), (१२) श्री राजकुमार सिन्हा, अध्यापक, डी० ए० वी० कालेज, इलाहाबाद से प्राप्त (१३), (१४), (१५) वली मुहम्मद, देहलिया, जि० हरदोई से प्राप्त (१६) साबिर अली, सराय इदरीस, खागा, जि० फतेहपुर से प्राप्त (१७) सत्तार मुजावर, सोहबतिया बाग, इलाहाबाद से प्राप्त (१८) शेरवानी, उमरसेढ़ा, पो० पिहानी, जि० हरदोई से प्राप्त (१९) रामप्रसाद चमार, राउतपुर, जिला इलाहाबाद से प्राप्त।

तीन

महाराणा जवान सिंह और उनकी काव्य-साधना

महेन्द्र भनावत

महाराणा भीमसिंह की मृत्यु के बाद विक्रमी संवत् १८८५ में महाराणा जवान सिंह मेवाड़ की गद्दी पर बैठे। इस समय इनकी आयु २८ वर्ष की थी। इनकी माता का नाम गुलाब कुँवरि था जो चावड़ा शाखा के जसवन्त सिंह की बेटी थी।

शासन की दृष्टि से महाराणा अधिक प्रबन्ध-पटु नहीं थे, परन्तु वे बड़े उदार, मृदुभाषी और सरल प्रकृति के नरेश थे। उदयपुर में पीछोला के किनारे इन्होंने 'जलनिवास' महल और बाँकी के सगरे में 'महाकालिका' का मन्दिर बनवाया। इसके अलावा इन्होंने तीन मन्दिर और बनवाये—(१) जवान स्वरूपेश्वर का मन्दिर (२) जगतशिरोमणि का मन्दिर तथा (३) जवान सूरज बिहारी का मन्दिर।

विक्रमी सं० १८९५, भाद्रपद शुक्ल १०, बृहस्पतिवार को महाराणा जवानसिंह का परलोकवास हुआ। उदयपुर में इनकी दाहक्रिया राजकीय दग्धस्थान—महासतियाँ—में हुई, जहाँ इनकी छत्री अभी तक बनी हुई है। ऐसी प्रसिद्धि है कि जब इनकी डोली निकल रही थी तो, डिंगल कवि सूरजमल आशिया कड़िया वाले ने निम्नलिखित मर्सिया सुनाया था—

भगमा लेहूं भेष कपड़ा भगमा रंगकर।
उचारूँ आलेख जो थूँ मलै जवानी-सी।

इससे महाराणा के गले की माला डोली में गिर पड़ी।

महाराणा जवानसिंह उत्तम कोटि के कवि थे। छन्दोबद्ध कविता करना इन्होंने किसना आढा से सीखा था, इस बात का उल्लेख सरस्वती भण्डार की हस्तलिखित प्रति संख्या २६९ के पृष्ठ १३ पर मिलता है जो इस प्रकार है—

"अथ संमत १८८३रा वैसाख सुद ७ गुरे रै दिन महाराजकंवार श्री १०८ श्री श्री जवानस्यंघजी आढ़ा किसना तीरा सूँ भणवा रो स मौहुरत कीधो सो प्रथम ग्रंथ कविप्रिया पढ्या नें कवित्त-दूहा बणावा रो पण आरंभ कीधो सो मास १ दन २ तो कविप्रिया हीज अर्थ सहेत पढ्या नें जेठ सुद ९ सोमें रा दिन सूँ कवित-दूहा बणावा लागा जी दन सूँ ही बणाया सौ कसना नें हुकम हुवो के किसना जो थें दूहा-कवित्त मांह रा बणाया लिष लोज्यो श्री हजूर सूँ पोथी त्यार कराय बगसी जी में श्री हजूर का बणाया दूहा कवित सवैया छपै आद ख्याल और सरबत्र छंद सो लिखस्यां॥ प्रथम जेठ सुद ९ सोमेरे दिन महाराज कंवार श्री जवानसिंघ जी दूहो-कवित्त बणाया सो लिखां छां।"

सरस्वती भवन की उपर्युक्त प्रति में महाराणा जवानसिंह द्वारा लिखित कविताओं का तिथिवार उल्लेख मिलता है। इसके अनुसार महाराणा कविता लिख-लिख कर अपने पुरोहित शिवलालजी, सांभर मोतीचन्दजी, भट्ट गणेशनाथजी, भट्ट मेवाड़ा नाथूजी, जोशी नन्दलालजी, गोरवाल चन्द्रेश्वरजी, पाणेरी नन्दरामजी, डोड्या मोड़जी, ठाकुर जोरावरसिंहजी, घोटार नन्दावजैसिंघजी, खानाजाद नन्दरामजी आदि के साथ किसना आढ़ा के पास पहुँचवाते थे जो इनकी प्रतिलिपि तैयार करते थे।

महाराणा जवानसिंह कवियों और विद्वानों का बड़ा आदर करते थे। खासतौर से इनका सम्पर्क रीवां राज्य के कवियों के साथ अधिक रहा। यही कारण है कि उन्हीं के अनुकूल इन्होंने भी अपनी कविताएँ ब्रजभाषा में लिखीं। रीवाँ और उदयपुर के राजघरानो का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है महाराणा भीमसिंह ने अपनी पुत्री का विवाह रीवा किया था

और स्वयं महाराणा जवानसिंह ने भी गया से लौटते समय रीवाँ के कुँवर लक्ष्मणसिंह क पुत्री अचरज कुँवरि के साथ विवाह किया था। रीवाँ राज्य में ऐसे उत्तम कवि भी हुए जिन्होंने अपनी काव्य-रचना से काफी ख्याति अर्जित की है। महाराणा भीमसिंह ने भी री. के कवियों को, उनकी उत्कृष्ट काव्य-रचना से प्रभावित होकर, सम्मानित किया था जवानसिंह ने भी वि० सं० १८६४ में रीवाँ के महापात्र सबनाथ को उदयपुर जिले परगना ऊँठाला में गीलवाड़ा नामक गाँव पुन्यार्थ दिया था जिसका ताम्रपत्र इस प्रकार है—

॥ श्री रामोज अती ॥

श्री गणेस प्रसादातु श्री अेकलीय प्रसादातु

सही

भालो

महाराजाधीराज महाराणा श्री जवानसीघ जी आदेसातु माहापातर सबनाथ सरवेस जात भाटकस्य गाम गीलवाडो प्रगणे ऊठाला रे रेष रु: २००) दोये से ऊपज रुपआ ८००) आठ से री तीरी लागत बी लगत हासलभोग बराड नीम सीम रुष अष कुडा नवाण सब सुदो थाने ऊदक आघार श्री रामा अरपण करे तांबापत्र करे दीदो हे सो थे थारा बेटा पोता सपुत कपुत सुदो षाया पाया जाजो थासु कणी बात री चोलण वहे गान नही संवद त्रा प्रद आवा पुजे हरंती वसुन धावीसटी क्रजसट सराणी टा पुंग जापेदी करमी प्रत दुबे चोदरी हमेर लीषता पंचोली सुरतसीघ नाथु रामोत संवत १८५४ वर्षे मगसर बीद १२ सुकरै

(नृसिंहद्वारा, उदयपुर के महन्त श्री रामदास जी से साभार

महापात्र सबनाथ के वंशज उदयपुर में प्राय: धोली बावड़ी के रावजी श्री दुलहसिंह गोविन्दसिंह जी के यहाँ तथा दिल्ली दरवाजे के नृसिंहद्वारे वालों के यहाँ ठहरते थे। इस परम्परा में 'लालजी' कवि हुए हैं जिनका ४०-४५ वर्ष पूर्व ही देहावसान हुआ था। लाल ब्रजभाषा के उत्तम कवि थे। इनके रचे कुछेक छन्द नृसिंह द्वारा के महन्त रामदास संग्रह में मिले, जो यहाँ द्रष्टव्य हैं—

विशुद्ध नायिका के प्रति

कवित्त

संग मैं सहेलिन के विहँसति मंद मंद,
आइ चारु चंद्र चंद्रिका सी मंजुधर सौं।
संक भरी बैठी परजंक पै समिटि अंग
मोरि मुख कुचनि दुराये करवर सौं

लालजी' सुजान ललि ललकि लपेटि मुख
चूम्यो मधुराधर अनग रग भर सौं।
टूटी सिसकी कै चकि उचकि प्रभल फूटी,
नवल बधूटी पै न छूटी छैल कर सौं॥

गोपियों का वियोग-वर्णन

सवैया

यहै जोग बियोग कितेक बकौ वै संजोग ही कै उर आनती हैं।
हरि कै गुण मै अति बँधी-बँधी अपनो औ परायौ न जानती हैं।
रंगराती व पाती सु 'लालजी' को करमै सब है सुख सानती हैं।
वै तिया अब ऊधो तिहारी कोऊ ब्रज की बनिता नहीं मानती हैं॥

मुग्धा के प्रति

कवित्त

आनंद उमंग भरै सौरभ तरंग रंग,
रंगदार कौतुक अनंग संग सनि कै।
खंजरीट पन्नगी सुकीर कोकिलादि कन,
राखि इकठौर मै पठायौ गुन गनि कै।
बान धनु बिंब बिज्जु दाड़िम घटा द्वै धरि,
औरे और 'लालजी' करत ढंग ठनि कै।
चारु तिय तन को नगर अनुमानि आली,
जोबन बहार आयौ जादूगर बनि कै॥

नवोढा नायिका के प्रति

सवैया

नहिं तैल फुलेल सो मेल कछू अंतरादि गुलाबन पागति ना।
कर बूंद के धूरन चूरन सौं चित चंदन की रुचि जागति ना।
कहि 'लालजी' सुंदरी केशरि को सु मृगंमद की गति लागति ना।
यह कैसी अनोखी रंगी रंगना अंगना अंगराग मै रागति ना॥

कवि बखतराम आशिया को महाराणा ने माताजी की मेरड़ा नामक गाँव दिया। इनका लिखा 'कीरत प्रकास' ग्रन्थ प्रसिद्ध है। यह ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित है। इसमें महाराणा जवानसिंह का जीवन-चरित वर्णित है। प्रसिद्ध चारण कवि किसना आढ़ा को भी महाराणा जवानसिंह ने उदयपुर का 'जवान बाग' प्रदान किया था, जहाँ वर्तमान रेलवे ट्रेनिङ्ग स्कूल की इमारत बनी हुई है। यह बाग महाराणा ने अपने कुँवरपदे में दिया था। महाराणा की प्रशसा में किसना आढा के लिखे कुछ छन्द मिले हैं जो इस प्रकार है

अचरज आछा होणरो, किसू जवान कहांण ।
दादो अरसी दूठरल, भीम पिता कुल भांण ॥१

कड़ीयालां झणकार, सिंधु डंडालां सबद ।
रीझै राजकँवार, ठाकुर भडा जवांन सो ॥२

तप सुकृत दत तोख, भीमा जल कीधो भूयण ।
तिण रो फल तहतोख, जाहर कँवर जवानियो ॥३

कैलपुरां निकलंक, कुल आदू रघुवर कियो ।
निज कथ साच निसंक, जोतां कँवर जवानियो ॥४

घोड़ी जाया घूंमरा, सिवप्यारो सनमांन ।
रांणो जाया राजवी, ज्यांरो मुगट जवांन ॥५

वागां खाग जवान, ऐक हजारां आग मैं ।
ओडण तो असमान, भीमांणी ठांवै भुजां ॥६

मूंछ अणी मगरूर, घर हिन्दु रावण धरम ।
नयण जवांना नूर, रयजादा रजवाट रो ॥७

भड़ वखवाली भीत, सारकोट भांजण समां ।
जुध वेलां अगजीत, जोवण जिसौ जवांनियो ॥८

कहणा गुण कविराज, भारथ खगबाहा भड़ा ।
रै उडणा थजराज, यातां जवांन अरघणो ॥९

मांनसरोवर मांय, अटलक मोती ऊपजै ।
भीम घरे यण भाय, जाहर कँवर जवांनियो ॥१०

सीहां बालक सीह, जनमै गज भांजणा जसा ।
इसो जवांन अबीह, भीम तणो घर मलहले ॥११

—(लेखक के निजी संग्रह

१) हे जवानसिंह ! जिस कुल में सिंहस्वरूप तुम्हारे दादा अरिसिंह और
ह्मारे पिता भीमसिंह हों, उस कुल में तुम सब प्रकार से योग्य हो
(२) कड़ियों की झनकार करते हुए घोड़ों और सिंधुराग की आवाज तथा
ोद्धाओं पर राजकुमार जवानसिंह प्रसन्न होता है। (३) महाराणा भी
र तपस्या, अत्यधिक दान और पुण्य के कार्य किये। उसी का सुफल है वि
सिंह ने जन्म धारण किया। (४) हे केलपुरा ! तुम्हारे इस राजवंश को श्री
ही निष्कलङ्क बना दिया। कुंवर जवानसिंह को देखने से वह बात स
ानी जाती है (५) जिस प्रकार घोड़ी से पैदा हुए चक्राकृति दौड़ने वा
सम्मानीय है, उसी प्रकार रानियों से पैदा हुए राजकुमारों का मु

जवानसिंह है। (६) युद्धभूमि में जिस समय तलवारें चलती है, उस समय अकेला जवानसिंह एक सहस्त्र वीरों से युद्ध करने की चुनौती स्वीकार करता है और डगमगाते हुए आसमान को भीमसिंह का पुत्र ही अपनी भुजाओं पर थामता है। (७) युवराज जवानसिंह की मूछो की अणियों में हिन्दुधर्म को पृथ्वी पर रखने का गर्व है और नेत्रों में रजवट की कान्ति शोभायमान है। (८) युद्ध के समय में अपने योद्धाओं के लिए तो जवानसिंह मध्यस्थ दीवाल का काम करने वाला है और शत्रुओं के रक्षक लोह-कोट को तोड़ने वाला विश्वविजयी जवानसिंह देखने ही लायक है। (९) गुण-कथन करने वाले कवियों, रणाङ्गण में तलवार चलाने वाले योद्धाओं और उड़ने वाले घोड़ों का जवानसिंह आदर करता है। (१०) जिस प्रकार मानसरोवर में नहीं पैदा होने वाले मोती पैदा होते है, उसी प्रकार महाराणा भीमसिंह के घर मे प्रसिद्ध कुँवर जवानसिंह है। (११) हाथियों को नष्ट करने वाले सिंह के शावक सिंह ही पैदा होते हैं, उसी प्रकार निर्भय वीर जवानसिंह भीमसिंह के घर को दीपित करता है।]

काव्य-रचनाएँ

महाराणा जवानसिंह कविता में अपना नाम 'ब्रजराज' लिखते थे। इन्होंने क्रमबद्ध ग्रन्थ कोई नहीं लिखा, केवल फुटकर रचनाएँ लिखी है जो विषयवस्तु की दृष्टि से तीन भागो मे विभाजित की जा सकती है—(१) विनय (२) शृङ्गार और (३) पद।

विनय के छन्द—विनय के अन्तर्गत इनके लिखे गणेश, एकलिङ्ग शिव, राम, कृष्ण आदि के स्तुतिपरक छन्द मिलते हैं। इनका गुम्फन दोहा, कवित्त, सवैया तथा छप्पय में हुआ है। स्तुतियों के अलावा कवि ने दिन-रात विषय वासना में लिप्त रहने वाले अपने पापी, मूढ़मति, कपटी, कुटिल, कपूत और ढीठ मन को भी खूब कोसा है। मृत्यु के कगार पर खड़े जीवन की अन्तिम घड़ियाँ गिनते-गिनते कभी-कभी कवि का मन ग्लानि से भर जाता है और मनमोहन को नहीं भजने के पश्चात्ताप की गहरी घुटन में घुटता रहता है। अन्त मे सासारिक मोहमाया में डूबा कवि ईश-विश्वास की अन्तिम श्वास लिए अपने को ब्रजराज के भरोसे छोड़ देता है—

कवित्त

बालकपनैं मैं नित खेल मैं बिताये दिन,
जोबन को पाय बिखै मारग घटायौ नां।
वृद्ध हू भये तें जरा आय कें अत्यंत भई,
तोहू 'ब्रजराज' हू को ध्यांन उर लायौ नां।
आन के अचानक ही काल तन घेर्यौ जब,
तब तो उपाय कछु चित्त पै दिखायौ नां।
अरे सुनि डूब रह्यौ पाप के समुद्र ही मैं,
धिक मन तौकौं मनमोहन को गायौ नां

सवैया

बूड़ रह्यौ भवसागर मैं अवलंबन और कछू न खरो जू ।
मोह जंजाल बिकार सबै तन की तुम स्याम सुपीर हरो जू ।
दीनदयाल दया करिकै अपनैं अद की सुधि ना बिसरो जू ।
एक बिसास रही मन आस जु श्री ब्रजराज सहाय करो जू ।।

श्रृङ्गार के छन्द—श्रृङ्गार में वर्षाऋतु वर्णन, कृष्णजन्मोत्सव, उद्धव-आगमन, नेत्र, वशी, मुख, दम्पति-वर्णन एवं विविध नायिका विषयक रचनाएँ उल्लेखनीय हैं। नायिकाओं में मध्याधीरा, रूपगर्विता, मुग्धा अभिसारिका, कुलटा, खण्डिता, संयोगदु:खिता, कलहंतारिता, मानवती, प्रोषितपतिका, आगतपतिका, परकीयाप्रोषितपतिका, स्वप्नदर्शन तथा विरहिणी आदि का चित्राङ्कन बड़ी सुन्दरता से किया गया है।

नेत्रों की उपमा प्रायः खञ्जन, मीन, कञ्ज तथा कुरङ्ग से दी जाती रही है। यहाँ भी कवि ने परम्परागत इन्हीं उपमानों का आश्रय लिया है; परन्तु एक साथ 'खंजन से तिच्छन, मीन से चपल, कंज से विसाल और कुरंग से काले' कहकर अनोखी सूझ प्रस्तुत की है। राधिका के 'लाज भरे आलस भरै छकै प्रेम मद मैन' नयनों ने काम के कमान से ऐसे तीर छोड़े कि श्याम घायल हो हतप्रभ होगये—

तेरे ही कटाछ ही सौं घायल भये हैं श्याम, चल री निहार अति व्याकुल अहीर हैं।
अरी ब्रषभान की कुमारी राधे बैन सुन, तेरै नैन काम की कमान के से तीर हैं ।।

मोहन की बाँसुरिया में भी न जाने कौन-सा जादू है कि उसकी एक तान ही ब्रज की सभी बालाओं में बेचैनी पैदा कर देती है। मालूम पड़ता है, यह मुरली न होकर 'कछु इक बड़ी बलाइ' है।

मोहन कर मुरली नहीं, कछु इक बड़ी बलाइ।
या ब्रज की सब ब्रजबधू, सुनि धुनि अति अकुलाइ ।।

जब से श्याम गये हैं, सभी ब्रज-वनिताएँ सुध-बुध खो बैठी हैं। चाँद और चन्दन, अङ्गारों से लग रहे है। उनके अङ्ग-अङ्ग में अनङ्ग चुटकियाँ भर रहा है। उन्हें तन-रोग हो आया है और उनका देश भी उन्हें विदेश-सा लग रहा है। विरह की उद्दाम भावनाओं के कुछ स्थल अवलोकनीय हैं—

जा दिन तैं बिछुरैं तुम श्याम सु,
ता दिन तें तन रोग भयौ है।

×

बोलत नाहि सखीजन सौं,
अति अंग अनंग मरौर लयौ है।

×

जा दिन स्याम चले परदेश
सुदेश विदेश भयो सखि मेरे।

×

स्यांम सुजान बिना सुन री,
यह चन्द जुन्हाइ उन्हाइ सी लागै।

उद्धव के आगमन पर गोपियों को कुछ तसल्ली मिली। सभी आनन्द में उमग पड़ी स्याम की सुधि पूछते-पूछते कितनी ही गङ्गा-यमुनाएँ उमड़ पड़ीं। गोपिकाएँ खोद-खोद क कृष्ण की खबर चाहने लगीं, मगर उद्धव अपने ही ज्ञान की शेखी बघारने में अपनी पण्डिता दिखाने लगे। फलतः गोपिकाओं ने उन्हें आड़े हाथों लेना आरम्भ कर दिया—

पहलैं लगाय प्रीत रीत ही बताई स्यांम, कुंजन मैं अंग संग रंग बरसाये हैं।
कपटी कठोर कहा जानैं पर पीर ही मैं, करिकै बिसासघात मधुपुर छाये हैं।
चेरी बस भये रहत हम जानत हैं, काहे कौं दुरावौ तिय रूप मैं लुभाये हैं।
उधौ तुम आये बात भली बतराये हरि, नेह कौं दुराये ग्यान देन कौं पठाये हैं।

प्रातः होते-होते एक दिन नायिका की निगाह कृष्ण की पाघ (पगड़ी) के खुले पेचो प चली गई। तुरन्त ही वह पूछ बैठी—'नैनन मैं नींद कहो कौन सी तिया बरी!' और उ 'कपटी किसोर चोर ठौर-ठौर हू का मित' कहकर दो-चार खरी खोटी सुना दी।

नायिकाओं के वर्णन में प्रायः सभी नायिकाएँ अपने स्वाभाविक रूप में खुलकर साम आई हैं। इस सन्दर्भ में कुलटा नायिका को देखिये—

मोहत नगर ग्रह ग्रह के सकल छैल,
गैल मैं खरी है रस बातैं बतरावै हैं।
निडर निसंक संक काहू की न आनै अंग,
रंग सौं अनेकन सौं नैनन मिलावै हैं।
अचरा न राखै तनमन मैं गुमान लिये,
कियैं बिभचार औ अनंग नित भावै हैं।
बांह कौ डुलावै चावैं जगकौ रिझावै गावै,
ऐसे यह लच्छन सौ कुलटा कहावै है॥

एक बानगी और लीजिये—

नैनन मिलाय अति जोबन जनाय आली,
मोह्यौ नंदलाल चित प्रीत कौ लगाई है।
भूषन दुराय अंग अंग मसलाय सुनि
तेरी उर बीच नख रेख छबि छाई है।

अधर दबाय रस पाय मनमोहन को
कञ्चुको फराय सब रीत दरसाई है।
बात कौं पठाई तन आग सी लगाई मेरे,
साँझ कौं रिझाय अगसीस पाय आई है॥

'व्रजराज' का यह नायक-नायिका वर्णन देव, बिहारी, मतिराम, पद्माकर, नटनागर और घनानन्द के नायक-नायिका वर्णन की होड़ में अपनी विशेष 'जोड़' की छाप तो छोड़ता ही है, साथ ही हमें एक ऐसा 'मोड़' भी देता है कि जहाँ से झाँकना हर कोई के बस की बात नहीं है।

पद

'व्रजराज' द्वारा लिखित रचनाओं में सर्वाधिक संख्या पदों की मिलती है। ये पद विविध तालों एवं रागों में लिखे गये हैं। ये राग इस प्रकार हैं—(१) अड़ाणो (२) आसावरी (३) कल्याण (४) काफी (५) कानड़ौ (६) कालिंगड़ा (७) केरवो (८) खुमायची (९) षट (१०) गरबी (११) गूँडमलार (१२) गोड़ी (१३) धनासरी (१४) चौताला (१५) जैजैवन्ती (१६) जंगलौ (१७) जंगला री ठुमरी (१८) झींझोटी (१९) ठुमरी (२०) ठुमरी हिंडोरो (२१) देव गन्धार (२२) नाअेकी (२३) परज (२४) पूरबी (२५) पूरबी चौतालो (२६) बसन्त (२७) बिलावल (२८) भैरवी (२९ मलार (३०) मलार हिंडोरो (३१) मारू (३२) रेखतौ (३३) ललित (३४) लूहर्यो (३५) लूहर्यो सारङ्ग (३६) विहङ्ग (३७) विहाग (३८) विहङ्ग ठुमरी (३९) सारङ्ग (४०) सोरठ (४१) सोरठ मलार (४२) सोरठ खुमायची तथा (४३) हिंडोरो।

ये पद मुख्यत: शृङ्गार और भक्ति विषयक हैं। इसके अलावा सांसारिक क्षणभंगुरता, जादूटोना, कामण, मान-रिझावन, ओलूं, ओलम्बा, बाँसुरी, साँझीपूजन, दीन भावना, नटनागर की छल-छेड़, विरह, व्रजराज की रूपलावण्यता, माखनचोरी, झूलों की बहार तथा मान के पद भी यत्र-तत्र मिलते हैं। कुछ पद इस सन्दर्भ में द्रष्टव्य हैं :—

(१) हेरी मैं कैसे जमुना जावौं री गैल बिच छैल खरौ है।
कहत न सकत बचन कछु बिनतें चित ही मैं अकुलावौं री।
बहियां मरोर तोर कस मेरी नीर भरन नहिं पावौं री।
श्री व्रजराज रसिक कौ छलबल क्यों करि तोहि सुनावौं री॥

(२) गिरधर क्यों न गहौ कर मेरौ।
दीनदायल सहायक नित ही मैं चरनन कौ चेरौ।
दुसट दमंत अनेकन कौ तुम करहौ बेग नवेरौ।
काम करोध लोभ मद मत्सर इनको आन तम्यो चित घेरौ।
श्री सरन मैं आयो वत्सल अब तेरौ

ाषा

महाराणा जवानसिंह ने अपनी रचनाएँ ब्रजभाषा में लिखी हैं, परन्तु जहाँ तक पदो ा सवाल है, वे राजस्थानी मिश्रित ब्रजभाषा में लिखे गये हैं। कहीं-कही ठेठ मेवाड़ी का योग भी स्वाभाविक रूप से देखने को मिलता है। यथा—

(१) अरज करांछां म्हांरा मैल्हा आज्यौ
(२) कांई म्हांसूं मांन करो मृगानेणी
(३) कांई करो मनुहार म्हांसूं म्है तो थांरा दल री जाणी

इन पदों में कहीं-कहीं पञ्जाबी और खड़ीबोली का रङ्ग भी देखने में आता है—

(१) चरणां दी दासी साहीबा जनम-जनम री आप कियाँ की प्रीत निभाज्यौ (पंजाबी)
(२) अविद्या बहुत करता है। हरि सौं नाहि डरता है। (खड़ीबोली)

उर्दू की गज़ल शैली पर भी 'ब्रजराज' ने एकाध रेखतो लिखे हैं। इसी प्रकार इन्होंने जराती में गरबी भी लिखी है। इससे ज्ञात होता है कि इन्हें उर्दू तथा गुजराती भाषा की ो अच्छी जानकारी थी। गुजराती में लिखी गरबी का नमूना लीजिये—

खड़ी भली रलीयांवणीं जी रे
आली जमुनाये तीर सुहावणी जी रे
कसन जी नो यां आवणो जी रे
मधुरी सी मुरली बजावणो जी रे
हियें सोचें घणूं ने कलपो घणी जी रे
नैणे लाधो नथी ब्रजनौ घणी जी रे

राजस्थान में मीराँबाई, महाराणा जसवन्तसिंह, वृन्द, कुलपति मिश्र, सोमनाथ, ागरीदास, सूदन, पद्माकर आदि अनेकानेक कवि हुए हैं जिन्होंने ब्रजभाषा-साहित्य के निर्माण ा अपूर्व योगदान दिया है। 'ब्रजराज' भी इसी कवि-शृङ्खला की एक कड़ी हैं। यद्यपि इनकी चना परिमाण में बहुत अधिक नहीं हैं, पर जितनी भी है, वह साहित्य की दृष्टि से उच्च-ोटि की और हिन्दी साहित्य के गौरव को बढ़ाने वाली है।

चार

'महाभारत' में राज्योत्तराधिकार के प्रश्न पर जनमत

ओम प्रकाश

प्राचीन भारत में जनमत की प्रतिष्ठा गणतन्त्रात्मक राज्यों के अस्तित्व से ही सिद्ध हो जाती है। किन्तु जब एक ही भूभाग में कुछ राज्य गणतन्त्रात्मक हों और कुछ राजतन्त्रात्मक, तो यह अस्वाभाविक-सा लगता है कि वे वैचारिक स्तर पर एक-दूसरे को प्रभावित न करें। गणतन्त्र का आधार है जनमत और राजतन्त्र का राजवंश की श्रेष्ठता। कदाचित् राजतन्त्र के आधारभूत तत्त्व का ही यह प्रभाव है कि प्राचीन भारत के सभी गणतन्त्र पूर्णरूप से गणतन्त्र नहीं कहे जा सकते। उनमें से कुछ में सत्ता सम्पूर्ण जनता के हाथ में न होकर प्रायः शासकीय वर्ग के हाथों में हुआ करती थी। यही कारण है कि विद्वान् लोग उनमें से कुछ को तो गणतन्त्रात्मक राज्य कहते हैं और कुछ को अभिजातवर्गीय राज्य। अन्य गणतन्त्रों के बारे में तो मतभेद भी हो सकता है किन्तु ऐसे गणतन्त्र जिनको 'कुल' या 'कुल सङ्घ' कहा गया है, निश्चय ही अभिजातवर्गीय गणतन्त्र थे।[1] किन्तु राजतान्त्रिक परिपाटी पर गणतन्त्र के आधारभूततत्त्व जनमत का क्या प्रभाव पड़ा, यह बात अभी तक निश्चित नहीं हो पायी है।

यदि हम डॉक्टर काशीप्रसाद जायसवाल की सम्मति मानें तो कह सकते हैं कि पौर-जानपद की लोकमत निर्णायक सभाएँ राजतन्त्र पर गणतन्त्र के प्रभाव की परिणाम हैं।[2] परन्तु आज के विद्वत्समाज की दृष्टि में पौर जानपद की जनमत निर्देशक सभाओं का अस्तित्व ही समाप्त हो गया है। डॉक्टर अनन्त सदाशिव अल्तेकर ने जायसवाल जी के पौर-जानपद सम्बन्धी मत को उसके विपक्ष में साक्ष्य देकर पहले ही धराशायी कर दिया है (माडर्न रिव्यू, फरवरी १६२०, पृष्ठ १२०-१३६)। डॉक्टर रमेशचन्द्र मजुमदार ने राज्य के उत्तराधिकार के प्रश्न पर जनमत द्वारा राजा के चुनाव से सम्बन्धित, वेदों से लेकर आठवीं शती ईसवी तक के साहित्यिक तथा शिलालेखिक स्रोतों से अनेक साक्ष्य एकत्र किया है। इन साक्ष्यों के विस्तृत विश्लेषण के अनन्तर वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि लगभग ईसा की आठवीं शताब्दी तक राजा के चुनाव के प्रश्न पर जनमत का एक विशेष स्थान था या दूसरे शब्दों में भावी राजा का निर्णय जनमत द्वारा ही होता था।[3] किन्तु मजुमदार के इस मत का भी परीक्षण अल्तेकर ने किया है और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि जनमत द्वारा राजा के चुनाव सम्बन्धी सारे साक्ष्य एक शिष्टाचार मात्र थे और उत्तराधिकारी, पूर्व राजा

या उसके मन्त्रियों द्वारा पहले ही निश्चित कर लिया जाता था और जनता केवल उस निर्णय का मूक अनुमोदन मात्र कर देती थी। यह बात जनमत की शक्ति के बाहर थी कि वह मन्त्रियों अथवा राजा के पूर्व निर्णय को संशोधित कर सके या बदल सके। इस प्रकार जनमत की स्वीकृति की आवश्यकता होते हुए भी राज्य के उत्तराधिकार के प्रश्न पर उसका कोई महत्त्व नहीं था।[४]

मजुमदार के मत के परीक्षण के पश्चात् जिस निष्कर्ष पर अल्तेकर पहुँचे हैं, अन्य साक्ष्यों के विषय में वह चाहे जैसा हो, किन्तु 'महाभारत' से उद्धृत साक्ष्यों के सम्बन्ध में उसकी सत्यता प्रमाणित नहीं होती। यदि हम मजुमदार द्वारा अपने पक्ष की पुष्टि के लिए उपयोग में लाये गये ययाति-उपाख्यान के अंश को उसी ग्रन्थ के तत्सम्बन्धी अन्य अवतरणों के साथ देखे तो यह बात एकदम स्पष्ट हो जाती है कि जनमत का कार्य पूर्व निर्णीत उत्तराधिकारी का मूक अनुमोदन मात्र नही था। प्रस्तुत लेख में 'महाभारत' के अन्य साक्ष्यों के आधार पर अल्तेकर के मत का पुनर्परीक्षण ही अभीष्ट है।

अपने मत का प्रपिपादन करते हुए डॉक्टर रमेशचन्द्र मजुमदार ने 'ययाति-उपाख्यान' से पुरु के अभिषेक के अवसर पर प्रजा द्वारा की जानेवाली आपत्ति को उद्धृत किया है। आपत्ति प्रकट करते हुए प्रमुख वर्ण ब्राह्मण कहते हैं—"हे प्रभो! आप कैसे शुक्राचार्य के पौत्र तथा देवयानी के पुत्र यदु का अतिक्रमण करके पुरु को राज्य देना चाहते हैं? यदु आपका ज्येष्ठ पुत्र है, उसके अनन्तर तुर्वस का जन्म हुआ है और तब शर्मिष्ठा का पुत्र द्रुह्यु, तदनन्तर अनु और सबसे बाद में पुरु उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार सभी ज्येष्ठ पुत्रों का अतिक्रमण करके आप कैसे सबसे छोटे पुत्र का अभिषेक कर सकते हैं? हम लोग आपको सावधान करते है और निवेदन करते हैं कि आप धर्म का पालन करें।"[५] डॉक्टर अल्तेकर ने इस साक्ष्य का खण्डन करते हुए विपक्ष में ययाति द्वारा इस प्रश्न के दिए हुए उत्तर को उद्धृत किया है जो इस प्रकार है :—"हे ब्राह्मण प्रमुख वर्ण! आप सभी मेरी बात सुनें। मैं बताता हूँ कि मै किस कारण से अपने पुत्रों में से किसी को राज्य नहीं दे रहा हूँ। मेरे ज्येष्ठ पुत्र यदु ने मेरी इच्छा का पालन नहीं किया। सज्जनों का यह मत है कि पिता के प्रतिकूल चलने वाला पुत्र नहीं होता। माता-पिता के पथ्य स्वरूप हितकारी वचनों का जो पुत्र पालन तथा उनकी इच्छानुसार आचरण करे, वही वास्तव में पुत्र कहा जाता है। यदु के द्वारा मैं अपमानित हुआ और तुर्वस, अनु तथा द्रुह्यु ने भी मेरी प्रभूत अवज्ञा की, किन्तु पुरु ने ही मेरे वचनों का पालन किया। अतः वही मेरा उत्तराधिकारी है। उसने मेरी इच्छानुसार मेरी वृद्धावस्था को मेरे लिए धारण किया। मित्र रूपी पुरु ने ही मेरी कामना पूरी की। शुक्र ने भी यह वर दिया था कि जो पुत्र तुम्हारे अनुकूल आचरण करेगा, वही राजा होगा। उनके इस वरदान का निवेदन मैंने आप लोगों से किया और आप लोग पुरु को इस राज्य पर अभिषिक्त करें।"[६] उनके इस उत्तर से सन्तुष्ट होकर पौर जानपदों ने पुरु के राज्याभिषेक की अनुमति दे दी और राजा ने यथासमय उसका राज्याभिषेक किया।

ययाति के इस उत्तर से प्रजाजनों के सन्तुष्ट हो जाने के कारण अल्तेकर महोदय यह निष्कर्ष निकालते है कि के प्रश्न पर जनमत का अधिकार नाममात्र के लिये

ही था। परन्तु उनका यह निष्कर्ष अधिक निक॰ परीक्षण से तत्सम्बन्धी अन्य साक्ष्यों के विपक्ष में जाने के कारण प्रमाणित नहीं हो पाता।

इस सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि प्रजाजनों की सन्तुष्टि का प्रधान कारण राजा का तर्क न हो कर शुक्र का वरदान है। क्योंकि प्रजाजन कहते हैं कि शुक्र के वरदान के कारण हम लोग इस सम्बन्ध में और कुछ कहने में समर्थ नहीं हैं।[७] इस समस्या का निर्णयात्मक हल 'महाभारत' की प्रधान कथा में घटी हुई कुछ अन्य घटनाओं के आधार पर किया जा सकता है।

शिक्षा-दीक्षा पूरी होने के अनन्तर पाण्डव अपने गुणों से प्रजा को प्रभावित करने लगे। पाण्डवों पर प्रजा का अनुराग इतना बढ़ा कि वे अपनी सभाओं में इस प्रकार की बातें करने लगे—"अन्धे होने के कारण प्रज्ञाचक्षु धृतराष्ट्र को जब पहले राज्य नहीं मिल सका तो वे अब राजा कैसे हो सकते हैं ? शान्तनु के पुत्र भीष्म महान् व्रतधारी तथा सत्यवादी हैं। किंतु एक बार राज्य का तिरस्कार करके वे उसे पुन: कैसे ग्रहण कर सकते हैं ? अतएव हम लोग पाण्डवों में ज्येष्ठ, तरुण, विनीत तथा करुणाशील युधिष्ठिर का अभिषेक कर के राजा बनायेंगे। वे धर्मवान् पितामह भीष्म और पुत्रों सहित धृतराष्ट्र को अनेकों राजकीय भोगों द्वारा तृप्त करेंगे।"[८] यदि प्रजा को उत्तराधिकार के निर्णय का अधिकार न होता और यदि वे अपने को इस बात में समर्थ न समझते कि वे वर्तमान राजा धृतराष्ट्र को पुत्रों सहित सिंहासन से वञ्चित कर सकेंगे तो वे इस प्रकार की बातें कदापि न करते। और फिर अपनी सभाओं में ?

इस बात की पुष्टि प्रजाजनों को इस धारणा से कौरवों में हुई प्रतिक्रिया से भी होती है। प्रजाजनों की ऐसी बातें सुनकर दुर्योधन को बड़ा दुख हुआ। ईर्ष्या से जलता हुआ वह धृतराष्ट्र के पास पहुँचा और कहने लगा—"हे पिता, मैंने पौरों द्वारा कही हुई अकल्याणकारिणी वाणी सुनी है। वे आपको और पितामह भीष्म को सिंहासनाधिकार से वञ्चित करके पाण्डवों को राजा बनाना चाहते हैं। पितामह भीष्म का तो यह प्रण ही है कि वे राज्य नहीं करेंगे और इस प्रकार पुरवासी जन अपनी इस धारणा से हम लोगों को ही महान् पीड़ा पहुँचाना चाहते हैं। उनका कथन है कि पाण्डु ने अपने गुणों के कारण पैतृक राज्य प्राप्त किया था और आप जन्मान्ध होने के कारण ज्येष्ठ होते हुए भी इससे वञ्चित किये गये। इस प्रकार यह राज्य पाण्डवों का ही उपयुक्त उत्तराधिकार है और उन्हें तथा उनके पुत्रों को यह अवश्य मिलना चाहिये।[९] इस तरह हम लोग पुत्रों सहित राज्याधिकार से सदैव के लिये वञ्चित होकर संसार में अपमानास्पद हो जायँगे। अतएव आप ऐसी नीति का विधान करें जिससे निरन्तर कष्ट को प्राप्त होकर हम लोग दूसरो द्वारा दिये गये पिण्डों पर आश्रित जीविका वाले न हो जायँ। यदि आपको यह राज्य पहले ही मिल चुका है तो हम लोग जनता को विवश करके इस राज्य का निश्चय ही उपभोग करेंगे।"[१०] दुर्योधन के इस प्रकार के भय से भी यह स्पष्ट द्योतित होता है कि प्रजा को उत्तराधिकार के विषय में अन्तिम निर्णय देने का पूरा अधिकार था

जहाँ तक जनता को विवश करने का प्रश्न है, सन्दर्भ से सूचित होता है कि इसका तात्पर्य जनता को बलपूर्वक दबाकर किसी अन्यायपूर्ण निर्णय को मनवा लेना नहीं है। इस बात की पुष्टि धृतराष्ट्र द्वारा व्यक्त की गयी शङ्का से होती है। दुर्योधन, कर्ण, शकुनि तथा दुःशासन द्वारा प्रस्तुत पाण्डवों को वारणावत भेज देने के प्रस्ताव को सुनकर धृतराष्ट्र कहते है—"महाराज पाण्डु, ज्ञातियों के तथा विशेषकर मेरे प्रति सदैव धर्मपूर्ण व्यवहार करते थे। वे सदैव अपना राज्य मुझे निवेदित किया करते थे। उनका पुत्र युधिष्ठिर भी पाण्डु के ही समान गुणवान् तथा प्रजाप्रिय है। उसके सहायकों के होते हुए उसे हम कैसे बलपूर्वक उसके पैतृक राज्य से अलग कर सकते हैं। महाराज पाण्डु ने मन्त्रियों का और पुत्र तथा पौत्रों सहित सेना का भरण-पोषण किया है। उन्होंने नागरिकों का भी खूब आदर सत्कार किया है। पाण्डु द्वारा अनुगृहीत ये लोग ऐसा करने पर क्या हमें युधिष्ठिर के लिए बन्धु-बान्धवों सहित मार न डालेंगे ?"[११] धृतराष्ट्र की इस शङ्का से स्पष्ट प्रतीत होता है कि प्रजा का प्रजा पर अत्याचार करने वाले राजा को न केवल पागल कुत्ते की भाँति घेर कर मार डालने का अधिकार था[१२] अपितु राजवंश के लोगों के अधिकारों को अन्यायपूर्वक हड़प लेने पर भी प्रजा विद्रोह करके अन्यायी का हनन कर सकती थी। उनकी इस शङ्का का अनुमोदन करते हुए दुर्योधन भी कहता है कि "अर्थ और मान द्वारा पूँजी गयी प्रकृतियों[१३] को देखकर मुझे भी यही शङ्का होती है। किन्तु इन्हीं उपायों से (अर्थ और मान) वे निश्चय ही हम लोगों की ओर हो जायँगी। क्योंकि हे राजन्! सम्पूर्ण मन्त्रिमण्डल अर्थसाध्य होकर आज मेरा वशवर्ती है। इसलिए आपको चाहिए कि किसी मृदु उपाय से (बलपूर्वक नहीं) पाण्डवों को निर्वासित करके उन्हें वारणावत भेज दें और प्रकृतियों के मेरी वशवर्तिनी हो जाने पर उन्हे फिर बुला लें।"[१४] इन कथनोपकथनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि जनता को विवश करने का तात्पर्य उसे बलपूर्वक बाध्यकर किसी अन्यायपूर्ण निर्णय को मनवा लेने का नहीं था। उसे केवल छल में डालकर प्रलोभन आदि उपायों द्वारा अपना अभीष्ट सिद्ध करने का था।

अन्ततोगत्वा जब पाण्डव वारणावत जाने लगते हैं तो कुछ निर्भय ब्राह्मण खुले रूप में धृतराष्ट्र की भर्त्सना करते हैं[१५] और सभी नगर छोड़ कर पाण्डवों के साथ जाने को तैयार हो जाते हैं। किन्तु युधिष्ठिर समझा-बुझाकर उन्हें किसी प्रकार वापस लौटाते हैं।[१६]

उपर्युक्त साक्ष्यों के आधार पर यद्यपि यह कहना कठिन है कि जनता राजा का निर्वाचन करती थी, किन्तु यह तो स्पष्ट ही प्रमाणित हो जाता है कि महाभारत-काल मे जनता को राजवंश के अन्तर्गत न्याय्य उत्तराधिकारी के अधिकारों की रक्षा का पूर्ण अधिकार था। इसमें राज्य की अन्य प्रकृतियाँ भी उसकी सहायता कर सकती थीं। इसके लिए वह विद्रोह तक कर सकती थी जैसा कि धृतराष्ट्र की उपर्युक्त शंका से स्पष्ट होता है। किन्तु एक छलपूर्ण नीति के समक्ष जनता विद्रोह नहीं कर सकती थी, क्योंकि ऐसी अवस्था में अन्याय का समर्थन बल से न करके छलपूर्वक और उस पर न्याय का आवरण चढ़ाकर किया जाता था। ऐसी परिस्थिति में जनता ने स्वतन्त्रतापूर्वक धृतराष्ट्र की खुली भर्त्सना तथा पाण्डवो के अनुगमन का मार्ग खोजा। किन्तु स्वयं पाण्डवों द्वारा रोके जाने पर उन्हें अपने सङ्कल्प से विरत होना पड़ा

इस प्रकार राजतन्त्र में उत्तराधिकार के निर्णय के विषय में जनमत का एक प्रमुख स्थान था तथा जनता को राजवंश में से ही एक धार्मिक राजा चुनने का पूर्ण अधिकार था। यह चुनाव प्रचलित नियमों के अनुसार ही होता था। इन नियमों के भङ्ग होने पर जनता आपत्ति करती थी और अधिक से अधिक विद्रोह और अन्यायी को मार डालने की सीमा तक पहुँच सकती थी। अल्तेकर महोदय की यह धारणा कि यह अधिकार जनता के नाम मात्र के लिये ही था, इस प्रसंग में भ्रामक सिद्ध होती है। किन्तु मजुमदार के मत को भी इस प्रसङ्ग से पूर्ण बल नहीं मिलता, क्योंकि जनता राजा-निर्वाचन नहीं करती थी वरन् राजवंश में से ही एक धर्म्य और न्याय्य उत्तराधिकारी का प्रचलित नियमों के अनुसार वरण करती थी।

सन्दर्भ-सङ्केत

(१) कुलस्य हि भवेद्राज्यं कुलसंघो हि दुर्जयः।
अबाधव्यसनाबाधः शश्वदावसतिक्षितिम् ॥अर्थशास्त्र १-१७-१३

(२) काशीप्रसाद जायसवाल : हिन्दू पालिटी, पृष्ठ ६०-१०८ (३) रमेशचन्द्र मजुमदार : कारपोरेट लाइफ़ इन ऐंशियण्ट इण्डिया, पृष्ठ ३७-४५ (४) अनन्त सदाशिव अल्तेकर : स्टेट ऐण्ड गवर्नमेण्ट इन ऐंशियण्ट इण्डिया, पृष्ठ ८१-८४ (५) महाभारत, आदि० ८५।१६-२२ (६) वही, ८५।२३-२५; ३२

(७) वरदानेन शुक्रस्य न शक्यं वक्तुमुत्तरम् ।।—महाभारत, आदि० ८५।३१

(८) महाभारत, आदि० १४०।२४-२८ (९) प्राचीन भारत में राजकीय उत्तराधिकार का अधिक प्रचलित नियम यह था कि पूर्व राजा का ज्येष्ठ पुत्र ही राज्य का उत्तराधिकारी होगा। भाइयों के पुत्रों तथा कनिष्ठ पुत्रों का उस पर अधिकार नहीं माना जाता था। जन्मान्धता, असाध्य रोग या अन्य कोई दोष ज्येष्ठ उत्तराधिकारी को अपने अधिकार से वञ्चित कर देता था। इस नियम के अनुसार धृतराष्ट्र का सिंहासन पर कोई अधिकार नहीं था और इसीलिए उनके पुत्रों का भी। फिर धृतराष्ट्र और पाण्डु के सभी पुत्रों में युधिष्ठिर सबसे बड़े थे। (१०) महाभारत, आदि पर्व १४०।२९-३८ (११) वही, १४१।६-११

(१२) अहं वो रक्षितेत्युक्त्वा यो न रक्षति भूमिपः।
तं संहत्य निहन्तव्यः श्वेव उन्माद आतुरः ॥ महाभारत, अनुशासन० ६१।२३

(१३) प्रकृतियों से तात्पर्य राज्य के विभिन्न अंगों से है। (१४) महाभारत, आदि० १४१।१२-१५ (१५) वही, १४४।५-७, १० (१६) वही, १४४।१३।

पाँच

•

हिन्दी नाटक में हास्य की उपलब्धियाँ

•

शान्ता रानी

साहित्य जीवन की अभिव्यक्ति का माध्यम है। यह अभिव्यक्ति शैलियों के अनुसार अनेकानेक रूप ग्रहण कर सकती है। हिन्दी साहित्य में भी विविध रसों के अन्तर्गत जीवन के विविध रूपों का उद्घाटन किया गया है। आदिकाल से लेकर आधुनिककाल तक सहस्रमुखी सरिताओं की भाँति हिन्दी की अनेकानेक शैलियाँ अग्रसर होती रही हैं। आदिकाल में युद्धों की आतङ्ककारिणी परिस्थितियाँ वीररस के रूप में हिन्दी के आवेश और उत्साह की अभिव्यञ्जना करती रहीं, भक्तिकाल में जीवन का उन्मेष आध्यात्मिक क्षेत्र मे प्रस्फुटित हुआ और रीतिकाल में शृङ्गार की अनेकानेक प्रवृतियों ने हिन्दी-साहित्य को कामदेव के पञ्चबाणों के रूप में परिवर्तित कर दिया। आधुनिककाल में ज्ञान-विज्ञान के विकास के साथ जीवन की वृत्तियाँ एक व्यापक क्षेत्र में संचरण करने लगीं और हिन्दी-साहित्य में वे उस इन्द्रधनुषी रेखा के रूप में प्रस्फुटित हुई जिसमें जीवन के सभी रङ्गों का रूप-विन्यास अङ्कित हुआ।

यह ध्यान देने की बात है कि हिन्दी में जिस तत्परता और मनोयोग से अन्य रसो की अभिव्यक्ति हो सकी है, वैसी ही अभिव्यक्ति हास्यरस के सम्बन्ध में अभी तक नहीं हो सकी है। ऐसा ज्ञात होता है कि हिन्दी-साहित्य के पूर्ववर्ती सभी कालों में तत्कालीन राजनीतिक, धार्मिक तथा सामाजिक परिस्थितियों के कारण हास्य रस अपने स्वाभाविक रूप मे नहीं उभर सका और वह प्रमुख विचार-धाराओं के वशवर्ती होकर गौण बनकर रह गया। आधुनिक युग में जब ज्ञान के विविध क्षेत्रों में मानव मन परिभ्रमण करने लगा, तब हास्य के क्षेत्र में भी उसकी गति परिलक्षित हुई और अन्य रसों के साथ ही साथ हास्य रस का विकास सम्यक् रूप से हुआ।

आचार्य भरत ने अपने 'नाट्यशास्त्र' में हास्य रस की परिस्थितियाँ परिगणित की है, किन्तु उनका हास्य दृश्य-काव्य के लिए ही नियोजित हुआ था। जीवन की सामान्य परिस्थितियों में हास्य किस प्रकार अंकुरित होना चाहिए, इसका विवेचन उनके परवर्ती आचार्यों द्वारा सम्भव नहीं हुआ। हास्य रस के विविध अङ्गों को ध्यान में रखते हुए स्थायी भाव विभाव, अनुभाव, सञ्चारी भाव आदि की गणना भले ही की गई हो, किन्तु उसके

उदाहरणों में यह रस पर्याप्त रूप से अपना विकास नहीं कर सका। यही कारण है कि जहाँ साहित्य के अन्य रसों का विकास सम्यक् रूप से होता रहा, वहाँ हास्यरस अत्यन्त सामान्य स्थिति में संकुचित होकर रह गया।

हास्य के विकास की सम्भावनाएँ पाश्चात्य साहित्य के सम्पर्क से गतिशील हुईं। जीवन जब वस्तुवाद में केन्द्रीभूत हुआ तो उसका स्वाभाविक दृष्टिकोण प्रत्येक वस्तु में अन्तर्निहित होकर उसे अनुभवों की भावभूमि पर ले आया। यह भावभूमि अधिकतर मनोविज्ञान से ही परिचालित हुई और इस प्रकार हास्य के समस्त कार्य-कलाप इतने सहज रूप से अभिव्यक्त हुए कि उनमें हास्य की सम्भावना अधिकाधिक हो गई। जीवन की अनेक समस्याएँ जो बुद्धि और तर्क को चुनौती देती हुई समाधान प्राप्त नहीं कर सकती थी, वे हास्य के आश्रय से सरलतापूर्वक सुलझ सकीं। इसका रेखाचित्र इस प्रकार दिया जा सकता है :—

जीवन → वस्तुवादी दृष्टिकोण } समस्याएँ — → तर्क / → बुद्धि } हास्य
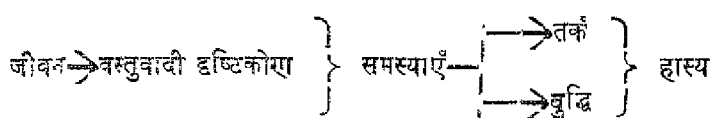
सन् १८५७ के प्रथम भारतीय स्वातंत्र्य संग्राम के उपरान्त जब भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक जीवन को व्यावहारिक दृष्टिकोण से देखा तो उनके समक्ष अनेक प्रकार की समस्याएँ उपस्थित हुईं और उन्होंने उन समस्याओं को मनोवैज्ञानिक ढङ्ग से सुलझाना उचित समझा। उनका यह मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण समस्याओं को सुलझाने का एक सशक्त प्रयत्न था। भारतेन्दु ने जीवन को समझने का जो दृष्टिकोण अपनाया, वह कालान्तर में भारतेन्दु-युग से चलकर प्रसाद तक निरन्तर अग्रसर होता रहा और हास्य विविध रूपों में प्रकट होता रहा। आगे हम संक्षेप में इसी युग की प्रक्रिया पर विविध दृष्टिकोणों से विचार करेंगे।

भारतेन्दु-युग सन् १८५७ की भारतीय जनक्रान्ति की प्रतिक्रिया का युग था। विदेशी शासन ने जिस निर्ममता से स्वतन्त्रता के सेनानियों को अपने दमन-चक्र से विनष्ट करने की नीति अपनाई थी, उसकी प्रतिक्रिया भारतीय जनता में होनी स्वाभाविक थी। एक ओर तो जनता भयानक रूप से आतङ्कित थी और दूसरी ओर विदेशी क्रूरता विद्रोह की सामान्य परिस्थिति सहन नहीं कर सकती थी। ऐसी स्थिति में साहित्यकारों के समक्ष एक बहुत कठिन दायित्व था। वे दमन की नृशंसता के भीतर ही अपने उद्वेलित मानस को एक नई दिशा देना चाहते थे। विदेशी शासन उनके लिए एक भयानक अभिशाप था और उससे मुक्त होने के लिए वे कोई मार्ग खोजना चाहते थे। इसके लिए उन्होंने दो मार्ग खोजे भी। प्रथम, राजभक्ति के क्रोड़ में राष्ट्र-भक्ति का दबा हुआ सङ्केत तथा द्वितीय, हास्य के स्थान पर व्यंग्य और परिहास। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र कृत 'भारत-दुर्दशा' नाटक में भारत कहता है—
हाय ! परमेश्वर बैकुण्ठ में और राजराजेश्वरी सात समुद्र पार, अब मेरी कौन दशा होगी ?"
'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक के भरत वाक्य में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का कथन है—

खल गगन सों सज्जन दुखी मन होइ हरिपद रति रहै,
उपधर्म छूटै सत्व निज भारत गहै कर दुख बहै

प्रथम उदाहरण से राजभक्ति और दूसरे से राष्ट्रभक्ति स्पष्ट ज्ञात होती है साहित्यकारों के इस दुहरे व्यक्तित्व का कारण विदेशी आतङ्क था, जहाँ बात खुल कर नहीं कही जा सकती थी; किन्तु प्रसङ्गों के अनुसार उसका सङ्केत मात्र किया जा सकता था।

१९वीं शताब्दी का साहित्यकार जन-जागरण का मन्त्र फूंकते हुए उसका मनोरञ्जन भी करना चाहता था जिसके लिए हास्य की अनिवार्य आवश्यकता थी। किन्तु पराधीनता के अभिशाप में कौन खुलकर हँस सकता है? इसलिए साहित्यकारों ने हास्य का प्रयोग ऐसे कौशल से किया कि वह व्यंग्य और परिहास के रूप में अपनी अभिव्यक्ति कर सका। भारतेन्दु ने 'अन्धेर नगरी' प्रहसन के दूसरे अङ्क में पाचक बेचनेवाले के मुख से हास्य को व्यंग्य के माध्यम से व्यक्त किया है। निम्नलिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं:—

हिन्दू चूरन इसका नाम, विलायत पूरन इसका काम।
चूरन जब से हिन्द में आया, इसका धन बल सभी घटाया।
चूरन ऐसा हट्टा-कट्टा, कीना दाँत सभी का खट्टा।
चूरन साहिब लोग जो खाता, सारा हिन्द हजम कर जाता।

इस प्रकार राजनीतिक कुण्ठा ने १९ वीं शताब्दी के हिन्दी साहित्य को हास्य की एक नई शैली प्रदान की है जो व्यंग्य और परिहास से सम्पोषित हुई।

भारतीय समाज और धर्म, अनेक अन्धमान्यताओं एवं परम्पराओं का शिकार रहा है। प्राचीन काल में ये मान्यताएँ भले ही उपादेय और समाजविधायक रही हों, किन्तु युग बदलने के साथ ही उन मान्यताओं एवं परम्पराओं की उपादेयता में सन्देह किया जाने लगा। चूंकि धर्म और समाज से उन अनावश्यक एवं व्यर्थ की मान्यताओं को प्रत्यक्ष रूप से हटाया जाना सम्भव नहीं था, अतः उनको हटाने के लिये परोक्ष साधनों का आधार ग्रहण किया गया और हास्य के सर्वप्रमुख रूप वक्रोक्ति का प्रयोग किया जाने लगा। उदाहरण के लिए 'भारत-दुर्दशा' नाटक के तृतीय अङ्क में सत्यानाश फौजदार का कथन है— "महाराज इन्द्रजीत सन जो कुछ भाषा, सो सब जनु पहिलहि करि राखा।" आगे वह कहता है—"रचि के मत वेदान्त को सबको ब्रह्म बनाय, हिंदुन पुरुषोत्तम कियो तोरि हाथ अरु पाय।" यह वक्रोक्ति, श्लेष एवं काकु दोनों ही प्रकार से उपस्थित की गई है।

प्राचीन काल से ही इस देश में लोकनाट्य के अनेक रूप मञ्च पर प्रदर्शित किए जाते रहे हैं। सामाजिक क्षेत्र में कठपुतली के नाच से लेकर स्वाङ्ग और नौटङ्की तक तथा धार्मिक क्षेत्र में यात्रा-उत्सव से लेकर रामलीला और रासलीला तक लोकनाट्य के अनेक रूप प्रचलित रहे हैं। इन सभी नाटकों में कथा-वैचित्र्य के साथ-साथ जनता का मनोरञ्जन ही मुख्य लक्ष्य है। इन लोक-नाटकों में सदैव दो या तीन पात्र ऐसे रहते हैं जो हास्य-परिहास के द्वारा जनता का मनोरञ्जन करते हैं। कठपुतलियों के नाच में हास-परिहास करने वाला भाण और रासलीला में मनसुखा तो प्रसिद्ध पात्र रहे हैं। उन दोनों का प्रमुख लक्ष्य गम्भीर परिस्थितियों को सहज हास्य से संवलित करना है जब इस परिहास का विस्तार एक से अधिक पात्रों में

होता है तो यही लोकनाट्य, प्रहसन का रूप ग्रहण लेता है और पात्रों तथा परिस्थितियों के माध्यम से नाटक की संवेदना को हास्य-परिहास के धरातल पर उतार कर जीवन के सत्य से परिचित कराता है । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'अन्धेर नगरी' प्रहसन में इसका अत्यन्त सफल उदाहरण प्रस्तुत किया है ।

भारतेन्दु-युग के कई नाटककारों ने इस प्रकार के अनेक प्रहसनों की रचना की है । इन प्रहसनों में अधिकतर सामाजिक समस्याओं को ही लिया गया है । डॉ० गोपीनाथ तिवारी ने अपने ग्रन्थ 'भारतेन्दुकालीन नाटक-साहित्य' में इन समस्याओं को चार शीर्षकों मे विभाजित किया है—

(१) विवाह-समस्या—(क) बाल-विवाह (ख) विवाह पर अपव्यय (ग) बाल-विधवा-दुर्दशा (घ) अनमेल विवाह ।

(२) विवाहित जीवन की समस्या—(क) लम्पट पुरुष (ख) लम्पट स्त्री (ग) आदर्श पत्नी ।

(३) अन्धविश्वास, तीर्थ, पण्डा, ओझा, गोसांई ।

(४) अन्य सामाजिक कुरीतियाँ ।

इन्हीं समस्याओं को लेकर आत्म-परिष्कार तथा समाज-परिष्कार की चेष्टा भारतेन्दु-कालीन नाटककारों ने की । यह द्रष्टव्य है कि कुरीतियों पर प्रहार करने के लिए किसी न किसी रूप में हास्य का आश्रय इन नाटककारों के द्वारा ग्रहण किया गया । सबसे अधिक जिस रूप को इन प्रहसनों में स्थान प्राप्त हुआ है, वह परिहास ही है ।

सभी देशों के नाटकों में विदूषक नाम के पात्र का सन्निवेश इस बात का सूचक है कि नाटकों में हास्य एक अनिवार्य अङ्ग है । संस्कृत-नाट्यशास्त्र में तो विदूषक की वेशभूषा, वार्तालाप तथा आचार-विचार आदि का विस्तृत विवरण दिया गया है । वह साहित्य का विद्वान् होता था तथा अपनी साहित्यिक व्यंजना द्वारा हास्य की सृष्टि करता था । वह नायक का सहचर तथा सन्निकट का व्यक्ति माना गया है । इसका तात्पर्य यह है कि नायक की मुख्य संवेदना से विदूषक निकटतम रूप से सम्बन्धित है । इसलिये संस्कृत-नाटकों में विदूषक का अत्यधिक महत्व था और मनोरञ्जन तथा हास्योत्पादन का वह अनिवार्य अङ्ग माना जाता था ।

हिन्दी नाटकों में राजनैतिक तथा सामाजिक आदि कारणों से विदूषक के प्रति नाटककारों का विशेष आकर्षण नहीं रह गया । प्रसाद जी ने अजातशत्रु, स्कन्दगुप्त, ध्रुवस्वामिनी मे विदूषक को कुछ संशोधन के साथ स्वीकार किया है । अजातशत्रु का वसन्तक और स्कन्दगुप्त का मुद्गल तो किसी प्रकार प्राचीन विदूषक के कार्यों का निर्वाह करते हैं, किन्तु ध्रुवस्वामिनी में कुबड़े, बौने तथा हिजड़े ने ही विदूषक का रूप-ग्रहण करते हुए हास्य की सृष्टि करने का प्रयत्न किया है । इस प्रकार हिन्दी नाटकों में विदूषक अन्य पात्रों में रूपान्तरित होकर नये प्रकार से हास्य की अभिव्यक्ति करने लगा और हास्य की विशिष्टता विदूषक से इतर केवल एक पात्र में सीमित न होकर अनेक पात्रों में विभाजित हो गई इस प्रकार के पात्रों में

श्री माखनलाल चतुर्वेदी कृत 'कृष्णार्जुन युद्ध' नाटक में शंख और श्री तथा प्रसाद के नाटक 'स्कन्दगुप्त' में धातुसेन है। आधुनिक एकाङ्की नाटकों में प्रसाद का 'एक घूँट' चन्दुला नामक विदूषक को अवश्य उपस्थित करता है, किन्तु अन्य नाटककारों में विदूषक का कहीं कोई सङ्केत नहीं है। डॉ० रामकुमार वर्मा के एकाङ्की नाटकों में विदूषक का कार्य अधिकतर घरेलू नौकर चाकर करते हैं और कहीं-कहीं हिन्दी का सम्यक् ज्ञान न रखनेवाले पात्र हिन्दी बोलकर भी हास्य उत्पन्न करते हैं। उदाहरण के लिए 'रूप की बीमारी' नामक एकाङ्की में बङ्गाली डाक्टर दासगुप्ता का हिन्दी कथोपकथन।

इस भाँति यह स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है कि प्राचीन नाटकों का विदूषक हिन्दी नाटकों में न तो नायक का सहचर रह गया है और न तो विद्वान्। अपने जलपान के लिए वह सौ मन लड्डू की भी अकांक्षा नहीं रखता है। सहज जीवन में निर्झर की भाँति तरङ्गित होने वाले हास्य की अभिव्यक्ति किसी भी पात्र से किसी भी समय हो सकती है। संक्षेप में प्राचीनकाल का विदूषक आज मनोविज्ञान की नई सम्भावनाओं के साथ अपने प्राचीन संस्कारों को त्याग कर नवीन पात्रों के रूप में अवतरित हुआ है।

हास्य की चर्चा संस्कृत-साहित्य में नाटकों के सन्दर्भ में ही प्रायः की गई है। हास्य यद्यपि समस्त सञ्चारियों के साथ परिस्थिति के प्रभाव से नवीन रूपों में व्यक्त होता रहा है तथापि आचार्यों ने हास्य के छः भेद किए हैं जो कि प्रसङ्गानुसार उद्घाटित होते हैं। जैसे-जैसे नाट्य-साहित्य का विकास होता गया, वैसे-वैसे नाट्यशास्त्रीय विधाओं में सीमित न रहकर स्वाभाविक तथा सहज होता गया और रस की अपेक्षा भावों का आश्रय लेकर वह मनोविज्ञान मे अधिक प्रतिष्ठित हुआ। हास्य और रुदन मनुष्य की सहज जन्मजात वृत्तियाँ हैं। इनका परिचालन किसी शास्त्र से नहीं होता, भले ही शास्त्र इनके रूपों और उपरूपों का परिगणन करने की चेष्टा करे। वस्तुतः हास्य, शास्त्र में नहीं बाँधा जा सका और उसका विकास मानसिक क्रिया-प्रतिक्रिया के नाना रूपों द्वारा होता है। आज हास्य, मनोविज्ञान का एक ऐसा अङ्ग बन गया है जिसमें अभिज्ञान, अनुभूति, क्रियाशीलता तीनों का समन्वय है तथा वह अपनी भावगतसम्पन्नता में अधिक प्रसरणशील है। जिस प्रकार जल में एक छोटी-सी कङ्कड़ी पड़ जाने से चारों ओर लहरों का प्रसार होने लगता है, उसी प्रकार किसी विनोद या अनुरञ्जन की हलकी-सी सूक्ति के कारण हास्य की लहरें चारों ओर फैल जाती है।

नाटकों में हास्य की उत्पति प्रायः दो प्रकार से की जाती है—साहित्यिक निरूपण द्वारा तथा परिस्थिति विशेष द्वारा। रूपक, श्लेष या यमक के सहारे चमत्कार उत्पन्न करने में हास्य साहित्यिक रूप ले लेता है। प्रसाद जी ने अपने नाटकों में ऐसे ही साहित्यिक हास्य का नियोजन किया है। ध्रुवस्वामिनी के कूबड़े के कुबड़ का हिमालय के रूप में वर्णन करना बहुत कुछ ऐसा ही हास्य है। परिस्थिति-विशेष से भी हास्य सहज रूप में बिखर उठता है, उसे पाण्डित्य-प्रदर्शन की आवश्यकता नहीं होती। माधव शुक्ल के 'महाभारत नाटक' में ग्रामीणों द्वारा अथवा 'कृष्णार्जुन युद्ध' में शङ्ख द्वारा उत्पन्न हास्य परिस्थिति-विशेष से ही उद्भूत है।

आधुनिक एकाङ्कियों में कथोपकथन का सौन्दर्य विनोद तथा हास्य से ही परिचालित होता है। हास्य की निष्पत्ति में अब रस के प्रति उतना आग्रह नहीं है जितना मनोविज्ञान के

प्रति। यह मनोविज्ञान एक ऐसा अक्षय भण्डार है जिसके प्रत्येक क्रियात्मक और प्रति-क्रियात्मक कार्य में हास्य की सम्भावनाएँ देखी जा सकती है। इनका उल्लेख निम्नप्रकार से किया जा सकता है :—

(क) समाज के स्वस्थ विकास के लिए हास्य का प्रयोजन।

(ख) स्वतन्त्र राष्ट्र के विकास के लिए उन्मुक्त हास्य का आश्रय।

(ग) व्यक्तित्व के विकास में विनोद तथा हास्य की मनोवृति।

●

छह

●

सरिता 'सरस्वती' का उद्गम

●

सुधाकान्त मिश्र

पुण्य सलिला जाह्नवी एवं कालिन्दी के समान सरस्वती की पवित्रता एवं महत्ता परम्परागत भारतवासियों की कल्पना में चिरस्थायी है। प्रयाग में इसी 'सरस्वती' के कल्पित स्रोत में आस्था रखकर आज भी गङ्गा और यमुना के सङ्गम को 'त्रिवेणी' कहा जाता है। लेकिन वर्तमान युग में 'सरस्वती' का लोप हो जाने के कारण इसका अस्तित्व तथा इसके प्रवाह का मार्ग आज भी विद्वानों के बीच मतभेद का विषय है। इसी विषय पर 'महाभारत' में उपलब्ध प्रमाणों के अनुसार हम इस लेख में कुछ कहने का प्रयत्न करेंगे।

'ऋग्वेद' में 'सरस्वती' का वर्णन केवल एक दो स्थलों में उपलब्ध होता है और वह भी 'खिल', में जिसे वेद का परिशिष्ट माना गया है। किन्तु 'महाभारत' में अनेक ऐसे स्थल हैं जहाँ सरस्वती की पवित्रता, महत्ता एवं प्रवाह का ऐसा विशद वर्णन है जिसे पढ़कर उसके केवल कल्पित होने की धारणा एक अनधिकार चेष्टा मात्र प्रतीत होती है। 'वनपर्व' में सरस्वती की महिमा का वर्णन करते हुए पुलस्त्य ऋषि धर्मराज युधिष्ठिर से कहते हैं—

तप मासं वसेद् धीरः सरस्वत्यां युधिष्ठिर।
यत्र ब्रह्मादयो देवाः ऋषयः सिद्धचारणाः॥
गन्धर्वाप्सरसो यक्षः पन्नगाश्च महीयते।

महाभारत

वनपर्व श्लोक ८३।६६

अर्थात् वहाँ सरस्वती के तट पर धीर पुरुष एक मास तक निवास करें; क्योंकि ब्रह्मा आदि देवता, ऋषि, सिद्ध, चारण, गन्धर्व, अप्सरा, यक्ष और नाग भी उस परम पुण्यमय ब्रह्म-क्षेत्र को जाते है।

इस वर्णन से यह प्रमाणित होता है कि महाभारत काल में 'सरस्वती' की पवित्रता पूर्णतया स्थापित हो चुकी थी। इसके अतिरिक्त 'वनपर्व' के अन्य श्लोकों से भी यह सिद्ध होता है कि महाभारत काल में 'सरस्वती' नामक एक नदी का अस्तित्व था जिसकी पवित्रता एवं पापनाशक गुणों का ज्ञान ऋषियों को भली-भाँति हो चुका था।

यदि यह निश्चित है कि प्राचीन भारत में 'सरस्वती' नाम की नदी का अस्तित्व था तो फिर उसका प्रवाह-मार्ग किस दिशा में था और क्या वह प्रयाग में आकर गंगा और यमुना से मिली थी? 'महाभारत' में इस पवित्र सरिता के सम्बन्ध में जो प्रमाण उपलब्ध हैं उनसे केवल इतना ही निश्चित हो सकता कि इस नदी का प्रवाह पश्चिम में कुरुक्षेत्र के उत्तर की ओर था। वनपर्व में कुरुक्षेत्र का वर्णन करते हुए पुलस्त्य ऋषि कहते हैं—

दक्षिणेन सरस्वत्या दृषद्वत्युत्तरेण च।
ये वसन्ति कुरुक्षेत्रे ते वसन्ति त्रिविष्टपे॥
(वनपर्व, श्लोक ८३।४)

अर्थात् जो सरस्वती के दक्षिण और दृषद्वती के उत्तर कुरुक्षेत्र में वास करते है, वे मानो स्वर्गलोक में ही रहते हैं।

इसके अतिरिक्त जिन अन्य श्लोकों में सरस्वती का वर्णन उपलब्ध होता है, वे सभी इस तथ्य की ओर इङ्गित करते हैं कि 'सरस्वती' का प्रवाह पश्चिम दिशा ही में किसी ओर था।

'सरस्वती' के उद्गम स्थान के सम्बन्ध में, यद्यपि कुछ निश्चित रूप से कहना कठिन है तथापि यह अनुमान किया जा सकता है कि इसका उद्गम हिमालय के किसी वन-प्रदेश में रहा होगा जिसे 'महाभारत' में 'सौगन्धिक वन' की संज्ञा दी गई है। इस वन का विशद वर्णन करते हुए 'महाभारत' में कहा गया है :—

तत्र ब्रह्मादयो देवा ऋषयश्च तपोधनाः।
सिद्ध चारणगंधर्वाः किन्नराश्च महोरगाः॥
तद्वनं प्रविशन्नेव सर्वं पापैः प्रमुच्यते।
ततश्चापि सरिच्छ्रेष्ठा नदीनामुत्तमा नदी॥
प्लक्षाद्देवी सुता राजन् महापुण्या सरस्वती।
तत्राभिषेकं कुर्वीत वल्मीकान्निःसृते जले।
(वनपर्व, श्लोक ८४।५-७

९। उसके आगे सरिताओं में श्रेष्ठ और नदियों में उत्तम नदी परम पुण्यमयी सरस्वती देवी का उद्‌गम स्थान है, जहाँ वे प्लक्ष (पंकड़ी) नामक वृक्ष की जड़ से टपक रही है।

इस वर्णन से हम यह अनुमान कर सकते हैं कि 'सौगन्धिक वन' हिमालय के किसी भाग में रहा होगा, क्योंकि 'महाभारत' एवं अन्य पुराणों में गन्धर्व एवं किन्नरों का निवास-स्थान प्रायः हिमालय में ही माना गया है और इसी वन के एक वृक्ष के नीचे से 'सरस्वती' का स्रोत प्रवाहित हुआ था।

'सरस्वती' के उद्‌गम के सम्बन्ध में एक दूसरी कथा भी 'महाभारत' में उपलब्ध होती है जिसके अनुसार उसके चमसोद्‌भेदतीर्थ में पुनः प्रगट होने की बात कही गई है। लोमश ऋषि, महाराज युधिष्ठिर से कुरुक्षेत्र की महिमा का वर्णन करते हुए सरस्वती के सम्बन्ध मे कहते हैं—

द्वारं निषादराष्ट्रस्य येषां दोषात् सरस्वती।
प्रविष्टा पृथिवीं वीर मा निषादा हिमां विदुः॥
एष वै चमसोद्‌भेदो यत्र दृश्या सरस्वती।
यत्रैनामभ्यवर्तन्त सर्वाः पुण्याः समुद्रगाः॥'
(वनपर्व, श्लोक ८३।४-५)

अर्थात् यह निषादराज का द्वार है। वीर युधिष्ठिर! उन निषादों के ही संसर्ग-दोष से सरस्वती नदी यहाँ इसलिये पृथ्वी के भीतर प्रविष्ट हो गई कि निषाद जान न सके। यहाँ समुद्र में मिलनेवाली सम्पूर्ण नदियाँ इसके सम्मुख आई हैं।

उपर्युक्त कथन से यह प्रतीत होता है कि सरस्वती सौगन्धिक-वन से निकल कर किसी स्थान पर लुप्त हो गई थीं और चमसोद्‌भेदतीर्थ नामक स्थान पर प्रकट होकर कुरुक्षेत्र के उत्तर में प्रवाहित हुई थीं।

'सरस्वती' के सम्बन्ध में अब दूसरा प्रश्न यह है कि उसका लोप किस स्थान पर हुआ? 'महाभारत' में सरस्वती के सङ्गम के विषय में दो मत उपलब्ध होते हैं। कुछ श्लोको मे 'सरस्वती' और समुद्र का सङ्गम माना गया है तथा कुछ में गङ्गा और सरस्वती के मिलने का वर्णन मिलता है। 'वनपर्व' का श्लोक 'ततो गत्वा सरस्वत्याः सागरस्य च संगमे' प्रथम पक्ष का प्रमाण है तथा इसी पर्व का दूसरा श्लोक—'गंगायाश्च नरश्रेष्ठ सरस्वत्याश्च संगमे' दूसरे मत का समर्थन करता है। 'महाभारत' के अन्तर्गत इन विरोधी मतों का समाधान दो प्रकार से हो सकता है। प्रथम तो यह मानकर कि सम्भवतः महाभारत-काल मे दो पुण्यसलिला नदियों का अस्तित्व रहा हो जिन्हें सरस्वती कहा जाता रहा हो और दूसरे यह कल्पना करके कि सरस्वती का सङ्गम 'गंगा' से किसी स्थान पर हुआ होगा। इन दोनो सम्भावनाओं में द्वितीय ही पूर्ण एवं सहज प्रतीत होता है।

यदि सरस्वती और गङ्गा के सङ्गम की वार्ता को महत्ता प्रदान की जावे तो भी उसके समुद्र से मिलने के कथन की पुष्टि हो सकती है

'महाभारत' में प्राय: अधिकांश सरिताओं का जो किसी अन्य नदी से मिलकर अन्त में समुद्र से मिलती हैं, समुद्र से ही सङ्गम का वर्णन किया गया है। उदाहरणार्थ यद्यपि 'यमुना' गङ्गा से मिलकर समुद्र में मिलती है तथापि उसका भी समुद्र से सङ्गम का वर्णन उपलब्ध होता है।

सरस्वती महापुण्या ह्रदिनी तीर्थमालिनी।
समुद्रगा महावेगा यमुना यत्र पाण्डव॥
(वनपर्व, श्लोक ६०१३)

इन प्रमाणों से यह अधिक युक्तिसङ्गत प्रतीत होता है कि सरस्वती किसी स्थान पर गङ्गा से मिलकर अन्त में समुद्र में प्रविष्ट हो गई थी। यद्यपि गङ्गा और सरस्वती के सङ्गम का वर्णन 'महाभारत' में यत्र-तत्र उपलब्ध होता है तथापि इस सङ्गम की स्थिति 'प्रयाग' में मानने के लिये कोई प्रमाण नहीं है। 'महाभारत' में जहाँ कहीं भी प्रयाग के सङ्गम का वर्णन किया गया है, वहाँ पर केवल गङ्गा और यमुना का ही उल्लेख मिलता है जिससे यह सिद्ध होता है कि सरस्वती और गङ्गा का सङ्गम किसी अन्य स्थल पर हुआ होगा।

'महाभारत' में उपलब्ध इन प्रमाणों से हम 'सरस्वती' के सम्बन्ध में दो बातें निश्चित कर सकते हैं। एक तो यह कि प्राचीन भारत में उसके अस्तित्व के सम्बन्ध में किसी प्रकार की आशङ्का के लिए लेशमात्र भी स्थान नहीं है और दूसरे यह कि वह कुरुक्षेत्र के उत्तर में प्रवाहित होकर किसी स्थान पर गङ्गा से मिली थी। इसके अतिरिक्त 'महाभारत' के आधार पर उसके सङ्गम-स्थान का निश्चित करना दुष्कर प्रतीत होता है।

नये प्रकाशन

समीक्षकों की दृष्टि में

कुतुबनकृत 'मृगावती' शिवगोपाल मिश्र द्वारा सम्पादित एक सूफ़ी प्रेमाख्यान

प्रकाशक : हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
पृष्ठ संख्या : २१०
मूल्य : ६ रुपये,

मंझनकृत 'मधुमालती' की भाँति कुतुबनकृत 'मृगावती' को भी हिन्दी पाठकों के सम्मुख सर्वप्रथम प्रकाशित रूप में लाने का श्रेय डॉ० शिवगोपाल मिश्र को है। विज्ञान के अध्ययन- अध्यापन के साथ उनकी साहित्यिक सेवा सर्वथा अनुकरणीय है।

'मधुमालती' के सम्पादन में डॉ० मिश्र उसकी केवल एक प्रति का उपयोग कर पाए थे, अतः उसके पाठ में स्वाभाविक रूप से कुछ कमियाँ रह गई थीं जिनका परिष्कार डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने अपने संस्करण (मित्र प्रकाशन, इलाहाबाद द्वारा प्रकाशित) में अन्य प्रतियों की सहायता से किया। प्रस्तुत ग्रन्थ की भी यद्यपि पाँच हस्तलिखित प्रतियों का उल्लेख है, किन्तु उनमें से केवल दो प्रतियाँ ऐसी हैं जो विशेष रूप से उपयोगी सिद्ध हुई हैं। एक प्रति अनूप संस्कृत पुस्तकालय, बीकानेर की है और दूसरी सम्पादक के गाँव एकडला, जिला फतेहपुर की (क्रमशः अनू० तथा एक० द्वारा निर्दिष्ट)।

प्रतियों के परीक्षण के उपरान्त डॉ० मिश्र इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि "अनू० तथा एक० प्रतियों में समान रूप से लिपि सम्बन्धी विकृतियाँ अधिक हैं, परन्तु एक० प्रति में...कैथी लिपि में जो पाठ तैयार किया गया उसमें सावधानी नहीं बरती गई। इसके विपरीत अनू० प्रति का पूर्वज फ़ारसी में होते हुए भी अधिक सतर्कता से लिखा प्रतीत होता है।...इस दशा में अनू० प्रति ही मूल के अधिक निकट है।"

सम्पादक ने विकृतिसाम्य के आधार पर प्रतियों का पारस्परिक सम्बन्ध भी निर्धारित

किया है; किन्तु इस प्रक्रिया में उनके कुछ तर्क भ्रमात्मक ज्ञात होते हैं (यद्यपि उनसे उनके निष्कर्षों में किसी प्रकार के परिवर्तन की गुंजाइश नहीं)। उदाहरणतया भूमिका पृ० ५६ पर अनू० तथा एक० प्रतियों का 'बैठि सिंघासन दरब लुटावा राँकन्ह दारिद बहुत सतावा' पाठ अस्वीकार कर दूसरे चरण का 'राँकन्ह दारिद बहुरि न सतावा' पाठ स्वीकार किया गया है और तर्क यह उपस्थित किया गया है कि 'दान का माहात्म्य तभी है जब दारिद्रय दूर हो जाय, न कि बार-बार माँगा जाय।' मेरे विचार से यहाँ पहला पाठ ही श्रेष्ठतर है। उसका अर्थ होगा : (राजा ने) सिंहासन पर बैठकर रंकों को, जिन्हें दारिद्रय ने बहुत सता रखा था, द्रव्य लुटाया। वस्तुत: वाक्य-रचना की विशिष्टता पर ध्यान न देने से ही यहाँ निकृष्ट पाठ स्वीकार किया गया है जिसमें मात्राभङ्ग दोष भी है।

पाठ-निर्धारण में भी यत्र-तत्र इसी प्रकार की भ्रान्तियाँ मिलती हैं। उदाहरणतया यद्यपि पृ० ६२ पर यह स्पष्ट कथन है कि 'एक से अधिक प्रतियों के पाठभेद के समय अनू० प्रति के पाठ पर बल दिया गया है, किन्तु मूल पाठ में अनेक स्थलों पर सम्पादक अपने इस सिद्धान्त का पालन करता हुआ नहीं दिखलाई पड़ता। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित स्थल द्रष्टव्य हैं—

(१) छन्द ६८-४ तथा ७ में 'कर किंगरी ढिढोर मन मेला' तथा 'भुगुति मुरि मिरगावति जाँचौं' इन स्वीकृत पाठों में 'ढिढोर' तथा 'मूरि' स्पष्ट ही विकृत हैं। इनके स्थान पर अनू० में 'धँधरी' (=नाथ योगियों का धंधारी चक्र) तथा 'मोरि' (=मेरी मुक्ति मृगावती है, मैं उसी को याचना करता हूँ) श्रेष्ठतर पाठ हैं जिन्हें सम्पादक ने अस्वीकार कर नीचे पाठान्तरों में दिया है।

(२) छन्द २३१'५ का स्वीकृत पाठ है : प्रीतम मोर तुम्हरे सुखलावहु। अनू० तथा एक० में 'सुख रावह' (हु) श्रेष्ठतर पाठ था (अर्थात् प्रेयसी मेरी और तुम सुखपूर्वक रमण कर रहे हो)। ज्ञातव्य है कि 'प्रीतम' मृगावती में अनेक स्थलों पर प्रेयसी के लिए प्रयुक्त है। 'सुखलावहु' का प्रस्तुत प्रसङ्ग में कोई उपयुक्त अर्थ नहीं ज्ञात होता।

(३) २४२·३ का स्वीकृत पाठ है : मिरगावति निसि रोय पोहावा। अनू० में 'बिहावा' उपयुक्त पाठ है (=सं० वि + हा = पीछे छोड़ना, गुजारना, तुल० कबीर-ग्रन्थावली, हिंदी परिषद्, सा० ४-१२ : जिनहु किछू जांनां नहीं, तिन्ह सुख नींद बिहाइ)। 'पोहावा' (=पोषित किया) यहाँ अप्रासंगिक है।

(४) २५२·२ : बिहरत अघर भौं गन्ध पाई। अनू० में 'अघर' के स्थान पर 'केंव' श्रेष्ठ पाठ है, (सं० केतक > प्रा० केअअ > हिं० केवा = केतकी पुष्प; तुल० पदमावत ३७२-६ : आवा भँवर मंदिल जहँ केवा। तथा ५७०-१ : भँवर न तजै बास रस केंवा।

(५) छन्द १८, १६ में भी एक० प्रति के पैठि, बहुरि लगे समुझावै, कौनउ, दे बातै, कही हुतै को अनू० प्रति के क्रमश पैसि बहुरि लग समुझावै सब मिलि, कौनहु बुद बात जु

कह, हुतै (= से) की अपेक्षा श्रेष्ठतर मानने के लिए कोई आधार नहीं प्रतीत होता। 'हते' अथवा 'हता' क्रिया रूप सूफियों की ठेठ अवधी में प्रयत्नपूर्वक ढूँढ़ने पर भी कदाचित् ही कहीं मिले।

इसका यह तात्पर्य नहीं कि अनू० प्रति सर्वत्र श्रेष्ठ पाठ प्रस्तुत करती है; किन्तु जब सम्पादक ने तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर एक बार उसे श्रेष्ठ घोषित कर दिया तो उसके ऐसे ही पाठों को अस्वीकार करना चाहिए जो स्पष्टत: निरर्थक अथवा विकृत हो। आगे कुछ ऐसे स्थलों का सङ्केत किया जाता है जहाँ एकडला प्रति के पाठों की तुलना मे अनू० प्रति के पाठों को स्वीकार कर सम्पादक ने मध्यकालीन अवधी भाषा के अपने अपर्याप्त ज्ञान का परिचय दिया है—

(१) २-३ का स्वीकृत पाठ : जो रे मुहम्मद अबरहु सिखे। तुलनीय एक० अढए (=आज्ञापित, उपदिष्ट, ठेठ अवधी में अब भी प्रचलित)

(२) २-५ का स्वीकृत पाठ : कर सौं उलटि पुहुमि घर मारी। तुल० एक० दै मारी (मुहावरा)।

(३) ६१-३ का स्वीकृत पाठ : राजा पान दीन्ह बहुराई। तुल० एक० राजै (अवधी कर्त्ता कारक का रूप = राजा ने)। द्रष्टव्य मृगावती ७७-१ : राजै कहा (= राजा ने कहा) पदमावत ८८-१ : राजै सुनि बियोग तस माना, आदि।

(४) ६८-३ का स्वीकृत पाठ : जोगटा रुद्राक्ष औ अधारी। 'जोगटा' के स्थान पर एक० में 'जोगौटा' पाठ है और वही यहाँ प्रयोगसम्मत भी है। जोगौटा = योगपट्ट, योगियो का वस्त्रविशेष, तुल० पदमावत् १२६-४ : मेखलि सिंगी चक्र धँधारी। जोगौटा रुद्राख अधारी।

(५) छन्द १५४-४ का स्वीकृत पाठ है : किहे ओझ तोह हमसौं रहहु। एक० में 'कोझ' पाठान्तर दिया हे। मूल पाठ कदाचित् 'गोझ' (सं० गुह्य = दुराव, छिपाव) था। फ़ारसी लिपि में 'काफ़' तथा 'गाफ़' में प्राय: भ्रम हो जाया करता है। उसी के परिणामस्वरूप दोनों ही प्रतियों में विकृत पाठ आ गए, किन्तु एक० प्रति का पाठ यहाँ मूल के अधिक निकट है।

(६) २६४-१ तथा ५ के स्वीकृत पाठ हैं : भूँजैहिल रहै ना जाई। तरुवन छाँह बहुरि घन होई। एक० में 'भुजैलहिं' तथा 'तरवर' पाठ हैं जो अपेक्षाकृत अधिक सार्थक प्रतीत होते हैं। 'भुँजैली' या 'भुँजैटी' काले रङ्ग की एक चिड़िया है जो भोर में ही बोलती है। 'तरवर' की प्रासङ्गिकता तथा उपयुक्तता स्वत: स्पष्ट है।

भूमिका पृ० ६३ पर एक अन्य भ्रामक कथन मिलता है। अनू० 'लिहिस' 'दिहिस' के स्थान पर एक० में 'लीतिन्ह-दीतिन्ह' क्रियारूप मिलते हैं। सम्पादक का कहना है कि "ऐसी दशा में अनू० प्रति के क्रियारूपों को मान्यता दी गई है पुन दूसरे ही वाक्य में कहा गया

है कि 'दोनो ही प्रतियो मे लीतिस तथा दीतिस रूप समान रूप से प्राप्य है जिससे प्रतीत होता है कि क्रिया का यह रूप प्रचलित था। उपयुक्त दोनों कथनों की असङ्गति स्पष्ट है वस्तुतः 'लीतिन्ह' अथवा 'दीतिस' रूप प्राचीनतर ह और उन्हा को मूल पाठ मे मान्यता भी प्रदान की गई है। केवल एक स्थान पर (१३४-७) एक० प्रति के पाठ 'बातन्ह लीतिन्ह लाय' (=बातों में लगा लिया) के स्थान पर अनू० 'बातन्ह लिहिस सङ्ग लाय' ग्रहण किया गया है जो मेरे विचार से अनुपयुक्त है। 'दीतिस' आदि पाठ एक० प्रति के हैं, अतः उपर्युक्त कथन उसी की मान्यता के सम्बन्ध में होना चाहिए था।

मूल पाठ में अनेक अस्पष्ट स्थानों पर प्रश्नवाचक चिह्न लगाए गए है और कुछ का निर्देश पृष्ठ २०५ पर परिशिष्ट में किया गया है। उनमें से कुछ तो प्रतिलिपिकारों के प्रमाद से विकृत हो गए हैं, किन्तु अधिकांश के उपयुक्त अर्थ निकल आते हैं—हाँ, उसके लिए तत्कालीन साहित्य का गंभीर अनुशीलन-मनन आवश्यक है। स्थल-सङ्कोच के कारण यहाँ कुछ के सङ्केत मात्र किए जा रहे हैं—

(१) ६-१ : एक बात अब कहौं रिसाला (?)। रिसाला <सं० रसाल = मीठी।

(२) ६-२ : लोना <सं० लावण्य = सुन्दर (३) ७-५ : नखत उन्हारे = नक्षत्रों की अनुहारि या सादृश्य बताना (४) १३-४ : कुंवर संगीत (?) कुरंगिनि डरी = कुँवर के सङ्गीत या वाद्य-ध्वनि से कुरंगिनि (मृगावती) डर गई। मृगों को फँसाने के लिए मधुर वाद्य-ध्वनि बजाई जाती है, उसी अभिप्राय की ओर यहाँ सङ्केत है। (५) १७-१ : कुंवर न देय पेम गहि लीता (?), सौन न सुनै नेह पर चीता। 'देय' कदाचित् 'देष' है। 'गहि लीता' स्पष्ट ही 'गह लिया' का प्राचीनतर रूप है। अर्थ होगा : कुँवर ने प्रेम गह लिया (प्रेम मे अनुरक्त हो गया)। उसे कुछ दिखाई नहीं पड़ रहा था, कान से सुनता न था, प्रेम पर ही चित्त लगा था। (६) १७-५ : चुर चूरा (?) घुँघरू अहे। 'चूरा' पैर का आभूषण है जैसे अनवट, बिछिया, पायल आदि। तुल० पदमावत २९६-८ : चूरा पायल अनवट बिछिया पायन्ह परे बियोग। 'चुर' कदाचित् 'षुर' का विकृत रूप है। मूल पाठ होना चाहिए : खुर चूरा अरु घुँघरू अहे = मृगावती (हिरनी रूप में) के खुरों में चूरा तथा घुँघरू थे। (७) २१-५ : देस कोस औ बर्थ (?) भंडारा। सं० वृत्ति > हिं० वितँ, बिरता, बिर्थ, बर्थ = धन या जीविका की सामग्री। दे० २२७'३ भी। (८) २७-४: जुग जुग सम अथर बन (?) आना। पाठ वस्तुतः होना चाहिए : रुग जुग साम अथरबन आना। चारों वेदों के नामों का यह जनपदीय उच्चारण है। तुल० गोरखबानी, पद १८-६: यह परमारथ कहौ हो पंडित रुग जुग स्याम अथरबन पढ़िया। अथवा पदमावत १०८-५: रिग जजु साम अथर्बन माहाँ। (९) २९-२: खीर—मूल पाठ कदाचित् 'खबरि' जिससे फ़ारसी लिपिजनित भ्रान्ति के कारण 'खीर' पाठ हो गया। उर्दू में दोनों शब्दों को लिखने में केवल एक नुक़्ते का अन्तर होता है। (१०) ३५-२: चखु = चक्षु, नेत्र। इसी प्रकार के अन्य अनेक शब्द भी हैं जिनका उल्लेख स्थल-संकोच के कारण नहीं हो सकता

इनके अतिरिक्त भी अनेक स्थलों पर पाठ का सुधार अपेक्षित है, चाहे यह कार्य भविष्य में डॉ० मिश्र के ही हाथों सम्पन्न हो अथवा किसी अन्य विद्वान् द्वारा।

भूमिका में कुतुबन तथा उनकी इस रचना के सम्बन्ध में अन्य कई दृष्टियों से भी पर्याप्त विवेचना है। किन्तु दो बातों की ओर मैं विशेषरूप से विद्वान् सम्पादक तथा साहित्यिकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ।

कुतुबन का कालनिर्धारण करते समय अवान्तर रूप में सम्पादक महोदय ने एक बार मोहदी या महदी को जायसी का गुरु माना है और महदी का पथ-प्रदर्शक शेख बुरहान को माना है। पुनः उसी अनुच्छेद में प्रो० हसन अस्करी के अनुसार सैयद मुहम्मद तथा महदी को अभिन्न माना है। इससे स्थिति स्पष्ट नहीं होती। अधिक विस्तार में न जाकर यहाँ केवल इतना कहना है कि जायसी के गुरु की समस्या काफ़ी उलझी हुई और सम्पादक महोदय ने जितनी सरलता से उससे छुटकारा पाना चाहा है उतनी सरलता से वह मिल नहीं सकता। वस्तुतः महदी विरुद धारण करने वाले सैयद मुहम्मद के शिष्य शेख अलहदाद थे और अलहदाद के शिष्य शेख बुरहान कालपी वाले थे जिनकी मृत्यु बदायुनी (भा० ३ पृ० १२१) के अनुसार ९७० हि० या १५६२ ई० में हुई थी। जायसी ने अपनी सभी रचनाओं में वस्तुतः दो गुरु-परम्पराओं का उल्लेख किया है जिस पर पूर्ण विचार न होने के कारण हिन्दी विद्वानों मे अब तक उस सम्बन्ध में बड़ा भ्रम चल रहा है। किन्तु इस समस्या पर विस्तारपूर्वक विचार करने के लिए एक पृथक् निबन्ध अपेक्षित है। ऐसा लगता है कि सम्पादक ने केवल डॉ० वासुदेवशरण जी की संजीवनी व्याख्या को ही इस समस्या के समाधान के लिए आधार बनाया, अन्य उपयोगी सामग्री—उदाहरणतया धीरेन्द्रवर्मा विशेषांक (१९६० ई०) मे डॉ० रामखेलावन पांडेय का निबंध, चित्ररेखा (१९५९), कहरानामा तथा मसलानामा (१९६२) आदि की भूमिकाओं—का अवलोकन नहीं किया।

इसी प्रकार मृगावती के स्रोत पर विचार करते हुए एक महत्वपूर्ण तथ्य का उल्लेख सम्पादक महोदय ने नहीं किया। इस कथा की एक महत्वपूर्ण घटना है जंगल में कुँवर का सतरङ्गी मृगी को देखना और उसका एक विशाल वृक्ष के नीचे मानसरोवर में अन्तर्धान होना। इस प्रकार के किसी सरोवर का वर्णन प्रत्येक सूफ़ी प्रेमाख्यान में मिलता है, किन्तु मृगावती में वर्णित मानसरोवर तथा बाणभट्ट की कादम्बरी में वर्णित अच्छोद सरोवर में विलक्षण साम्य है। 'मृगावती' का राजकुमार मानसरोवर से हटकर अन्यत्र जाना नहीं चाहता, वहीं अपना महल बनवाता है; दूसरी ओर पुंडरीक का अवतार वैशम्पायन भी अच्छोद सर से आकृष्ट होकर कहता है—"मैं इस स्थान से न जाऊँगा। मैं क्या करूँ ? मेरा अपने ऊपर वश नहीं रहा।" (अनु० २६४) डॉ० वासुदेवशरण जी ने इस आख्यान का आध्यात्मिक विवेचन करते हुए लिखा है—"अच्छोद सरोवर भावसृष्टि का मूल है। वही मानसरोवर या मानस या मन का प्रतीक है। उसे ही बौद्ध परिभाषा में अनवतप्त ह्रद कहा जाता है। ज्ञान या बुद्धि अच्छोद सरोवर है। वहीं बुद्धि की देवी प्रज्ञा का निवास है।...उसी के तट पर कादंबरी कथा के सब पात्र उत्तर के हेमकूट और दक्षिण की उज्जयिनी से आकर एकत्र होते हैं (कादंबरी एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० २४२) हेमकूट तथा मृगावती में वर्णित कञ्चन नगर नामों में भी

साम्य प्रतीत होता है। [इस पुस्तक के एक अन्य समीक्षक डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा ने उसे कोसम के पश्चिम स्थित कनकवती बतलाया है (दे० सम्मेलन पत्रिका ५०-१); किन्तु मैं इसे वस्तुतः काल्पनिक नाम मानने के ही पक्ष में हूँ।] ज्ञात होता है कि प्राचीन काल से ही लोक प्रचलित प्रेमकथाओं में इस प्रकार के सरोवर का वर्णन रहा करता था जिसका प्रयोग सातवीं शताब्दी के बाणभट्ट ने एक निश्चित आध्यात्मिक पुट के साथ 'कादंबरी' में किया। डॉ० अग्रवाल ने 'हरिवंशपुराण' तथा 'मत्स्यपुराण' में भी अच्छोदसर का उल्लेख ढूँढ़ निकाला है (दे० वही, पृ० २६६)। मृगावती के रचयिता ने भी अपनी कथा के योगपरक अर्थ की ओर सङ्केत किया है जो में बहुत-कुछ अच्छोदसर की आध्यात्मिकता से मिलता-जुलता है। खेद है कि सम्पादक महोदय को इस अर्थ का सन्धान नहीं मिला।

फिर भी इस रचना का बड़ा ऐतिहासिक महत्व है। रचयिता के पक्ष में इसका ऐतिहासिक महत्व इस बात में है कि उन्होंने इसकी रचना प्रसिद्ध सूफ़ी काव्य 'पद्मावत' से भी पूर्व की थी और सम्पादक के पक्ष में इसका महत्व यह है उन्होंने ही सबसे पहले इसे पूर्ण रूप में प्रकाशित करवाया। इसके पूर्व इस महत्वपूर्ण रचना की नोटिस मात्र मिलती थी और इसकी ह० लि० प्रतियों को केवल दो-एक विद्वान् ही देख पाए थे। मध्यकालीन साहित्य में रुचि रखनेवालों के लिए यह ग्रन्थ सचमुच संग्रहणीय है।

—(डॉ०) पारसनाथ तिवारी
हिन्दी विभाग,
विश्वविद्यालय, प्रयाग

संशय की एक रात
श्रीनरेश मेहता का काव्य-सङ्कलन

प्रकाशक : हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर प्राइवेट लि०, बम्बई—४।

समीक्ष्य काव्य एक ऐसी पौराणिक कथा पर आधारित है जो शताब्दियों से भारतीय जन-जीवन में सम्पृक्त रही है। ऐसी दशा में सफल कवि के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह कथा के उस मर्मविन्दु को पहचाने जिसके द्वारा आधुनिक मानवीय-पीड़ा को सार्थक अभिव्यक्ति दे सके। इसमें कोई सन्देह नहीं कि राम-कथा के उस स्थल की पहचान कवि में है और इसी बिन्दु से उसकी सृजन-प्रेरणा का उन्मेष फूटता है।

रावण द्वारा सीता-हरण के पश्चात् राम के मन में सामाजिक और वैयक्तिक समस्या को लेकर अन्तर्द्वन्द्व उपस्थित होता है सीता राम की पत्नी हैं यदि उनकी मुक्ति के लिए वे

युद्ध करते हैं तो एक व्यक्ति की समस्या के लिए सङ्घर्ष करते है। किन्तु राम सामाजिक आदर्श या सामाजिक मूल्य की रक्षा के सन्दर्भ में ही युद्ध की अनिवार्यता और उसकी सार्थकता को महत्वपूर्ण मानते प्रतीत होते हैं। इस उभयतोपाश में राम जकड़ते चले जाते हैं। अन्त में राम युद्ध के लिए अपने को अनिच्छा से समर्पित कर देते हैं क्योंकि सभा का यह निर्णय है कि सीता सर्वहारा समाज की प्रतीक हैं, फलतः उनकी मुक्ति समाज की मुक्ति है, सामाजिक मूल्य की रक्षा है।

वस्तुतः इसी बिन्दु पर प्रतीक-व्यवस्था में कवि से भारी चूक हो गई है। पहली बात तो यह कि कवि ने मानवीय-पीड़ा और मानवीय-मूल्य की समस्या और उसके सङ्कट को न उभार कर व्यक्ति तथा समाज की समस्या को उठाया है जो समाज-शास्त्र का विषय तो हो सकता है किन्तु जब तक वह मानवीय-भावना से सम्बद्ध नहीं होता, कविता का विषय नहीं बन सकता। इस स्थल पर विपिन अग्रवाल की पंक्तियाँ याद आ रही हैं—"**हजार आँख रोये एक बार और एक आँख रोये हजार बार तो किसका दुःख बड़ा है?**" विपिन ने यहाँ समूह-दुःख और व्यक्ति-दुःख की बड़ी मार्मिक अभिव्यक्ति की है। सीता किसी भी प्रकार समूह-दुःख का प्रतीक नहीं बन पाती। साथ ही सिर्फ व्यक्ति मात्र तक केन्द्रित कर देने से मानवता के बृहत्तर क्षेत्र से भी उनका लगाव जबरदस्ती कवि द्वारा उपेक्षित हो जाता है। फलतः जबरदस्ती कवि ने सीता और राम में समूह-दुःख आरोपित कर अन्यापदेशिकता (allegory) की सृष्टि कर दी है। यद्यपि कवि का सृजित पात्र राम बराबर इस कचोट को महसूस करता है। राम किसी भी प्रकार अपने इस व्यक्ति-दुःख को समूह-दुःख के रूप में अनुभव नहीं कर पाते—

अब मैं केवल
प्रतीक्षा हूँ
कवचित कर्म हूँ
प्रतिश्रुत युद्ध हूँ
निर्णय हूँ सबका
सबके लिए
केवल अपने ही लिए
संभवतः नहीं।

राम के लिए यह युद्ध समूह-निर्णय का स्वीकार है और इसी कारण सम्पूर्ण कृति की प्रभावान्विति में उसके सामने व्यक्ति की प्रामाणिक शंका और पीड़ा के विसर्जन का स्वर उभर जाता है। कवि के लिए यही खतरे का बिन्दु था जहाँ मानवीय अनुभूति की प्रामाणिकता व्यक्ति-दुःख के भीतर से उपस्थित कर सकता था। इस दृष्टि से तृतीय सर्ग आलोच्य कृति को दृष्टिसम्पन्न एक सफल कवि की रचना बनने में जबर्दस्त बाधा उपस्थित करता है।

ऐसा नहीं कि कवि इस खतरे से परिचित नहीं। राम के माध्यम से बार-बार इस शंका और दुःख की प्रामाणिकता उभरती है, किन्तु सीता को जन का प्रतीक और इस दुःख को समूह-दुःख का प्रतीक बनाने का मोह उसकी सहज सृजनशीलता को अवरुद्ध कर देता है। यह बात कवि की सृजनशीलता की एक बहुत बड़ी कमजोरी प्रगट करती है पूर्व नियोजित

विचार और सर्जनशील व्यक्तित्व द्वारा उद्भूत होने वाली वास्तविकता म टकराहट पैदा होती है और कवि अपने सजनशील व्यक्तित्व के प्रति ईमानदारी नहीं बरत पाता   अन्त तक जाते जाते राम के माध्यम से वह व्यक्ति-दु:ख की प्रामाणिकता को बन्ध्या मान लेता है। साहित्य मे व्यक्ति और समाज की समस्या को (मानवीय समस्या के मुकाबले) उठाने में ऐसी परिणति की सम्भावना अधिक बढ़ जाती है।

राम युद्ध नहीं लड़ते बल्कि कुण्ठित मन से समूह-निर्णय के सामने अपनी उलझी शंका की प्रामाणिकता के प्रति संशयालु हो समर्पित हो जाते हैं। व्यक्ति-दु:ख को मानवीय दु:ख की व्यापकता और गहराई कब और किस दिशा में प्राप्त होती है, इसकी पहचान अधिक कठिन कवि-कर्म है जो गहरी अन्तर्दृष्टि, सघन वेदना और भयङ्कर सृजन-पीड़ा से ही सम्भव है।

कवि की महत्वाकांक्षा व्यक्ति और समूह के द्वन्द्व द्वारा आधुनिक सङ्कट-बोध को भावात्मक धरातल पर उपस्थित करना था। फलत: राम-कथा में उस स्थल को चुनने और नए ढंग से उसे उपस्थित करने के आरम्भ विन्दु पर तो वह सफल रहा है, किन्तु उसके निर्वाह मे पूर्वाग्रह के कारण सृजन-प्रक्रिया में अवरोध उपस्थित हो जाता है। इसीलिए शिल्प-सङ्गठन पर भी आघात लगता है और इस तरह यह कृति युग की प्रथम कोटि की रचना बनते-बनते रह जाती है।

तथापि
श्रीनरेश मेहता का कथा-संग्रह

प्रकाशक : हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर प्राइवेट लि०, बम्बई—४।
मूल्य : ३ रुपया

'तथापि' के लेखक ने अपनी इन कहानियों को 'प्रचलित कहानियों से भाव-भाषा सभी में भिन्न' स्वीकार किया है। महत्वाकांक्षी लेखक के लिए ऐसा विश्वास सहज है। वस्तुत: जब तक उसे इस बात का एहसास नहीं होगा, वह अपने लेखन से सन्तोष का अनुभव नहीं कर सकता। 'निवेदन' में लेखक का यह सन्तोष स्पष्ट झलकता है।

इस संग्रह की लगभग सभी कहानियों में एक 'प्रीतिकर दु:ख'—जिसे विवश होकर सहना 'अच्छा-अच्छा सा' लगे—की अभिव्यक्ति हुई है। इसी कारण इन कहानियो मे कवितानुमा भङ्गिमा प्रधान हो गई है। ८ कहानियों में से ६ कहानियाँ तो बिल्कुल गीत लगती हैं।

'चाँदनी' में बेकल प्रतीक्षा, 'निशाऽऽजी' में गौरा का सूनापन, 'दुर्गा' में विवशता, 'विष्यरक्षिता की डायरी' में आकुल अतृप्त देह-गन्ध और 'तथापि' में 'सेतुहीन समय के दोनो ओर' विपिन और पारुल की सिहरती   —इन सबका दु:ख ऐंठा रह जाता है और

सिवा सहते रहने के कोई और चारा नहीं। इस दु:ख की प्रामाणिकता में सन्देह नहीं, किन्तु वह दु:ख कोई व्यापक दृष्टि नहीं उपजाता। वह एक खण्ड सत्य होकर रह जाता है। यदि उसकी परिणति किसी प्रतीक में हो सकी होती तो शायद वह लाचार दु:ख मात्र न रह पाता। 'किसका बेटा ?' और 'वह मर्द थी' कहानियाँ बिल्कुल अलग हैं और सामान्य प्रभाव ही छोड़ पाती हैं।

ये कहानियाँ घटनारहित हैं, फलत: जिस दु:ख-संवेदना को लेखक उभारना चाहता है उसमें सूक्ष्म निरीक्षण, वातावरण-चित्रण की आनुपातिक चेतना और भाषा की साङ्केतिक-व्यञ्जना सहायक हो सकी हैं।

खासकर कवि जब कई विधाओं में लिखने लगता है तो इस खतरे की सम्भावना बढ़ जाती है कि वह अपनी काव्यात्मक अनुभूतियों को ही अन्य विधाओं में भी अभिव्यक्ति दे। किसी खास विधा में लिखना अनुभूति की अद्वितीयता की अनिवार्यता होती है जो अन्य विधाओं में पूरी तरह अभिव्यक्त ही नहीं हो सकती। इस बात का प्रमाण प्रस्तुत संग्रह में सरलता से पाया जा सकता है।

—(डॉ०) नित्यानन्द तिवारी
राजधानी कालेज
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

आधुनिक हिन्दी काव्य-शिल्प

मोहन अवस्थी का शोध-प्रबन्ध

प्रकाशक : हिन्दी परिषद् प्रकाशन,
हिन्दी विभाग, विश्वविद्यालय, प्रयाग
मूल्य : आठ रुपये
पृष्ठ संख्या : ३८०

प्रस्तुत ग्रन्थ इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल्० उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध है जिसमें १९०० से १९४० ई० तक की हिन्दी-कविता का प्राविधिक दृष्टि से अध्ययन किया गया है। पुस्तक आठ अध्यायों (काव्य-शिल्प, काव्य-विषय, काव्यरूप तथा नवीन उद्‌भावनाएँ प्रकृति-चित्रण छंद योजना रस अप्रस्तुत योजना, अलंकार और ध्वनि भाषा) में विभक्त है

प्रथम अध्याय में शिल्प की परिभाषा के साथ उसका तदासन्न शब्दों जैसे काव्य शिल्प काव्य विधि का य विधान तथा काव्य-कला से अन्तर दिखाते हुए उसके क्षेत्र का अनुशीलन किया गया है। काव्य-शिल्प-सम्बन्धी तत्त्वों का विवेचन होने के कारण यह अध्याय वास्तव में आलोच्य कृति का सैद्धान्तिक आधार है। कहीं-कहीं तो परिभाषाएँ बिल्कुल नवीन एव प्रचुर अर्थपूर्ण हैं। कविता की परिभाषा इस प्रकार दी गई है—"कविता…लय-भाव-बिम्बित मनोरम वाणी है" (पृ० ३३)। कविता की यह परिभाषा सभी सम्प्रदायों के मतों का समावेश करती हुई वर्तमान स्थिति में भी ग्रहणीय बन सकती है। शिल्प और कला का अन्तर स्पष्ट करते हुए लेखक कहता है—"कला जब व्यष्टिगत होती है तो उसे शिल्प कहने लगते हैं" (पृ० ७)। स्पष्टीकरण की नूतनता के विषय में दो मत नहीं हो सकते।

इस अध्याय के अन्तर्गत प्रासङ्गिक रूप से ध्वनि एवं रस के सिलसिले में भी कुछ महत्वपूर्ण कथन उपलब्ध होते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि ध्वनि और रस का सिद्धान्त-पक्ष बड़ा जटिल है, इसलिए उस दृष्टि से मात्र ५ पृष्ठों में उसका परिशीलन कुछ लोगों को खटकेगा। लेकिन इसको स्वीकार करना पड़ता है कि ध्वनि तथा रस की मूल समस्या लेखक की पकड़ में है और उसने आडम्बर-विहीन भाषा में उसे बहुत सरलता से स्पष्ट कर दिया है: "तथ्यतः ध्वनि और रस में किंचित् भेद है। यह भेद वस्तुगत न होकर स्तरगत है। ध्वनि समझने की चीज है, रस अनुभूति का विषय है।…पानी की भाप बनने से पूर्व की अवस्था तथा बाद की अवस्थाएँ सर्वथा भिन्न हैं; हाँ मूल रूप देखने पर पानी वही है। यह स्तर भेद है। यद्यपि यह बताना कठिन है कि यहाँ तक पानी पानी था और इसके बाद वह भाप हो गया, लेकिन हम अनुभव तो कर ही लेते हैं। बिल्कुल इसी प्रकार ध्वनि वहाँ तक है जहाँ तक समझी जाती है; लेकिन जब वह अनुभूति बन जाती है तो रस है" (पृष्ठ २७)। परन्तु इस स्थल पर लेखक ने शब्द-शक्तियों के सम्बन्ध में अधिक चिन्तन नहीं किया। कहना तो यह चाहिए कि विषय को चलता करके छोड़ दिया गया है। वस्तुतः शब्द-शक्तियों का भी सम्यक् विश्लेषण अपेक्षित था।

'काव्य-विषय' अध्याय में विषय-विवेचन पर्याप्त विस्तार से हुआ है। इन विषयों को विभिन्न परिदृश्यों में आँका गया है और समीक्षा सुन्दर भी बन पड़ी है, जैसे भक्ति-काल, रीति-काल तथा छायावाद युग की नारी की तुलना लेखक ने इन शब्दों में व्यक्त की है। "प्राचीन दो दृष्टिकोणों में इन्द्रियों की असंगति थी। एक ने नारी की ओर से इंद्रियों का पूर्णतः संकोच या दमन कर लिया था, दूसरे ने समस्त इंद्रियों को उसी ओर उच्छृंखल बना कर छोड़ दिया था। छायावाद ने इंद्रियों का न तो दमन किया, न उन्हें अतिक्रमण करने दिया; किन्तु उसने नारी को ही उठाकर इतनी दूर रख दिया कि इंद्रियाँ वहाँ तक पहुँच ही न सकीं" (पृष्ठ ४६)। "रीतिकालीन नारी वह दूकान थी, जिसमें कवि जवाहरात की भाँति अपनी कविता सजाकर रखता था; किन्तु आधुनिक काल की रमणी कविता की दूकान में रक्खी हुई अमूल्य जवाहरात है" (पृष्ठ ५०)। लेखक ने अध्याय के अन्त में इसका एकत्र सङ्केत कर दिया है कि इन विषयों ने हिन्दी-काव्य-शिल्प को किस रूप में प्रभावित किया। यद्यपि यत्र-तत्र (उदाहरणार्थ 'किसान', 'मजदूर', 'नारी' आदि के प्रसङ्ग में) इस दिशा में पृथक्

चिन्तन भी है परन्तु अच्छा होता यदि इसी प्रकार अन्य काव्य-विषयों के प्रभाव की विवेचना भी पृथक्-पृथक् ही की जाती।

छठा अध्याय 'रस निष्पत्ति में परिवर्तन' पर यथोचित विचार करता है। परन्तु करुण तथा हास्य के अतिरिक्त अन्य रसों-सम्बन्धी वर्णन शिथिल एवं सपाटे में किया गया है। फिर भी अध्याय का महत्व कम नहीं होता, क्योंकि आधुनिक परिवेश में रस-प्रक्रिया किस प्रकार बदल गई है इसे दिखाने में लेखक को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। तीसरे अध्याय का 'नवीन उद्भावनाएँ' अंश सराहनीय है।

शोध-प्रबंध के 'प्रकृति-चित्रण', 'छंद- योजना', 'अप्रस्तुत योजना-अलंकार और ध्वनि', तथा 'भाषा' नामक अध्याय अत्यन्त प्रौढ़ एवं परिपक्व हैं। 'प्रकृति-चित्रण' के अन्तर्गत लेखक ने प्रकृति के विभिन्न रूपों से सम्बन्धित सर्वथा नूतन प्रयोगों को खोजकर हमारे सामने रक्खा है। इस अध्याय से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रकृति-चित्रण की विभिन्न-शैलियों से सम्बन्धित बँधी-बँधाई आलोचना सरणियों की उपेक्षा कर शोधकर्ता को किस प्रकार आँखें खोलकर पर्यालोचना करना चाहिए। आलम्बन और उद्दीपन-रूप वर्णनों का सङ्कलन तो सभी आलोचना-ग्रन्थों मे मिल जायगा, लेकिन उन सभी से अलग इस शोध-प्रबन्ध के लेखक ने ऐसे उदाहरण ढूंढकर निकाले हैं "जिनमें उद्दीपन ही आलम्बन है और आलम्बन ही उद्दीपन" (द्रष्टव्य पृ० १३४)। इसी प्रकार उद्दीपन के भीतर भी वैविध्य के दर्शन कराए गए हैं। लेखक का वियोगावस्था-विषयक चिन्तन उल्लेखनीय है : "वियोगावस्था में प्रकृति मात्र दुख ही देती हो, ऐसी बात नहीं। प्रायः समझा जाता है कि प्रकृति को देखकर संयोग के दिनों में प्रेमी या प्रेमिका के साथ की गई प्रेम-लीलाओं की स्मृति हो आती है, जिससे हृदय में असह्य शूल उत्पन्न होता है। लेकिन स्मृति, कल्पना को क्रियमाण करके जब पृथक् हो जाती हैं, तो मनुष्य तनिक देर के लिए पूर्वानुभूत-लोक में भी पहुँच जाता है। उस समय उसके सामने वास्तविक-अवास्तविक एवं यथार्थ-स्वप्न का भेद मिट जाता है और वह सुखानुभव करने लगता है। किन्तु कल्पना का कार्य ज्यों ही बन्द हुआ, मनुष्य की वर्तमान-स्थिति उसे कष्ट देने लगती है; क्योंकि वह भूत और वर्तमान की अवस्था में अन्तर देखने लगता है। विरह-दशा का सुख, दुःख-नाटक का विष्कम्भक ही सही, किन्तु है आकर्षक एवं आह्लादकारी। यह सुख दो प्रकारों से प्राप्त होता है [१] प्रकृति-मध्य-स्थित प्रिय या प्रेयसी की प्रत्यक्ष स्मृति से [२] प्राकृतिक-व्यापार-साम्य के कारण कल्पना धारित अप्रत्यक्ष स्मृति से" (पृ० १३९-१४०)। कहना पड़ेगा कि इस वियोग-सुख की खोज लेखक के मनन-चिन्तन का परिणाम है। इस अध्याय के अन्त में की गई रङ्ग, गन्ध तथा ध्वनि-सम्बन्धी विवेचना इतनी सूक्ष्म है कि लेखक की पैनी दृष्टि की प्रशंसा बरबस करनी पड़ती है।

'छंद-योजना' अध्याय में छन्दों का विश्लेषण करके लेखक ने अपने पूर्ववर्ती कई अनुसन्धित्सुओं के निर्णयों से उत्पन्न भ्रमों को दूर कर दिया है। कई शोध-प्रबंधों में पं० नाथूराम शर्मा के 'भुजंगप्रयातमक मिलिंदपाद', 'त्रोटकात्मक मिलिंदपाद' आदि को दो छंदों का मिश्रण कहा गया है, लेकिन इस शोध-प्रबंध में डॉ० अवस्थी बहुत सरलता से बताते हैं कि 'मिलिंदपाद भी कोई नवीन छंद नहीं। वह तो षटपद का कवित्समय अनुवाद मात्र है।

इसे न समझकर लोगों ने ऐसे छंदों को दो छंदों का मिश्रण कह दिया है, जो ठीक नहीं है।"
इस सिलसिले में पृ० १९६ से पृ० २०० तक की समीक्षा काफी महत्वपूर्ण है। उर्दू तथा अंग्रेजी लय-प्रभावों पर भी गम्भीरता से विचार हुआ है। अतुकान्त छन्द, स्वच्छन्द छन्द एवं मुक्त छन्द के विश्लेषण से लेखक के छन्द सम्बन्धी ज्ञान तथा बारीक अन्तरों को परखने की सामर्थ्य का परिचय मिलता है।

अप्रस्तुत योजनादि की समीक्षा में भी लेखक की दृष्टि साफ़ दिखाई पड़ती है। उदाहरणार्थ रूपक और मेटाफर सम्बन्धी चिन्तन देखिए : "भारतीय काव्य-शास्त्र का रूपक और पाश्चात्य 'मेटाफ़र' एक वस्तु नहीं हैं। रूपक में भेद की स्थिति होने पर भी अभेद की कल्पना की जाती है, 'मेटाफ़र' में कल्पना एक नया चित्र सामने लाती है। 'मेटाफ़र' एक से दूसरे के गुण का स्पष्ट अन्तर्धान है" (पृ० २८५)। इसलिए लेखक ने मेटाफ़र को अनुरूपक नाम दिया है : "अनुरूपक में वस्तुतः सम्बन्ध-सादृश्य की महत्ता है। रूपक में सादृश्य-सम्बन्ध होता है..." (पृ० २८६)। समझाने के उद्देश्य से जहां किसी पंक्ति की व्याख्या की गई है वहाँ लेखक की अन्तर्दृष्टि और भी साफ़ है। यथा निराला की 'यमुना के प्रति' कविता की पंक्ति 'चल चरणों का व्याकुल पनघट' पर यह टिप्पणी देखिए—"चल चरणों का व्याकुल पनघट' में पनघट की रसिकता, उसकी व्याकुलता उसकी भक्ति-भावना सभी का अनूठा मेल है। वह यदि व्रजबालाओं के चल-चरणों के लिए व्याकुल था तो रसिकता, यदि नट-नागर के चल-चरणों के लिए विकल था तो भक्ति, और यदि चरणों द्वारा व्याकुल था, तो उसकी परेशानी प्रकट होती है। किन्तु इससे भी गूढ़ अर्थ की यह व्यंजना होती है कि वस्तुतः व्रजबालाएँ व्याकुल थीं। चल-चरणों में न केवल युवतियों की चंचलता छिपी है, वरन् कृष्ण की छेड़छाड़ भी झाँकती है, जिसके कारण उनके चरणों को चंचल होना पड़ता था। यहाँ विशेषण-विपर्यय लक्षण-लक्षणा द्वारा भावनाधिक्य की व्यंजना करता हुआ ज्योत्सनीय छेड़छाड़ पाठक के सामने उपस्थित कर रहा है" (पृ० २९०)। ध्वनि एवं अलङ्कार सम्बन्धी ऐसे कितने ही विवेचन इस ग्रन्थ में विद्यमान हैं।

'भाषा' अध्याय में विवेचना समग्रता से की गई है। आलोच्यकालीन भाषा के नवीन प्रयोग बहुत परिश्रम से खोजकर सामने रक्खे गए हैं। शब्दों के नवीन अर्थों की जाँच-परख के नमूने बहुत हैं। 'निराला' की भाषा पर प्रकाश डालने वाला एक विवेचन उदाहरणार्थ प्रस्तुत है—

फिर वर्ष सहस्र पथों से
आया हँसता मुख आया।

हँसता मुख प्रस्तुत-स्थिति का सूचक है, हँसमुख स्वभाव का परिचायक है। ऐसे अन्तरों की ओर 'निराला' ने ही अधिक ध्यान दिया है" (पृ० ३४५)।

शोध-प्रबन्ध को पढ़कर यह बात स्वतः सिद्ध हो जाती है कि लेखक ने हिन्दी की प्रसिद्ध पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित १९००-१९४० तक की सभी कविताओं का अध्ययन किया है और उन्हीं रचनाओं को प्राथमिकता दी है। क्योंकि जैसा कि भूमिका में उसने स्वयं कहा है 'कहीं-कहीं पत्रिका में प्रकाशित कविता की भाषा और संग्रह में संकलित उसी कविता

की भाषा में अंतर मिलता है । इस दृष्टि से किसी काल का काव्य शिल्प विकास देखने के लिए पत्र पत्रिकाएं विशेष महत्व रखती है। इस शोध-प्रबन्ध के लेखक ने इस तथ्य को गहराई से समझा और तदनुकूल कार्य किया है।

ग्रन्थ की भाषा परिमार्जित, प्रवाहपूर्ण एवं सुगठित है। डॉ० रामकुमार वर्मा के शब्दों में "डॉ० मोहन अवस्थी को भाषा पर असाधारण अधिकार है।" व्यञ्जनापूर्ण भाषा तथा सूत्रात्मक शैली के नमूने सभी जगह देखे जा सकते हैं। उदाहरणार्थः "संकेत निर्देश है, प्रतीक अभिदेश" (पृ० २९१); "उपमान एक प्राप्ति है और प्रतीक एक खोज" (पृ० २९५); "रस काव्य की आर्जवता है, वक्रता नहीं। वक्रता में चमत्कार है, चित्र नहीं" (पृ० २२१); "स्वच्छंद छंद कविता के मात्रिक ऊरुस्तम्भ का उपचार है।"; "मुक्त काव्य में भावलय है, गद्य में लयाभाव" (पृ० २१२); "जो प्रसाद (गुण) हमें गुप्तजी की रचनाओं में दृष्टिगत होता है, वह 'प्रसाद' में गुप्त-सा हो गया है" (पृ० ३५४)।

सन् १६०० से १६४० ई० तक का काल, कलात्मक दृष्टि से अपना विशेष महत्व रखता है। जैसा कि डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय का कथन है कि "ऐसे काल का विस्तृत एवं वैज्ञानिक अध्ययन होना आवश्यक था। यह कार्य साम्प्रदायिक आलोचना सरणियों की वैयक्तिक संकीर्णताओं से मुक्त एक दायित्वपूर्ण आलोचक द्वारा ही सम्भव था।" वास्तव में यह सन्तोष का विषय है कि डॉ० अवस्थी ने उस दायित्व को बहुत कुशलता से निबाहा है। शोध-प्रबन्ध पढ़कर यह भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है कि लेखक ने विषय को गहराई से हृदयंगम करके स्वतंत्र चिन्तन किया है।

—गोविन्दजी,
६८, रामबाग
इलाहाबाद

बुद्धकालीन
भारतीय भूगोल
भरतसिंह उपाध्याय
का शोध-प्रबंध

प्रकाशक : हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।
मूल्य : बारह रुपया।
प्रथम संस्करण : संवत् (शक) १८८३

उनसे सम्बद्ध ज्ञान-संस्थान क्रमशः ज्ञान के व्यवसायी या चार आने वाले नेता, व्यवसाय के ज्ञानी या संसद् सदस्य और दूकान या संसद्-भवन मात्र हैं। शोध या तो पद-चर्या है या प्राप्तुलभ्य यश-चर्या।

ऐसे व्यावसायिक या राजनयिक जगत् में जहाँ ज्ञान का भूसा उड़ रहा है, शुद्ध विवेक और जिज्ञासा का करण-दो करण सोना मिल जाना न कभी असम्भव रहा है, न है। डॉ० भरतसिंह उपाध्याय का 'बुद्धकालीन भारतीय भूगोल' उसी उड़ते हुए भूसे से, कदन्न से बिल्कुल अलग सोना है, उसका 'प्रभामय अभिषेक' हमें ज्ञान के एक नये लोक में प्रतिष्ठित करता है। डॉ० भरतसिंह उपाध्याय अपने स्वयं के अभिधान के अनुसार यदि 'ज्ञान-शूर' सिद्ध हो, तो अत्युक्ति भी नहीं होगी।

प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशक ने उचित ही कहा है कि 'इतिहास अथवा भूगोल तभी सम्पन्न और प्रमाणिक हो सकते हैं, जब वाङ्मय के आधार पर लिखे जायँ।' डॉ० उपाध्याय वस्तुतः पालि और बौद्धों के प्रायः सम्पूर्ण वाङ्मय के पाठक और चिन्तक हैं। उनमें शब्दों की तहों में जाकर इतिहास, संस्कृति और भूगोल को खोज निकालने की क्षमता है। वे अनुश्रुति, संज्ञा, विशेषण, सर्वनाम सभी का उपयोग तर्क के लिए, अनुमान के लिए, प्राक्कल्पना के लिए, निवृत्ति के लिए, नीरस को सरस बनाने के लिए करते हैं। वे अलङ्कारो के प्रयोगों के बीच से हाट-बाज़ार, गहने, नगर, गाँव तथा अन्य चीजों के ब्योरे और अते पते बता सकने में समर्थ हैं। शब्दों में सेंध लगाकर पूरे जानो-माल का पता लगाना, उसे लाकर सामने रखना बड़ा कठिन काम है जिसे डॉ० उपाध्याय बड़े मनोयोग और निष्ठा से करके दिखा सके हैं।

पूरी पुस्तक में शब्दों के मूल तक जाकर विद्वान् लेखक एक नया तथ्य उद्घाटित करता है, उपमाओं और रूपकों के भीतर कविता का बड़ी मार्मिकता से उल्लेख करते हुए एक नये भूगोल का दर्शन करता है, अपने अनुमान को पुष्ट करने के लिए या तथ्य को सत्य तक ले जाने के लिए अनुश्रुतियों का हवाला बड़े सुन्दर तरीके से पेश करता है; अन्तर्साक्ष्यों और बहिर्साक्ष्यों का सूक्ष्म से सूक्ष्म अवलोकन करते हुए छोटे-छोटे तथ्यों का इस तरह विवरण देता है जिससे बुद्धकालीन समय और देश की धड़कन साफ़ सुनी जा सके और यह सब परामनो-वैज्ञानिक या मनोदार्शनिक की स्वप्नान्त व्याख्याओं की तरह तर्काश्रित, प्रामाणिक अत: विश्वसनीय लगने की अंतिम परिणति की भाँति लग सकता है। पाठालोचक एक पुस्तक की प्रामाणिकता के लिए साहस, परिश्रम, साधन और विवेक का उपयोग करता है, किन्तु पुरातन भूगोल का सच्चा खाका पेश करने के लिए बहुत अधिक श्रम, साहस और विवेक की आवश्यकता पड़ती है, क्योंकि साधन जितने हों, अंततः पर्याप्त या पुष्कल नहीं होते या नहीं जान पड़ते।

इस पुस्तक के प्रारम्भ में बुद्धकालीन भारत का मानचित्र है केवल रेखाओं में बद्ध। पुस्तक उन रेखाओं के परिपार्श्व में निहित सुन्दर अतीत को उद्घाटित करती है। 'त्रिपिटक अट्ठकथाओं तथा अन्य आवश्यक ग्रन्थों के आधार पर यह उद्घाटन लेखक की संवेदना और वेदना से अधिक काव्योचित तथा तर्कपूर्ण हो उठा है लेखक के भारतीय भ्रह तथा उसकी

मध्यदेशीय प्रखर प्रतिभा ने देशी-विदेशी विद्वानों, गुरुओं, श्रद्धास्पदों, इतिहासवेत्ताओं और अनुसन्धायकों के मतों के खण्डन-मण्डन से अपने मत को जहाँ विद्युत्स्पर्श प्रदान किया है, वहीं अपनी ज्ञानाञ्जनशलाका के एकाध बार अंधकारमय होने के प्रति भी ईमानदारी बरती है। अकुण्ठित ज्ञान यदि वरेण्य है, तो निश्चय ही लेखक पाठक का श्रद्धेय है।

प्राय: शोध-ग्रंथों में अध्याय-विभाजन या तो तर्कपूर्ण नहीं होता या गड्डमड्ड होता है। इस अनवद्य ग्रन्थ-रत्न में अध्यायों की संख्या केवल पाँच है, जिनमें प्रथम अध्याय में स्रोतों और उनकी प्रामाणिकता तथा उनके भौगोलिक महत्त्व पर विचार किया गया है। पुस्तक के प्रारम्भ के रूप में यह अनिवार्य है। इससे पाठक को आगे के अध्यायों में आसानी होती है और वह पुस्तक के गृह-प्रवेश के लिए पूर्णतया प्रस्तुत हो जाता है। दूसरे अध्याय में जम्बुद्वीप के प्रादेशिक विभाग और प्राकृतिक भूगोल पर विवरणात्मक ढङ्ग से तर्क, व्याख्या और सन्दर्भ प्रस्तुत किये गये हैं। तीसरे अध्याय में बुद्धकालीन भारत के राजनीतिक भूगोल का सुविस्तृत और अत्यन्त सुन्दर विवरण प्रस्तुत किया गया है। चौथे अध्याय में मानव-भूगोल पर सम्यक् दृष्टिपात किया गया है जिसके अन्तर्गत जनसंख्या, पेशे आदि का पूरा ब्यौरा दिया हुआ है। पाँचवे अध्याय में आर्थिक और व्यापारिक भूगोल है जिसके अन्तर्गत शिल्प, उद्योग, व्यापार, जल-परिवहन, बन्दरगाह, आयात-निर्यात और मुद्रा-विनिमय इत्यादि पर व्याख्या प्रस्तुत की की गयी है।

पुस्तक के प्रारम्भ में मानचित्र के बाद प्रकाशकीय, प्राक्कथन और वस्तुकथा है। वस्तुकथा एक प्रकार से लेखक द्वारा पुस्तक के सिंहद्वार तक पहुँचाने के लिए प्रवर्तित पथ है। यह एक महत्वपूर्ण एवं ज्ञानसमृद्ध आलोक-पिण्ड है जिसका प्रारम्भ में होना अनिवार्य लगता है।

प्राय: हिन्दी पुस्तकों में अनुक्रमणिका या तो होती नहीं और यदि होती है तो बेकार-सी होती है। किन्तु प्रस्तुत पुस्तक के 'परिशिष्ट' खण्ड में 'भौगोलिक नामों की अनुक्रमणिका' और 'उद्धृत ग्रन्थों की सूची' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और उपयोगी है। मेरा वैमत्य केवल इतना ही है कि नामानुक्रमणिका के अंतर्गत 'वर्णों' का प्रकाशन (अ, आ, क, ख आदि) व्यर्थ है, केवल वहाँ अवकाश (पाज़) देना पर्याप्त और सही है।

चीनी यात्रियों के यात्रा-विवरणों और त्रिपिटकों, पालि-साहित्य आदि का सूक्ष्म उपयोग भी हो सकता था। उससे लेखक के महाज्ञान में कोई कमी नहीं आती। लेकिन लेखक ने उस वाङ्मय के बिखरे हुए मणिजाल से सुन्दर मणियाँ निकाली, उनका अलग से उपयोग किया, उससे ज्ञानात्मक सरसता उत्पन्न की, तो कोई बुरा नहीं किया, बल्कि उसे और ललित बनाकर औरों के लिए भी आकर्षक बना दिया। मुझे उपमाओं, अनुश्रुतियों आदि के काव्यमय उद्धरण देने से भले वञ्चित किया जाय, लेकिन 'फह्-के-लि-तु' नामक ग्रन्थ के चीनी रचयिता का एक वाक्य, जिसको लेखक ने उद्धृत किया है, उद्धृत करने से न रोका जाय। वाक्य है—'इस देश के निवासियों के मुख भी उसी शक्ल के हैं जिस शक्ल का उनका देश है।'

पुस्तक की भाषा व्याख्यापरक तर्कानुधाविनी तथा संवेदनक्षम है। संस्कृत शब्दों का उपयोग अत्यन्त सतर्कता से किया गया है, कहीं-कहीं उनके प्रयोग से हमारा बौद्ध-काल भी

उभरता है तथा संस्कृति की गहराई में उतरने में मदद मिलती है। संस्कृत शब्दों के धातुओं का प्रभाव कहीं-कहीं हिन्दी-क्रियाओं पर भी पड़ा है; उससे इसकी हिन्दी में अनोखापन आ गया है। लेकिन कभी-कभी आचार्यों वाली पुरानी हिन्दी की भी बरबस याद आती है। वाक्य-विन्यास पर भोजपुरी प्रभाव है, इसलिए कहीं-कहीं वैसी गलतियाँ हुई हैं, जैसी भोजपुरी-भाषी करते हैं। प्रस्तुत विद्वान् की यह कमी बहुत खलती है। एक मननशील के लिए यह स्थिति चिन्त्य है। लेखक ने जहाँ कहीं अनुवाद किया है, वहाँ भी उसकी भाषा अच्छी है, यानी वह अनुवाद नहीं लगती; अनुवादों का मूल फुटनोट में देकर लेखक ने और अच्छा किया है।

इतनी अच्छी पुस्तक की छपाई की प्रशंसा की जानी चाहिए। लेकिन उस प्रशंसा में थोड़ी अप्रशंसा जोड़ना जरूरी है, क्योंकि एक ही शब्द की एक ही पृष्ठ पर वर्तनी दो या तीन तरह की है। शब्द गलत या कभी-कभी भिन्न अर्थ देने वाले कम्पोज हो गये हैं। भारतीय मुद्रण का सुधार जब तक नहीं होगा, तब तक किसी भी पुस्तक का प्रकाशन दोषरहित या निष्कलंक सम्भव न हो सकेगा।

क्या ही अच्छा होता इस पुस्तक का सस्ता संस्करण भी निकलता या इतना दाम न होता। पुस्तक निश्चय ही प्रत्येक के लिए प्रत्येक दृष्टि से पठनीय है।

प्रबोध-नाटक
सोमनाथ गुप्त सम्पादित
जसवंतसिंह का नाट्य-ग्रन्थ

प्रकाशक : भारत प्रिन्टर्स, जयपुर।
प्रथम संस्करण : सन् १९६२
मूल्य : २ रुपया मात्र

पुरानी पोथियों का सम्पादन बड़ा कठिन कार्य है। इसके लिए साहस से अधिक विवेक की आवश्यकता है। और विवेक के लिए भी पाठालोचन के नियमों भी जरूरत है। पाठालोचन के नियम वैज्ञानिक कम हैं; वे पुरानी पोथियों के सही सम्पादन की मान्यता और पाठालोचक के गुरु-गम्भीर व्यक्तित्व पर आश्रित है। पाठालोचन बहुत स्पष्ट या अनुकूल कला या विज्ञान नहीं बन पाया है और इसके द्वारा निकाले गए निष्कर्ष भी बिल्कुल प्रामाणिक नहीं कहे जा सकते हैं। वस्तुतः वह अनिवार्य होते हुए भी शंका की स्थिति बनाये रखने में ही समर्थ है। यहाँ उदाहरण देने की कतई आवश्यकता नहीं है, किन्तु इतना कह पाना बिल्कुल सम्भव है कि पाठालोचन के नियमों के आधार पर सम्पादन यदि सम्भव है तो वह या तो कम विश्वसनीय है या शंकास्पद है

पाठालोचन के नियम चूँकि विकसित होते रहते हैं, इसलिए भविष्य में ही सम्पादन की उचित स्थिति सम्भव हो सकती है। फिर भी काल-गति के साथ-साथ मानव-रुचि के कार्य चूँकि नहीं रुकते, इसलिए इस प्रकार का सम्पादन होना कोई अनुचित नहीं है। क्योंकि इस प्रकार के सम्पादन से अंततः पाठालोचन का क्षेत्र-विस्तार, उसके नियमों की खोज आदि सम्भव है। अगति हमेशा बुरी होती है, इसलिए गति का महत्व सर्वत्र है।

डॉ० माताप्रसाद गुप्त का नाम हिंदी क्षेत्र में पाठालोचक के रूप में अग्रगण्य है। डॉ० सोमनाथ गुप्त का नाम इस दिशा में नया है। समीक्ष्य पुस्तक 'प्रबोध-नाटक' जिसकी एक प्रति के आधार पर सम्पादन किया गया है, साहसिक कार्य है। मेरी दृष्टि में कई कालों की प्रतियाँ प्राप्त होने पर ही रचना का स्वरूप निर्धारण अधिक उचित और संगत होता है। लेकिन प्रस्तुत पुस्तक के सम्पादक को केवल एक या डेढ़ प्रतियाँ ही मिल सकीं, इसलिए वह अपनी मेधा मात्र के उपयोग पर आश्रित हुआ।

समीक्ष्य पुस्तक का प्रारम्भ 'प्राक्कथन' से होता है। 'प्राक्कथन' के अंतर्गत नाटक और नाटक-साहित्य पर एक टिप्पणी है जिसके अन्तर्गत आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के भ्रमों से लेकर संपादक के प्रमाद तक का उल्लेख किया गया है। प्रस्तुत नाटक को कोई पद्य-रचना, कोई गद्य-पद्यमयी रचना मानने की भूल करता रहा है। इसका मुख्या कारण कृष्ण मिश्र के नाटक 'प्रबोध-चन्द्रोदय' के भावानुवादक राजा जसवंतसिंह जी हैं। उन्होंने नाटक की रक्षा न करते हुए केवल मूल विषय को मुख्यता देनी चाही थी। वे अपनी गद्य-पद्य शैली में, इसलिए उसका भावानुवाद करके चुप लगा गये। ऐसी स्थिति में इस प्रकार का भ्रम स्वाभाविक था शोधकों के लिए।

'प्राक्कथन' के बाद सम्पादक ने लेखक जसवन्तसिंह का पूर्ण परिचय और फिर नाटक के प्रस्तुत अनुवाद का परिचय दिया है। नाटक के रचना-काल, उसकी कथा-वस्तु, लोकप्रियता, प्रतीक, प्रतीकवाद, प्रतीक और चिह्न, प्रतीक और सादृश्य आदि पर विचार किया है। इनमें प्रतीक, प्रतीकवाद, प्रतीत और चिह्न, सादृश्य आदि पर किये गये विचार बहुत कम महत्व के हैं और वे अत्यन्त साधारण दृष्टि के परिणाम हैं। एक साधारण शोधकर्ता के लिए भी उनका खास महत्व नहीं है। यही स्थिति तब उपस्थित होती है, जब वे प्रतीकात्मक नाटकों पर विचार करते-करते 'मादा कैक्टस' तक को लपेट लेते हैं। ये साधारण विचार पुस्तक के सम्पादन जैसे भारी कार्य को भी प्रभावित कर सकते हैं, इसमें सन्देह नहीं।

इसके बाद सम्पादक महोदय ने मूल नाटक और रूपान्तर के भेदों की ओर क्रमशः इशारा किया है। ये इशारे काफ़ी महत्वपूर्ण हैं। सम्पादन करते समय सम्पादक को इनकी खूब जरूरत पड़ी होगी और पाठक के लिए भी वे उतने ही जरूरी हैं। इन भेदों से रूपान्तरकार के स्वातन्त्र्य, रचना-प्रियता, प्रमाद आदि का भी पता चलता है और रीतिकालीन शैली में संस्कृत शैली के न मिल पाने का भी रहस्य उद्घाटित हो जाता है।

इसके बाद सम्पादित नाटक है और फिर रूपान्तर। रूपान्तर का स्वरूप अनाटकीय, बिखरा हुआ लेकिन क है उसमें राजा जसवन्तसिंह की शैली के दर्शन होते हैं या कहें कि रीतिकाल की एक विशेष शैली का स्वरूप स्पष्ट होता है सम्पादित रूप से

भिन्न साहित्य नाटकीयता से ओतप्रोत और कल्पापूर्ण है उसमें खड़ीबोली के भी प्रयोग किया गया है। खड़ीबोली का प्रयोग उसे किस युग को ... सिद्ध करेगा ? शायद वर्तमान को। तब शायद यह सम्पादन तो होगा किन्तु इसका महत्व पाठालोचन की दृष्टि से न आँक कर किसी भिन्न रूप से ही आँका जायगा। मैं नहीं समझता कि यह सम्पादन किस प्रकार से या किस प्रकार का है। मेरी दृष्टि में यदि डॉ० सोमनाथ ने केवल नाटक को नाटक के रूप में प्रस्तुत करने को सम्पादन माना है, तो निश्चय ही यह रूपान्तर का नाट्यान्तर अच्छा है। क्या इससे इतिहास को मदद दी जायगी कि अरे भाई, यह कृति नाटक है। नाटक न होता तो डॉ० सोमनाथ गुप्त नाट्यान्तर क्यों करने बैठते ? क्या ही अच्छा होता कि डॉ० सोमनाथ कोई ब्रजभाषा का ऐसा रूपान्तर पेश कर पाते जो वस्तुतः नाटक ही होता या स्वयं राजा जसवन्तसिंह की कोई ऐसी रूपान्तर-प्रतिलिपि दिखा पाते जो सम्पादन के निकट पड़ती। फिर भी उनका यह कार्य उनकी योग्यता के अनुरूप तो कहा ही जायगा। चाहे उसे सम्पादन की पूर्णता न प्रदान की गयी हो।

डॉ० सोमनाथ गुप्त की भाषा बहुत साधारण है। अपनी भाषा के बल पर, ऐसा लगता है, वे विषय को विषय के अनुरूप न प्रस्तुत करके लद्धड़ ढंग से पेश करते हैं। उस भाषा में तर्काश्रित ओज बिल्कुल नहीं है, जो 'प्राक्कथन' में कम से कम बहुत जरूरी था। एक अनुसन्धायक के लिए इस प्रकार की भाषा आवश्यक होती है। भाषा का प्रवाह लड़खड़ाता या खड़खड़ाता चलता है। यह अवश्य है कि भाषा व्याकरणसम्मत है। किन्तु व्याकरणसम्मत ही सब कुछ नहीं होता। भाषा के लिए, यदि वह व्याख्या के लिए या परिचय के लिए प्रयुक्त हुई है—तर्काश्रय, संक्षिप्ति एवं सूत्रात्मकता जरूरी होती है। या फिर लम्बे वाक्य जो बहुत कुछ विश्लेषण के लिए जरूरी होते हैं, होने चाहिए। खेद है कि इस पुस्तक में सम्पादक ने ऐसा कुछ भी नहीं किया है। लेखक का परिचय भी बहुत साधारण है। इसका कारण यह नहीं कि उससे ज्यादा परिचय आवश्यक था, बल्कि लद्धड़ भाषा के प्रयोग के कारण ही वह साधारण प्रतीत होता है।

लेकिन प्रसन्नता की बात है कि सम्पादन में लेखक ने जहाँ खड़ीबोली का प्रयोग किया है, वहाँ उसकी भाषा सतही नहीं लगती। सम्यक्, संक्षिप्त और इसीलिए पुष्ट लगती है। फिर जसवन्तसिंह की ब्रजभाषा भी और चमक-दमक के साथ उपस्थित हो सकी है।

तो भी प्रकाशन बहुत अच्छा नहीं कहा जा सकता। जगह-जगह प्रूफ की भूलें हैं जो बेहद खटकती हैं। पता नहीं, नाटक के सम्पादित रूप और रूपान्तर में कितना भेद है, यह कैसे पता चल सकता है, जब तक प्रकाशन ठीक-ठीक, सही-सही न हो। अगले संस्करण में इस पर ध्यान देना बहुत जरूरी है।

श्रीराम वर्मा,
द्वारा 'माध्यम'
हिन्दी साहित्य सम्मेलन

खोये फूल
शिवनाथ काटजू का कथा-संग्रह

प्रकाशक : मार्कण्डेय काटजू
२५, एडमांस्टन रोड, इलाहाबाद।
संस्करण : सन् १९६७
मूल्य : २ रुपया

पंडित शिवनाथ काटजू के पिछले ३९ वर्षों के साहित्य-प्रेम का प्रमाण प्रस्तुत करने वाली यह पुस्तक वास्तव में पठनीय और रोचक है। भाव और शैली का सौष्ठव बाद की रचनाओं में स्पष्ट उभर कर सामने आता है। उनका अपने कुत्ते बाबर से सम्बन्धित संस्मरण 'एक प्रिय साथी', अत्यंत मार्मिक एवं हृदयग्राही रचना है। उच्च-न्यायालय में न्यायाधीश के रूप में कार्य करते हुए श्री काटजू ने इन संस्मरणों के लिखने और फिर उन्हें पुस्तकाकार प्रकाशनार्थ संगृहीत और संपादित करने के लिए अपने अवकाश का उपयोग किया, इसके लिए और इतनी सुपाठ्य पुस्तक की रचना करने के लिए वे साधुवाद के अधिकारी हैं।

—बालकृष्ण राव

'हिन्दुस्तानी' मे समीक्षार्थ प्राप्त पुस्तकें

१. भोरकण्ठ—श्री सत्यपाल चुघ
२. अज्ञेय के उपन्यासों की शिल्पविधि—श्री सत्यपाल चुघ
३. विस्मृति के भय से— श्री तनसुखराम गुप्त
४. नन्ददास : जीवनी और काव्य—डॉ० भवानीदत्त उप्रेती

- 'हिन्दुस्तानी' में प्रकाशित समीक्षा का एक अपना महत्त्व होता है। प्रकाशक बन्धुओं से समीक्षार्थ पुस्तकें आमंत्रित हैं।
- 'हिन्दुस्तानी' में समीक्षार्थ पुस्तक की दो प्रतियाँ भेजनी आवश्यक हैं।

हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद

के कतिपय

महत्वपूर्ण नवप्रकाशन

● भारतीय स्वातंत्र्य आन्दोलन और हिन्दी साहित्य

डॉ० कीर्तिलता

मूल्य १५'०० रुपया

भारतीय स्वातंत्र्य आन्दोलन के सन्दर्भ में तत्कालीन हिन्दी साहित्य का ऐतिहासिक और वैज्ञानिक मूल्यांकन। प्रयाग विश्वविद्यालय द्वारा डी० फिल्० की उपाधि के लिए स्वीकृत प्रबंध।

● मध्ययुगीन हिन्दी कृष्णभक्ति-धारा और चैतन्य सम्प्रदाय

डॉ० मीरा श्रीवास्तव

मध्ययुगीन हिन्दी कृष्णभक्ति-धारा के विभिन्न स्वरूपों और उन पर चैतन्य सम्प्रदाय के व्यापक प्रभाव का अत्यन्त गवेषणापूर्ण अनुशीलन। प्रयाग विश्वविद्यालय द्वारा डी० फिल्० की उपाधि के लिए स्वीकृत प्रबंध।

● हिन्दी में अंग्रेजी के आगत शब्दों का भाषातात्विक अध्ययन

डॉ० कैलाशचन्द्र भाटिया

हिन्दी में व्यवहृत अंग्रेजी शब्दों के रूप-परिवर्तन, ध्वनि-परिवर्तन, प्रयोग आदि का भाषावैज्ञानिक अध्ययन। आगरा विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबंध।

● सरोज सर्वेक्षण

डॉ० किशोरीलाल गुप्त

मूल्य २५'०० रुपया

हिन्दी साहित्य के प्रथम इतिहास ग्रंथ 'शिवसिंह सरोज' का वैज्ञानिक एवं ऐतिहासिक दृष्टिकोण से परीक्षण तथा अनुशीलन। आगरा विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच० डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत प्रबंध।

● समाज और राज्य : भारतीय विचार

डॉ० सुरेन्द्र मीतल

मूल्य १५'०० रुपया

प्राचीन ग्रंथों के आधार पर समाज और राज्य के पारस्परिक सम्बन्धों और गतिविधियों का सांस्कृतिक विश्लेषण प्रस्तुत करने वाली गम्भीर पुस्तक। प्रयाग [illegible]
द्वारा डी० फिल० के लिए स्वीकृत प्रबंध

हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद

के

कुछ महत्वपूर्ण प्रकाशन

प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन
डॉ० उदयनारायण राय

सन्त-साहित्य की लौकिक पृष्ठभूमि
डॉ० ओमप्रकाश शर्मा

पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धांत
श्री लीलाधर गुप्त

खड़ीबोली का लोकसाहित्य
डॉ० सत्या गुप्त

मध्यकालीन भारतीय संस्कृति
डॉ० गौरीशंकर हीराचंद ओझा

भारतवर्ष का सामाजिक इतिहास
डॉ० विमलचन्द्र पाण्डेय

ग्रह-नक्षत्र
डॉ० सम्पूर्णानन्द

मथुरा जिले की बोली
डॉ० चन्द्रभान रावत

मध्यकालीन हिन्दी संत : विचार और साधना
डॉ० केशनीप्रसाद चौरसिया

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' : व्यक्ति एवं काव्य
डॉ० लक्ष्मीनारायण दुबे

सूरसागर-शब्दावली
डॉ० निर्मला सक्सेना

मार्कण्डेय पुराण : एक सांस्कृतिक अध्ययन
डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल

हिन्दी कृष्णभक्ति काव्य पर पुराणों का प्रभाव
डॉ० शशि अग्रवाल

कृषक जीवन सम्बन्धी ब्रजभाषा शब्दावली
डॉ० अम्बा प्रसाद 'सुमन'

- एकेडेमी द्वारा प्रकाशित पुस्तकों की जानकारी के लिए विस्तृत सूचीपत्र निःशुल्क मँगावें।
- पुस्तक विक्रेताओं को विशेष सुविधा। नियमावली के लिये लिखें